पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: १२ :

सम्पादक
प० दलसुख मालवणिया
डॉ० मोहनलाल मेहता

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग ४

कर्म-साहित्य व आगमिक प्रकरण

लेखक
डॉ० मोहनलाल मेहता
व
प्रो० हीरालाल र० कापडिया

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मान्यता प्राप्त)
आई० टी० आई० रोड, करौदी, वाराणसी-५
फोन : ३११४६२

•

प्रकाशन-वर्ष :
प्रथम संस्करण सन् १९६८
द्वितीय सस्करण सन् १९९१

•

मूल्य : ८० रुपए

•

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का यह चतुर्थ भाग है। इस दिशा मे हम आधा मार्ग तय कर चुके है। हमारा शेष श्रम और भार हल्का हो गया अनुभव हो सकता है। प्रस्तुत भाग के विद्वान् लेखकों के प्रति प्रकाशक आभार व्यक्त करते है। उन्होने उचित परिश्रम से जैन साधारण और विशेष पर महान् उपकार किया है। जैन वाङ्मय के अध्ययन की एक दिशा को सुगम एव सरल बनाया है।

इस भाग के विषयो मे जैन दर्शन का परम अग 'कर्मवाद' भी है। लेखको ने इस ग्रन्थ के प्रारभ मे ही उसके सबध में विवरण दिया है। गुरु नानकजी[1] ने अपने अतुलनीय शब्दो मे इसी भाव को "करनी आपो आपनी, क्या नेडे क्या दूर" से उसके प्रथम पाद को कि "चगयायियाँ बुरयायियाँ वाचे धरम हुदूर" की स्पष्टता की है। लेखको ने 'कर्मवाद' के पाँच सिद्धान्त इस प्रकार लिखे हैं :—

१ प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल जरूर होता है। दूसरे शब्दो में कोई भी क्रिया निष्फल नही होती।

२. यदि किसी क्रिया का फल प्राणी के वर्तमान जीवन में नही मिलता तो उसके लिए भविष्य में जीवन धारण करना अनिवार्य है।

(यह तर्क सगत है। प्राणी का जीवन पौद्गलिक (भौतिक) शरीर के साधन से ही व्यतीत होता है। पुद्गल ही 'जीव' का अनादि काल से साथी है और उसके भवान्तर का कारण है।)

३. कर्म का करनेवाला और भोगनेवाला स्वतन्त्र आत्मतत्त्व एक भव से दूसरे भव मे गमन करता रहता है। किसी न किसी भव के माध्यम से ही वह

---

१ पवन गुरु पानी पिता माता धरत महत।
दिवस रात दोरा दाई दाया खेले सगल[1] जगत॥
चगयायियाँ[2] बुरयायियाँ[3] वाचे[4] धरम हुदूर[5]।
करनी आपो आपनी क्या नेडे[6] क्या दूर[7]॥
जिनही नाम ध्याया गए मुसक्कत[8] घाल[9]।
नानक ते मुख उजले कीती छुट्टी[10] नाल॥

१ सकल। २ अच्छाइयाँ। ३ बुराइयाँ। ४ देख रहा है। ५ दूर से या अलग से। ६. समीपस्थ हो। ७ या दूर हो। ८ कष्ट। ९ नष्ट कर गए। १०. उनके मुख उजले तो [illegible]

एक निश्चित कालमर्यादा में रहता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मो का बन्धन करता है। कर्मों की इस भोग-बन्धन की परम्परा को तोडना भी उसकी शक्ति से बाहर नही है।

(कोई एक पौद्गलिक अवस्था, जिसमे नरक भी है, सदैव अनन्त अग्नि में जलने, दाँत पीसने या रोते रहने की अवस्था नही है।)

४. जन्मजात व्यक्तिभेद कर्मजन्य है। व्यक्ति के व्यवहार तथा सुख-दुख मे जो असामञ्जस्य या असमानता नजर आती है वह कर्मजन्य ही है।

५ कर्मबन्ध तथा कर्मभोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वय है। इसके अलावा जितने भी हेतु नजर आते हैं, वे सब सहकारी अथवा निमित्तभूत है।

विश्व षड्द्रव्यो से प्रणीत है। ये द्रव्य अनादि-अनन्त सदैव और स्वयमेव विद्यमान है। उनमे से एक द्रव्य 'अजीव' है। वह प्राय. वही है जिसे वर्तमान मे विज्ञान 'मेटर' कहता है। 'जीव' के प्राणतत्त्व के विपरीत यह अप्राणतत्त्व है जो अस्थिर और अनन्त परिवर्तन स्वभावी है। जैन विचारानुसार 'अजीव' तत्त्व प्राणी के शरीर मे 'जीव' तत्त्व के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध में तो है ही, साथ ही उसके अनुसार सोचने से, बोलने से या क्रियाशील होने से प्रतिक्षण उस 'अजीव' द्रव्य के सूक्ष्म परमाणुओ को प्राणी आकर्षित करता रहता है। इसके मूल में प्राणी के चिन्तन, वाणी और क्रिया की तीव्रता भी कारण बनती रहती है। कर्म को कार्य करने के लिए बाहरी शक्ति की जरूरत नही है। वह स्वयमेव क्रियाशील है। क्रोध, मान, माया और लोभ जो लीला रचते है उसका अलग प्रकरण है।

यह विषय बडा गम्भीर है। जैन दार्शनिको ने इस पर उतने ही विस्तार से आध्यात्मिक एव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है।

इस ग्रन्थ का दूसरा हिस्सा आगमिक प्रकरणो से सम्बन्धित है। इसका एक प्रकरण योग और अध्यात्मविषयक है।

हर एक प्रकरण मे विद्वान् लेखको ने ज्ञात साहित्य का विस्तृत परिचय दिया है। खोज के मार्ग मे यह परिचय बहुत उपयोगी होगा।

इस ग्रन्थ को विद्वज्जगत् और जनता के अध्ययनार्थ प्रस्तुत करके अति संतोष का अनुभव करते है।

रूपमहल
फरीदाबाद
३०. १२. ६८

हरजसराय जैन
मन्त्री,
श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
अमृतसर

प्राक्कथन

यह जैन साहित्य के बृहद् इतिहास का चतुर्थ भाग है। इसे पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसके पूर्व प्रकाशित तीन भागों का विद्वानों व सामान्य पाठकों ने हार्दिक स्वागत किया। प्रस्तुत भाग भी विद्वानों व अन्य पाठकों को इसी तरह पसन्द आएगा, ऐसा विश्वास है।

पूर्व प्रकाशित तीनों भाग आगम-साहित्य से सम्बन्धित थे। प्रस्तुत भाग का सम्बन्ध आगमिक प्रकरणों एवं कर्म-साहित्य से है। जैन साहित्य के इस विभाग में सैकड़ों ग्रन्थों का समावेश होता है। कर्म-साहित्य से सम्बन्धित पृष्ठ मेरे लिखे हुए हैं तथा आगमिक प्रकरणों का परिचय जैन साहित्य के विशिष्ट विद्वान् प्रो० हीरालाल र० कापड़िया ने गुजराती में लिखा जिसका हिन्दी अनुवाद प्रो० शान्तिलाल म० वोरा ने किया है। मैं इन दोनों विद्वानों का आभारी हूँ।

प्रस्तुत भाग के सम्पादन में भी पूज्य पं० दलसुखभाई का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। ग्रन्थ के मुद्रण के लिए सन्मति प्रेस का तथा प्रूफ-संशोधन आदि के लिए संस्थान के शोध-सहायक पं० कपिलदेव गिरि का आभार मानता हूँ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी—५
२४-१२-६८

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

प्रकाशकीय

द्वितीय संस्करण

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत आगमिक प्रकरणों व कर्मसाहित्य के परिचयात्मक विवरण पर आधारित चतुर्थ खण्ड का प्रथम संस्करण सन् १९६८ मे प्रकाशित हुआ था। विगत वर्ष से उसकी प्रतियाँ विक्रय हेतु उपलब्ध नही थी। इसकी उपयोगिता एव इसकी माँग को दृष्टि मे रखकर हमने इसका दूसरा सस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया। इसमे प्रथम सस्करण की सामग्री ही यथावत रूप मे रखी गई है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की उपयुक्त व्यवस्था सस्थान के निदेशक प्रो० सागरमल जैन ने की अत सर्वप्रथम मैं उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। प्रूफ सशोधन का कार्य सस्थान के शोधाधिकारी डॉ० अशोक कुमार सिह सहशोधाधिकारी डॉ० शिव प्रसाद, श्री दीनानाथ शर्मा, एव शोध सहायक डॉ० इन्द्रेशचन्द्र सिह ने सम्पन्न किया, इस सहयोग के लिए हम उनके आभारी है।

अन्त मे इस ग्रन्थ के सुन्दर एव शीघ्र छपाई हेतु मे वर्धमान मुद्रणालय वाराणसी के सचालको के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मन्त्री
भूपेन्द्रनाथ जैन

आगमिक प्रकरण

●

प्रथम प्रकरण

कर्मवाद

भारतीय तत्त्वचिन्तन मे कर्मवाद का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाको के अतिरिक्त भारत के सभी श्रेणियो के विचारक कर्मवाद के प्रभाव से प्रभावित रहे है। भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान आदि पर कर्मवाद का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सुख-दु ख एवं मानसिक वैविध्य का कारण ढूंढते हुए भारतीय विचारको ने कर्म के अद्भुत सिद्धान्त का अन्वेषण किया है। भारत के जनसाधारण की यह सामान्य धारणा रही है कि प्राणियो को प्राप्त होने वाला सुख अथवा दु ख स्वकृत कर्मफल के अतिरिक्त और कुछ नही है। जीव अनादि काल से कर्मवश हो विविध भवो में भ्रमण कर रहा है। जन्म एवं मृत्यु की जड कर्म है। जन्म और मरण ही सबसे बडा दु ख है। जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मो के साथ परभव में जाता है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पडता है। 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' का तात्पर्यार्थ यही है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नही होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसम्बद्ध होता है, परसम्बद्ध नही। कर्मवाद की स्थापना में यद्यपि भारत की सभी दार्शनिक एव नैतिक शाखाओ ने अपना योगदान दिया है फिर भी जैन परम्परा में इसका जो सुविकसित रूप दृष्टिगोचर होता है वह अन्यत्र अनुपलब्ध है। जैन आचार्यो ने जिस ढग से कर्मवाद का सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध एवं सर्वांगपूर्ण निरूपण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नही, अप्राप्य है। कर्मवाद जैन विचारधारा एव आचारपरम्परा का एक अविच्छेद्य अग हो गया है। जैन दर्शन एव जैन आचार की समस्त महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ व धारणाएँ कर्मवाद पर अवलम्बित है।[१]

कर्मवाद के आधारभूत सिद्धान्त ये है

---

१. कर्मवाद का मूल सम्भवत जैन-परम्परा मे है। कर्मवाद की उत्पत्ति के ऐतिहासिक विवेचन के लिए देखिए—प० दलसुख मालवणिया आत्म-मीमासा, पृ० ७९–८६

१ प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल अवश्य होता है। दूसरे शब्दो में कोई भी क्रिया निष्फल नही होती। इस सिद्धान्त को कार्य-कारणभाव अथवा कर्म-फलभाव कहते है।

२ यदि किसी क्रिया का फल प्राणी के वर्तमान जीवन मे प्राप्त नही होता तो उसके लिए भविष्यकालीन जीवन अनिवार्य है।

३ कर्म का कर्ता एव भोक्ता स्वतन्त्र आत्मतत्त्व निरन्तर एक भव से दूसरे भव मे गमन करता रहता है। किसी न किसी भव के माध्यम से ही वह एक निश्चित कालमर्यादा मे रहता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मों का बन्धन करता है। कर्मों की इस परम्परा को तोडना भी उसकी शक्ति के बाहर नही है।

४ जन्मजात व्यक्तिभेद कर्मजन्य है। व्यक्ति के व्यवहार तथा सुख-दु ख मे जो असामञ्जस्य अथवा असमानता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मजन्य ही है।

५ कर्मबन्ध तथा कर्मभोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वयं है। तदतिरिक्त जितने भी हेतु दृष्टिगोचर होते है वे सब सहकारी अथवा निमित्तभूत हैं।

कर्मवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य :

प्राणी अनादिकाल से कर्मपरम्परा मे उलझा हुआ है। पुराने कर्मो का भोग एव नये कर्मों का बन्धन अनादि काल से चला आ रहा है। प्राणी अपने कृतकर्मों को भोगता जाता है तथा नवीन कर्मों का उपार्जन करता जाता है। इतना होते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि प्राणी सर्वथा कर्माधीन है अर्थात् वह कर्मबन्धन को नही रोक सकता। यदि प्राणी का प्रत्येक कार्य कर्माधीन ही माना जाएगा तो वह अपनी आत्मशक्ति का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कैसे कर सकेगा। दूसरे शब्दो मे प्राणी को सर्वथा कर्माधीन मानने पर इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नही रह जाता। प्रत्येक क्रिया को कर्ममूलक मानने पर प्राणी का न अपने पर कोई अधिकार रह जाता है, न दूसरो पर। ऐसी दशा मे उसकी समस्त क्रियाएँ स्वचालित यन्त्र की भाँति स्वत सचालित होती रहेंगी। प्राणी के पुराने कर्म स्वत अपना फल देते रहेंगे एव उसकी तत्कालीन निश्चित कर्माधीन परिस्थिति के अनुसार नये कर्म बँधते रहेगे जो समयानुसार भविष्य मे अपना फल प्रदान करते हुए कर्मपरम्परा को स्वचालित यन्त्र की भाँति बराबर आगे बढाते रहेगे। परिणामत कर्मवाद नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद[1] में परिणत

१ Determinism or Necessitarianism

हो जाएगा तथा इच्छा-स्वातन्त्र्य अथवा स्वतन्त्रतावाद[1] का प्राणी के जीवन मे कोई स्थान न रहेगा।

कर्मवाद को नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद नही कह सकते। कर्मवाद का यह तात्पर्य नही कि इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नही। कर्मवाद यह नही मानता कि प्राणी जिस प्रकार कर्म का फल भोगने मे परतन्त्र है उसी प्रकार कर्म का उपार्जन करने मे भी परतन्त्र है। कर्मवाद की मान्यता के अनुसार प्राणी को अपने किये हुए कर्म का फल किसी न किसी रूप मे अवश्य भोगना पडता है किन्तु नवीन कर्म का उपार्जन करने मे वह किसी सीमा तक स्वतन्त्र है। कृतकर्म का भोग किये बिना मुक्ति नही हो सकती, यह सत्य है किन्तु यह अनिवार्य नही कि प्राणी अमुक समय मे अमुक कर्म ही उपार्जित करे। आन्तरिक शक्ति एव बाह्य परिस्थिति को दृष्टि मे रखते हुए प्राणी नये कर्मों का उपार्जन रोक सकता है। इतना ही नही, वह अमुक सीमा तक पूर्वकृत कर्मों को शीघ्र या देर से भी भोग सकता है अथवा उनमें पारस्परिक परिवर्तन भी हो सकता है। इस प्रकार कर्मवाद मे सीमित इच्छा-स्वातन्त्र्य का स्थान अवश्य है, यह मानना पडता है। इच्छा-स्वातन्त्र्य का अर्थ कोई यह करे कि 'जो चाहे सो करे' तो कर्मवाद मे वैसे स्वातन्त्र्य का कोई स्थान नही है। प्राणी अपनी शक्ति एव बाह्य परिस्थिति की अवहेलना करके कोई कार्य नही कर सकता। जिस प्रकार वह परिस्थितियो का दास है उसी प्रकार उसे अपने पराक्रम की सीमा का भी ध्यान रखना पडता है। इतना होने हुए भी वह कर्म करने में सर्वथा परतन्त्र नही अपितु किसी हद तक स्वतन्त्र है। कर्मवाद मे यही इच्छा-स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार कर्मवाद नियतिवाद और स्वतन्त्रतावाद के बीच का सिद्धान्त है—मध्यमवाद है।

कर्मविरोधी मान्यताएँ :

कर्मवाद को अपने विरोधी अनेक वादो का सामना करना पडता है। विश्व-वैचित्र्य के कारणो की गवेषणा करते हुए कुछ विचारक इस तथ्य की स्थापना करते है कि काल ही ससार की उत्पत्ति आदि का कारण है। कुछ विचारक स्वभाव को ही विश्व का कारण मानते है। कुछ विचारको के मत से नियति ही सब कुछ है। कुछ विचारक यदृच्छा को ही जगत् का कारण मानते है। कुछ विचारक ऐसे भी है जो पृथ्वी आदि भूतो को ही ससार का कारण मानते है।

---

१ Freedom of Will or Libertarianism

कुछ विचारको का मत है कि पुरुष अथवा ईश्वर ही इस जगत् का कर्ता है।[१] यहाँ हम सक्षेप मे इन मान्यताओं का परिचय प्रस्तुत करते हैं।[२]

कालवाद—कालवादियो की मान्यता है कि ससार के समस्त पदार्थ तथा सुख-दु ख कालमूलक हैं। काल ही समस्त भूतो की सृष्टि करता है, उनका संहार करता है। काल ही प्राणियो के समस्त शुभाशुभ परिणामो का जनक है। काल ही प्रजा का सकोच और विस्तार करता है। इस प्रकार काल ही जगत् का आदि-कारण है। अथर्ववेद मे एक कालसूक्त है जिसमे बताया गया है कि काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के ही आधार पर समस्त भूत रहते है। काल के ही कारण आँखें देखती है, काल ही ईश्वर है, काल प्रजा-पति का भी पिता है, काल सर्वप्रथम देव है, काल से बढकर कोई अन्य शक्ति नही है, काल सर्वोच्च ईश्वर है इत्यादि।[3] महाभारत मे भी काल की सर्वोच्चता स्वीकार की गई है। उसमें बताया गया है कि कर्म अथवा यज्ञयागादि सुख-दु ख के कारण नही हैं। मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है। समस्त कार्यों का काल ही कारण है इत्यादि।[४]

स्वभाववाद—स्वभाववादी की मान्यता है कि ससार मे जो कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म आदि कोई भी कारण जगत-वैचित्र्य की रचना मे समर्थ नही। बुद्धचरित में स्वभाववाद का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कांटो का नुकीलापन, पशु-पक्षियो की विचित्रता आदि सभी स्वभाव के कारण ही है। किसी भी प्रवृत्ति मे इच्छा अथवा प्रयत्न का कोई स्थान नही है।[५] सूत्रकृतागवृत्ति (शीलाककृत) में भी यही बताया गया है कि काँटो की तीक्ष्णता, मृग-पक्षियो का विचित्रभाव आदि सब कुछ स्वभावजन्य ही है। गीता

---

१. काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्यम्।
सयोग एषा न स्वात्मभावादात्माप्यनीश' सुखदु खहेतो ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १, २.

२ देखिए—Dr Mohan Lal Mehta Jaina Psychology, पृ० ६–१२, प० महेन्द्रकुमार जैन जैनदर्शन, पृ० ८७–११९; प० दलसुख मालवणिया आत्ममीमासा, पृ० ८६–९४

३ अथर्ववेद, १९, ५३-४,

४. कालेन सर्वं लभते मनुष्य
—शान्तिपर्व, २५, २८, ३२.

५ बुद्धचरित, ५२.

और महाभारत मे भी स्वभाववाद का उल्लेख है।[1] स्वभाववादी प्रत्येक कार्य को स्वभावमूलक ही मानता है। वह जगत् की विचित्रता का कोई नियन्त्रक अथवा नियामक नही मानता।

नियतिवाद—नियतिवादियो का मत है कि ससार मे जो कुछ होना होता है वही होता है अथवा जो होना होता है वह अवश्यमेव होता है। घटनाओ का अवश्यम्भावित्व पूर्वनिर्धारित है। दूसरे शब्दो मे ससार की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत है। प्राणी के इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नही है अथवा यो कहिए कि इच्छा-स्वातन्त्र्य नाम की कोई चीज ही नही है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा इसी मत का समर्थक था। वह मानता था कि व्यक्ति केवल अपने अज्ञान के कारण ऐसा सोचता है कि मैं भविष्य को बदल सकता हूँ। जो कुछ होना होगा, अवश्य होगा। भविष्य भी उसी प्रकार सुनिश्चित एव अपरिवर्तनीय है जिस प्रकार अतीत अर्थात् भूत। यही कारण है कि आशा अथवा भय निरर्थक है। इसी प्रकार किसी की प्रशसा करना अथवा किसी पर दोष मढना भी व्यर्थ है।

बौद्ध त्रिपिटको एव जैनागमो मे नियतिवाद के विषय मे अनेक बाते उपलब्ध होती है। दीघनिकाय के सामञ्जफल सुत्त मे मखली गोशालक के नियतिवाद का वर्णन किया गया है। गोशालक मानता था कि प्राणियो की अपवित्रता का कुछ भी कारण नही है। वे कारण के बिना ही अपवित्र होते है। इसी प्रकार प्राणियो की शुद्धता का भी कोई कारण अथवा हेतु नही है। हेतु और कारण के बिना ही वे शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्य के बल पर कुछ नही होता। पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी पदार्थ की सत्ता है, ऐसी बात नही है। न बल है, न वीर्य है, न शक्ति अथवा पराक्रम ही है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी जीव अवश हैं, दुर्बल है, वीर्यविहीन है। उनमे नियति, जाति,, वैशिष्ट्य एव स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है। छ जातियो मे से किसी एक जाति मे रहकर सब दु खो का उपभोग किया जाता है। चौरासी लाख महाकल्पो के चक्र में घूमने के बाद बुद्धिमान् और मूर्ख दोनो के दु ख का नाश हो जाता है।

जैन आगमो मे भी नियतिवाद अथवा अक्रियावाद का रोचक वर्णन किया गया है। उपासकदशाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र), सूत्रकृताग आदि[2] मे

---

१. भगवद्गीता, ५, १४ २ उपासकदशाग, अध्ययन ६-७; व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १५, सूत्रकृताग, २, १, १२, २, ६

एतद्विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। बौद्ध त्रिपिटको मे पकुध कात्यायन एवं पूरण कश्यप[1] को भी इसी मत का समर्थक बताया गया है।

यदृच्छावाद—यदृच्छावादियो की मान्यता है कि किसी निश्चित कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। कोई भी घटना निष्कारण अर्थात् अकस्मात् ही होती है। न्यायसूत्रकार के शब्दो में यदृच्छावाद का मन्तव्य है कि अनिमित्त अर्थात् किसी निमित्तविशेष के बिना ही कांटे की तीक्ष्णता के समान भावो की उत्पत्ति होती है।[2] यदृच्छावाद, अकस्मात्वाद और अनिमित्तवाद एकार्थक है। इनमें कार्यकारणभाव अथवा हेतुहेतुमद्भाव का सर्वथा अभाव है।

भूतवाद—भूतवादी पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतो से ही समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति मानते है। भूतो के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र जड अथवा चेतन तत्त्व जगत् में विद्यमान नही है। जिसे हम आत्मतत्त्व अथवा चेतनतत्त्व कहते हैं वह इन्ही चतुर्भूतो की एक परिणतिविशेष है जो परिस्थितिविशेष मे उत्पन्न होती है और उस परिस्थिति की अनुपस्थिति मे स्वत नष्ट हो जाती है—बिखर जाती है। जिस प्रकार चूना, सुपारी, कत्था, पान आदि का विशिष्ट सयोग अथवा सम्मिश्रण होने पर लाल रग उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार भूतचतुष्टय के विशिष्ट सम्मिश्रण से चैतन्य को उत्पत्ति होती है।[3] चैतन्य हमेशा शरीर से सम्बद्ध रहता है एव शरीर का नाश होते ही—भूत-चतुष्टय के सयोग मे कुछ गडबडी होते ही चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। अत इस लोक के अतिरिक्त अन्य लोक की सत्ता स्वीकार करना मूर्खता का द्योतक है। मनुष्य-जीवन का एक मात्र ध्येय ऐहलौकिक आनन्द है। पारलौकिक सुख-सम्प्राप्ति के जितने भी तथाकथित साधन है, सब व्यर्थ है। ऐहलौकिक सुख को छोड कर किसी अन्य सुख की कल्पना करना अपने-आपको धोखा देना है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और उपयोगिता ही आचार-विचार का मानदण्ड है।

डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त भी भौतिकवाद का ही एक परिष्कृत रूप है। इसके अनुसार प्राणियो की शारीरिक एव प्राणशक्ति का क्रमश विकास होता है। जड तत्त्वो के विकास के साथ ही साथ चेतन तत्त्व का भी विकास होता जाता है। यह चेतन तत्त्व जड तत्त्व का ही एक अग है, उससे सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र तत्त्व नही।

---

१. दीघनिकाय सामञ्जफल सुत्त   २ न्यायसूत्र, ४, १, २२

३ सर्वदर्शनसग्रह, परिच्छेद १.

पुरुषवाद—पुरुषवादियों के मतानुसार इस ससार का रचयिता, पालनकर्ता एव हर्ता पुरुषविशेष अर्थात् ईश्वर है। प्रलयावस्था में भी उसकी ज्ञानादि शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। पुरुषवाद में सामान्यत दो मतो का समावेश है ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद। ब्रह्मवाद की मान्यता है कि जिस प्रकार मकडी जाले के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए तथा वटवृक्ष प्ररोह अर्थात् जटाओ के लिए हेतुभूत है उसी प्रकार पुरुष अर्थात् ब्रह्म समस्त जगत् के प्राणियो की सृष्टि, स्थिति एव सहार के प्रति निमित्तभूत है।[1] इस प्रकार ब्रह्म ही ससार के समस्त पदार्थों का उपादानकारण है। ईश्वरवाद की मान्यता के अनुसार स्वयसिद्ध जड और चेतन द्रव्यो के पारस्परिक सयोजन में ईश्वर निमित्तकारण है। ईश्वर की इच्छा के बिना जगत् का कोई भी कार्य नही हो सकता। वह विश्व का नियन्त्रक एव नियामक है।

कर्मवाद का मन्तव्य :

कर्मवाद के समर्थक उपर्युक्त मान्यताओ का समन्वय करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि जिस प्रकार किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर नही अपितु कारणसाकल्य पर अवलम्बित है उसी प्रकार कर्म के साथ-साथ कालादि भी विश्व-वैचित्र्य के कारणो के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। कर्म वैचित्र्य का प्रधान कारण है जबकि कालादि उसके सहकारी कारण हैं। कर्म को प्रधान कारण मानने से पुरुषार्थ का पोषण होता है तथा प्राणियो में आत्मविश्वास व आत्मबल उत्पन्न होता। अपने सुख-दुःख का प्रधान कारण अन्यत्र ढूंढने की अपेक्षा अपने में ही ढूंढना अधिक युक्तियुक्त है। आचार्य हरिभद्र आदि की मान्यता है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणो में से किसी एक को ही कार्यनिष्पत्ति का कारण मानना और शेष कारणो की अवहेलना करना मिथ्या धारणा है। सम्यग् धारणा यह है कि कार्यनिष्पत्ति में उक्त सभी कारणो का यथोचित समन्वय किया जाये।[2] दैव—कर्म—भाग्य और पुरुषार्थ के विषय में अनेकान्त दृष्टि रखनी चाहिए। बुद्धिपूर्वक कर्म न करने पर भी इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना दैवाधीन है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कही दैव प्रधान होता है तो कही पुरुषार्थ।[3] दैव और पुरुषार्थ के सम्यक् समन्वय से ही अर्थसिद्धि होती है।

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड (पं० महेन्द्रकुमार जैन द्वारा सम्पादित), पृ० ६५.
२ शास्त्रवार्तासमुच्चय, २, ७९-८०
३ आप्तमीमासा, का० ८८-९१

ईश्वर अथवा पुरुष—ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति,स्थिति एव सहार का कारण अथवा नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि अन्य कारणो से ही प्राणियो के जन्म, जरा, मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। केवल भूतो से भी ज्ञान, सुख, दु ख, भावना आदि चैतन्यमूलक धर्मों की सिद्धि नही की जा सकती। जडभूतो के अतिरिक्त चेतन तत्त्व की सत्ता स्वीकार करना अनिवार्य है क्योकि मूर्त जड अमूर्त चैतन्य को कदापि उत्पन्न नही कर सकता। जिसमे जिस गुण का सर्वथा अभाव होता है उससे वह गुण कदापि उत्पन्न नही हो सकता। ऐसा न मानने पर कार्यकारणभाव की व्यवस्था व्यर्थ हो जाएगी। परिणामत हम भूतो को भी किसी कार्य का कारण मानने के लिए बाध्य न होगे। ऐसी अवस्था मे किसी कार्य का कारण ढूंढना ही निरर्थक होगा। अत जड और चेतन इन दो प्रकार के तत्त्वो की सत्ता स्वीकार करते हुए कर्ममूलक विश्व-व्यवस्था मानना ही युक्तिसगत प्रतीत होता है। प्राणी का कर्मविशेष अपने नैसर्गिक स्वभाव के अनुसार स्वत॰ फल प्रदान करने मे समर्थ होना है। इस कार्य के लिए किसी अन्य नियन्त्रक, नियामक अथवा न्यायदाता की आवश्यकता नही होती।

कर्म का अर्थ :

साधारणतया 'कर्म' शब्द का अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया किया जाता है। कर्मकाण्ड मे यज्ञ आदि क्रियाएँ कर्म के रूप मे प्रचलित है। पौराणिक परम्परा मे व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाएँ कर्मरूप मानी जाती है। व्याकरणशास्त्र मे कर्ता जिसे अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता है अर्थात् जिसपर कर्ता के व्यापार का फल गिरता है उसे कर्म कहा जाता है। न्यायशास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुचन, प्रसारण और गमनरूप पाँच साकेतिक कर्मो मे कर्म शब्द का व्यवहार किया जाता है। जैन परम्परा मे कर्म दो प्रकार का माना गया है भावकर्म और द्रव्यकर्म। राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् कषाय भावकर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल—जडतत्त्वविशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा—चेतनतत्त्व के साथ मिलजुल जाता है, द्रव्यकर्म कहलाता है।

जैन-परम्परा मे जिस अर्थ में कर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है उस अर्थ मे अथवा उससे मिलते-जुलते अर्थ मे अन्य दर्शनो में निम्न शब्दो का प्रयोग किया गया है - माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार, दैव, भाग्य आदि। माया, अविद्या और प्रकृति शब्द वेदान्त दर्शन में उपलब्ध है। अपूर्व शब्द मीमाशा दर्शन मे प्रयुक्त हुआ है। वासना शब्द दर्शन से विशेष-

रूप से प्रसिद्ध है। आशय शब्द विशेषकर योग तथा सांख्य दर्शनों में उपलब्ध है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार शब्द विशेषतया न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में प्रचलित है। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि अनेक ऐसे शब्द है जिनका साधारणतया सब दर्शनों में प्रयोग किया गया है।[1] इस प्रकार चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों ने किसी-न-किसी रूप में अथवा किसी-न-किसी नाम से कर्म की सत्ता स्वीकार की है। कर्म आत्मतत्त्व का विरोधी है। यह आत्मा के ज्ञानादि गुणों के प्रकाशन में बाधक होता है। कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने पर ही आत्मा अपने यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित होती है—अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित होती है। आत्मा की इसी अवस्था का नाम स्वरूपावस्था अथवा विशुद्धावस्था है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। जीव पुराने कर्मों का क्षय करता हुआ नवीन कर्म का उपार्जन करता रहता है। जब तक प्राणी के पूर्वोपार्जित समस्त कर्म नष्ट नहीं हो जाते एवं नवीन कर्मों का आगमन बन्द नहीं हो जाता तब तक उसकी भवबन्धन से मुक्ति नहीं होती। एक बार समस्त कर्मों का विनाश हो जाने पर पुन कर्मोपार्जन नहीं होता क्योंकि उस अवस्था में कर्मबन्धन का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता। आत्मा की इसी अवस्था को मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण अथवा सिद्धि कहते हैं।

कर्मबन्ध का कारण :

जैन-परम्परा में कर्मोपार्जन अथवा कर्मबन्ध के सामान्यतया दो कारण माने गये है योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। क्रोधादि मानसिक आवेग कषायान्तर्गत है। यो तो कषाय के अनेक भेद हो सकते हैं किन्तु मोटे तौर पर उसके दो भेद किये गये है राग और द्वेष। राग-द्वेषजनित शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का कारण है। वैसे तो प्रत्येक क्रिया कर्मोपार्जन का कारण होती है किन्तु जो क्रिया कषायजनित होती है उससे होनेवाला कर्मबन्ध विशेष बलवान् होता है जबकि कषायरहित क्रिया से होनेवाला कर्मबन्ध अति निर्बल एवं अल्पायु होता है। उसे नष्ट करने में अल्प शक्ति एवं अल्प समय लगता है। दूसरे शब्दों में योग और कषाय दोनों ही कर्मबन्ध के कारण है किन्तु इन दोनों में प्रबल कारण कषाय ही है।

---

१ देखिये—प० सुखलालजीकृत कर्मविपाक के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना, पृ० २३.

नैयायिक तथा वैशेषिक मिथ्याज्ञान को कर्मबन्ध का कारण मानते है । योग एव साख्य दर्शन मे प्रकृति-पुरुष के अभेदज्ञान को कर्मबन्ध का कारण माना गया है । वेदान्त आदि दर्शनो में अविद्या अथवा अज्ञान को कर्मबन्ध का कारण बताया गया है । बौद्धो ने वासना अथवा सस्कार को कर्मोपार्जन का कारण माना है । जैन परम्परा मे सक्षेप मे मिथ्यात्व कर्मबन्ध का कारण माना गया है । जो कुछ हो, यह निश्चित है कि कर्मोपार्जन का कोई भी कारण क्यो न माना जाए, राग-द्वेषजनित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का प्रधान कारण है । राग-द्वेष की न्यूनता अथवा अभाव से अज्ञान, वासना अथवा मिथ्यात्व कम हो जाता अथवा नष्ट हो जाता है । राग-द्वेषरहित प्राणी कर्मोपार्जन के योग्य विकारो से सदैव दूर रहता है । उसका मन हमेशा अपने नियन्त्रण में रहता है ।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया

जैन कर्मग्रन्थो मे कर्मबन्ध की प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है । सम्पूर्ण लोक मे ऐसा कोई भी स्थान नही है जहाँ कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणु विद्यमान न हो । जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब चारो ओर से कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणुओ का आकर्षण होता है । जितने क्षेत्र अर्थात् प्रदेश मे उसकी आत्मा विद्यमान रहती है[1] उतने ही प्रदेश मे विद्यमान परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते है, अन्य नही । प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओ की सख्या मे भी तारतम्य होता है । प्रवृत्ति की मात्रा मे अधिकता होने पर परमाणुओ की सख्या मे भी अधिकता होती है एव प्रवृत्ति की मात्रा मे न्यूनता होने पर परमाणुओ की सख्या मे भी न्यूनता होती है । गृहीत पुद्गल-परमाणुओ के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना जैन कर्मवाद की परिभाषा मे प्रदेश-बन्ध कहलाता है । इन्ही परमाणुओ की ज्ञानावरण (जिन कर्मों से आत्मा की ज्ञान-शक्ति आवृत होती है) आदि अनेक रूपो मे परिणति होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है । प्रदेश-बन्ध मे कर्म-परमाणुओ का परिमाण अभिप्रेत है जबकि प्रकृति-बन्ध मे कर्म-परमाणुओ की प्रकृति अर्थात् स्वभाव का विचार किया जाता है । भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले कर्मो की भिन्न-भिन्न परमाणु-सख्या होती है । दूसरे शब्दो मे विभिन्न कर्मप्रकृतियो के विभिन्न कर्मप्रदेश होते है । जैन कर्मशास्त्रो मे इस प्रश्न पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया

---

१ जैनदर्शन की मान्यता है कि आत्मा शरीरव्यापी है । देह से बाहर आत्मतत्त्व विद्यमान नही होता ।

है कि किस कर्म-प्रकृति के कितने प्रदेश होते है एव उनका तुलनात्मक अनुपात क्या है। कर्मरूप से गृहीत पुद्गल-परमाणुओ के कर्मफल के काल एव विपाक की तीव्रता-मन्दता का निश्चय आत्मा के अध्यवसाय अर्थात् कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। कर्मविपाक के काल तथा तीव्रता-मन्दता के इस निश्चय को क्रमश स्थिति-बन्ध तथा अनुभाग-बन्ध कहते है। कषाय के अभाव मे कर्म-परमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध नही रह सकते। जिस प्रकार सूखे वस्त्र पर रज अच्छी तरह न चिपकते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है उसी प्रकार आत्मा में कषाय की आर्द्रता न होने पर कर्म-परमाणु उससे सम्बद्ध न होते हुए केवल उसका स्पर्श कर अलग हो जाते है। ईर्यापथ (चलना-फिरना आदि आवश्यक क्रियाएँ) से होनेवाला इस प्रकार का निर्बल कर्मबन्ध असापरायिक बन्ध कहलाता है। सकषाय कर्म-बन्ध को सापरायिक बन्ध कहते है। असापरायिक बन्ध भव-भ्रमण का कारण नही होता। साम्परायिक बन्ध से ही प्राणी को ससार मे परिभ्रमण करना पडता है।

कर्म का उदय और क्षय :

कर्म बँधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नही कर देते ! कुछ समय तक वैसे ही पडे रहते हैं। कर्म के इस फलहीन काल को जैन परिभाषा मे अबाधाकाल कहते हैं अबाधाकाल के व्यतीत होने पर ही बद्धकर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते है। कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय कहलाता है। कर्म अपने स्थिति-बन्ध के अनुसार उदय मे आते है एव फल प्रदान कर आत्मा से अलग हो जाते है। इसी का नाम निर्जरा है। जिस कर्म की जितनी स्थिति का बन्ध होता है वह कर्म उतनी ही अवधि तक क्रमश उदय मे आता है। दूसरे शब्दो में कर्म-निर्जरा का भी उतना ही काल होता है जितना कर्म-स्थिति का। जब आत्मा से सभी कर्म अलग हो जाते है तब प्राणी कर्म-मुक्त हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते है।

कर्मप्रकृति अर्थात् कर्मफल :

जैन कर्मशास्त्र मे कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ मानी गई हैं। ये प्रकृतियाँ प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एव प्रतिकूल फल प्रदान करती है। इन प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है - १ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३, वेदनीय, ४. मोहनीय, ५ आयु, ६. नाम, ७ गोत्र, और ८ अन्तराय। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घाती प्रकृतियाँ हैं क्योकि इनसे

आत्मा के चार मूल गुणो (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य) का घात होता है। शेष चार अघाती प्रकृतियाँ हैं क्योकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नही करती। इतना ही नही, ये आत्मा को ऐसा रूप प्रदान करती हैं जो उसका निजी नही अपितु पौद्गलिक—भौतिक है। ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुण का घात करता है। दर्शनावरण से आत्मा के दर्शनगुण का घात होता है। मोहनीय सुख–आत्म-सुख–परमसुख-शाश्वतसुख के लिये घातक है। अन्तराय से वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है। वेदनीय अनुकूल एवं प्रतिकूल सवेदन अर्थात् सुख-दु ख का कारण है। आयु से आत्मा को नारकादि विविध भवो की प्राप्ति होनी है। नाम के कारण जीव को विविध गति, जाति, शरीर आदि प्राप्त होते है। गोत्र प्राणियो के उच्चत्व-नीचत्व का कारण है।

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ है . १ मतिज्ञानावरण, २ श्रुत-ज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मन पर्यय, मन पर्यव अथवा मन पर्याय-ज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानावरण। मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। श्रुत-ज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्रो अथवा शब्दो के पठन तथा श्रवण से होनेवाले अर्थज्ञान का निरोध करता है। अवधिज्ञानावरणीय कर्म अवधिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना होनेवाले रूपी द्रव्यो के ज्ञान को आवृत करता है। मन पर्यायज्ञानावरणीय कर्म मन पर्यायज्ञान अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता के विना सज्ञी—समनस्क—मन वाले जीवो के मनोगत भावो को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म केवल-ज्ञान अर्थात् लोक के अतीत, वर्तमान एव अनागत समस्त पदार्थों को युगपत्—एक साथ जानने वाले ज्ञान को आवृत करता है।

दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर-प्रकृतियाँ है १ चक्षुदर्शनावरण, २ अचक्षु-दर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवलदशनावरण, ५ निद्रा, ६ निद्रा-निद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि—स्त्यानगृद्धि। आँख के द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म के ग्रहण को चक्षुदर्शन कहते हैं। इसमे पदार्थ का साधारण आभासमात्र होता है। चक्षुदर्शन को आवृत करने वाला कर्म चक्षु-दर्शनावरण कहलाता है। आँख को छोड कर अन्य इन्द्रियो तथा मन से जो पदार्थों का सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते है। इस प्रकार के दर्शन का आवरण करने वाला कर्म अचक्षुर्दर्शनावरण कहलाता है। इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा न रखते हुए आत्मा द्वारा रूपी पदार्थों का सामान्य

बोध होने का नाम अवधिदर्शन है। इस प्रकार के दर्शन को आवृत करने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है। ससार के अखिल त्रैकालिक पदार्थों का सामान्यावबोध केवलदर्शन कहलाता है। इस प्रकार के दर्शन का आवरण करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण के नाम से प्रसिद्ध है। निद्रा आदि अतिम पाँच प्रकृतियाँ भी दर्शनावरणीय कर्म का ही कार्य है। सोया हुआ जो प्राणी थोडी-सी आवाज से जग जाता है अर्थात् जिसे जगाने मे परिश्रम नही करना पडता उसकी नीद को निद्रा कहते हैं। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नीद आती है उस कर्म का नाम भी निद्रा है। जो सोया हुआ प्राणी बडे जोर से चिल्लाने, हाथ से जोर से हिलाने आदि से बडी मुश्किल से जगता है उसकी नीद एव तन्निमित्तक कर्म दोनो को निद्रानिद्रा कहते हैं। खडे-खडे बैठे-बैठे नीद लेने का नाम प्रचला है। उसका हेतुभूत कर्म भी प्रचला कहलाता है। चलते-फिरते नीद लेने का नाम प्रचलाप्रचला है। तन्निमित्तभूत कर्म को भी प्रचलाप्रचला कहते है। दिन मे अथवा रात मे सोचे हुए कार्यविशेष को निद्रावस्था मे सम्पन्न करने का नाम स्त्यानर्द्धि—स्त्यानगृद्धि है। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नीद आती है उसका नाम भी स्त्यानर्द्धि अथवा स्त्यानगृद्धि है।

वेदनीय अथवा वेद्य कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ है साता और असाता। जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयो की प्राप्ति से सुख का अनुभव होता है उसे सातावेदनीय कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति होने पर दु ख का सवेदन होता है उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं। आत्मा को विषयनिरपेक्ष स्वरूप-सुख का सवेदन किसी भी कर्म के उदय की अपेक्षा न रखते हुए स्वत. होता है। इस प्रकार का विशुद्ध सुख आत्मा का निजी धर्म है। वह साधारण सुख की कोटि से ऊपर है।

मोहनीय कर्म की मुख्य दो उत्तर-प्रकृतियाँ है दर्शनमोह अर्थात् दर्शन का घात और चारित्रमोह अर्थात् चारित्र का घात। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही समझने का नाम दर्शन है। यह तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप आत्मगुण है। इस गुण का घात करनेवाले कम का नाम दर्शनमोहनीय है। जिसके द्वारा आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता है उसे चारित्र कहते है। चारित्र का घात करनेवाला कर्म चारित्रमोहनीय कहलाता है। दर्शनमोहनीय कर्म के पुन तीन भेद है सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय। सम्यक्त्व-मोहनीय के दलिक—कर्मपरमाणु शुद्ध होते है। यह कर्म शुद्ध—स्वच्छ परमाणुओ वाला होने के कारण तत्त्वरुचिरूप सम्यक्त्व मे बाधा नही पहुँचाता किन्तु इसके उदय से आत्मा को स्वाभाविक सम्यक्त्व—कर्मनिरपेक्ष सम्यक्त्व—क्षायिकसम्यक्त्व

नही होने पाता। परिणामत उसे सूक्ष्म पदार्थों के चिन्तन मे शकाएँ हुआ करती है। मिथ्यात्वमोहनीय के दलिक ,अशुद्ध होते हैं। इस कर्म के उदय से प्राणी हित को अहित समझता है और अहित को हित। विपरीत बुद्धि के कारण उसे तत्त्व का यथार्थ बोध नही होने पाता। मिश्रमोहनीय के दलिक अर्धविशुद्ध होते हैं। इस कर्म के उदय से जीव को न तो तत्त्वरुचि होती है, न अतत्त्वरुचि। इसका दूसरा नाम सम्यक्-मिथ्यात्वमोहनीय है। यह सम्यक्त्व-मोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय का मिश्रितरूप है जो तत्त्वार्थ श्रद्धान और अतत्त्वार्थ-श्रद्धान इन दोनो अवस्थाओ में से शुद्ध रूप से किसी भी अवस्था को प्राप्त नही करने देता। मोहनीय के दूसरे मुख्य भेद चारित्र-मोहनीय के दो भेद है. कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। कषाय-मोहनीय मुख्यरूप से चार प्रकार का है. क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोधादि चारो कषाय तीव्रता-मन्दता की दृष्टि से पुन चार-चार प्रकार के है अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन। इस प्रकार कषायमोहनीय कर्म के कुल सोलह भेद हुए जिनके उदय से प्राणी में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक ससार मे भ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देशविरतिरूप श्रावकधर्म की प्राप्ति नही होने पाती। इसकी अवधि एक वर्ष है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सर्वविरतिरूप श्रमणधर्म की प्राप्ति नही होने पाती। इसकी स्थिति चार महीने की है। सज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात-चारित्ररूप सर्वविरति प्राप्त नही कर सकता। यह एक पक्ष की स्थिति वाला है। उपर्युक्त कालमर्यादाएँ साधारण दृष्टि—व्यवहार नय से है। इनमे यथासभव परिवर्तन भी हो सकता है। कषायो के उदय के साथ जिनका उदय होता है अथवा जो कषायो को उत्तेजित करते है उन्हे नोकषाय कहते हैं।[1] नोकषाय के नौ भेद है १ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४. शोक, ५ भय, ६ जुगुप्सा, ७ स्त्रीवेद, ८ पुरुषवेद और ९ नपुसकवेद। स्त्रीवेद के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ सभोग करने की इच्छा होती है। पुरुषवेद के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ सभोग करने की इच्छा होती है। नपुसकवेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनो के साथ सभोग करने की कामना होती है। यह वेद

---

१ कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता॥

संभोग की कामना के अभाव के रूप में नहीं अपितु तीव्रतम कामाभिलाषा के रूप में है जिसका लक्ष्य स्त्री और पुरुष दोनों हैं। इसकी निवृत्ति—तुष्टि चिरकाल एवं चिरप्रयत्नसाध्य है। इस प्रकार मोहनीय कर्म की कुल २८ उत्तर-प्रकृतियाँ—भेद होते हैं ३ दर्शनमोहनीय + १६ कषायमोहनीय + ९ नोकषायमोहनीय।

आयु कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ चार हैं १ देवायु, २ मनुष्यायु, ३ तिर्यञ्चायु और ४ नरकायु। आयु कर्म की विविधता के कारण प्राणी देवादि जातियों में रह कर स्वकृत नानाविध कर्मों को भोगता एवं नवीन कर्म उपार्जित करता है। आयु कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है। आयु दो प्रकार की होती है अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तों से जो आयु कम हो जाती है अर्थात् नियत समय से पूर्व समाप्त हो जाती है उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। इसी का प्रचलित नाम अकाल-मृत्यु है। जो आयु किसी भी कारण से कम न हो अर्थात् नियत समय पर ही समाप्त हो उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं।

नाम कर्म की एक सौ तीन उत्तरप्रकृतियाँ हैं। ये प्रकृतियाँ चार भागों में विभक्त हैं पिण्डप्रकृतियाँ, प्रत्येकप्रकृतियाँ, त्रसदशक और स्थावरदशक। इन प्रकृतियों के कारणरूप कर्मों के भी वे ही नाम हैं जो इन प्रकृतियों के हैं। पिण्डप्रकृतियों में पचहत्तर प्रकृतियों का समावेश है १ चार गतियाँ—देव, नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य, २ पांच जातियाँ—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय, ३ पांच शरीर—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण, ४ तीन उपांग—औदारिक, वैक्रिय और आहारक (तैजस और कार्मण शरीर के उपांग नहीं होते), ५ पंदरह बन्धन—औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तैजस, वैक्रिय-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-आहारक, आहारक-तैजस, आहारक-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण, ६ पाँच संघातन—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण, ७ छ संहनन—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिक और सेवार्त, ८ छ संस्थान—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्ड, ९ शरीर के पाँच वर्ण—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और सित, १० दो गन्ध—सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध, ११ पाँच रस—तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर, १२

आठ स्पर्श—गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, १३. चार आनुपूर्वियाँ—देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी, १४. दो गतियाँ—शुभविहायोगति और अशुभविहायोगति। प्रत्येक प्रकृतियों मे निम्नोक्त आठ प्रकृतियाँ समाविष्ट हैं. पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण और उपघात। त्रसदशक में निम्न प्रकृतियाँ हैं त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश कीर्ति। स्थावरदशक मे त्रसदशक से विपरीत दस प्रकृतियाँ समाविष्ट हैं स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और अयश कीर्ति। इस प्रकार नाम कर्म की उपर्युक्त एक सौ तीन (७५ पिण्ड-प्रकृतियाँ + ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ + १० त्रसदशक + स्थावरदशक) उत्तर-प्रकृतियाँ है।[1] इन्ही प्रकृतियो के आधार पर प्राणियो के शारीरिक वैविध्य का निर्माण होता है।

गोत्र कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ हैं उच्च और नीच। जिस कर्म के उदय से प्राणी उत्तम कुल मे जन्म ग्रहण करता है उसे उच्चैर्गोत्र कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म नीच कुल में होता है उसे नीचैर्गोत्र कर्म कहते हैं। उत्तम कुल का अर्थ है संस्कारी एवं सदाचारी कुल। नीच कुल का अर्थ है असंस्कारी एव आचारहीन कुल।

अन्तराय कर्म की पाँच उत्तरकृतियाँ हैं. दानान्तराय लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। जिस कर्म के उदय से दान करने का उत्साह नही होता वह दानान्तराय कर्म है। जिस कर्म का उदय होने पर उदार दाता को उपस्थिति मे भी दान का लाभ अर्थात् प्राप्ति न हो सके वह लाभान्तराय कर्म है। अथवा योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होना लाभान्तराय कर्म का कार्य है। भोग की सामग्री मौजूद हो और भोग करने की इच्छा भी हो फिर भी जिस कर्म के उदय से प्राणी भोग्य पदार्थों का भोग न कर सके वह भोगान्तराय कर्म है। इसी प्रकार उपभोग्य वस्तुओ का उपभोग न कर सकना उपभोगान्तराय कर्म का फल,

१ नाम कर्म से सम्बन्धित विशेष विवेचन के लिए देखिए—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग अर्थात् कर्मविपाक (प० सुखलालजीकृत हिन्दी अनुवादसहित), पृ० ५८–१०५, Outlines of Jaina Philosophy (M L Mehta), पृ० १४२–५, Outlines of Karma in Jainism (M L. Mehta), पृ० १०–१३

है। जो पदार्थ एक बार भोगे जाते हैं वे भोग्य हैं तथा जो पदार्थ बार बार भोगे जाते हैं वे उपभोग्य हैं। अन्न, जल, फल, आदि भोग्य पदार्थ हैं। वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि उपभोग्य पदार्थ हैं। जिस कर्म के उदय से प्राणी अपने वीर्य अर्थात् सामर्थ्य—शक्ति—का चाहते हुए भी उपयोग न कर सके उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं। इस तरह आठ प्रकार के मूल कर्मों अथवा मूल कर्म-प्रकृतियों के कुल एक सौ अठावन भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं :

कर्म	भेद
१. ज्ञानावरणीय कर्म	५
२ दर्शनावरणीय कर्म	९
३ वेदनीय कर्म	२
४ मोहनीय कर्म	२८
५ आयु कर्म	४
६ नाम कर्म	१०३
७ गोत्र कर्म	२
८ अन्तराय कर्म	५
	योग १५८

कर्मों की स्थिति :

जैन कर्मग्रन्थों में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की विभिन्न स्थितियाँ (उदय में रहने का काल) बताई गई हैं जो इस प्रकार हैं :

कर्म	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
१ ज्ञानावरणीय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
२ दर्शनावरणीय	,,	,,
३ वेदनीय	,,	बारह मुहूर्त
४ मोहनीय	सत्तर कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
५ आयु	तेतीस सागरोपम	,,
६ नाम	बीस कोटाकोटि सागरोपम	आठ मुहूर्त
७ गोत्र	,,	,,
८ अन्तराय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त

सागरोपम आदि समय के विविध भेदों के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अनुयोगद्वार आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। इससे जैनों की काल-विषयक मान्यता का भी ज्ञान हो सकेगा।

२

कर्मफल की तीव्रता-मन्दता :

कर्मफल की तीव्रता और मन्दता का आधार तन्निमित्तक कषायो की तीव्रता-मन्दता है। जो प्राणी जितना अधिक कषाय की तीव्रता से युक्त होगा उसके पापकर्म अर्थात् अशुभकर्म उतने ही प्रबल एव पुण्यकर्म अर्थात् शुभकर्म उतने ही निर्बल होगे। जो प्राणी जितना अधिक कषायमुक्त एव विशुद्ध होगा उसके पुण्यकर्म उतने ही अधिक प्रबल एव पापकर्म उतने ही अधिक दुर्बल होगे।

कर्मो के प्रदेश :

प्राणी अपनी कायिक आदि क्रियाओ द्वारा जितने कर्मप्रदेश अर्थात् कर्म-परमाणुओ का सग्रह करता है। वे विविध प्रकार के कर्मों मे विभक्त होकर आत्मा के साथ बद्ध होते है। आयु कर्म को सबसे कम हिस्सा मिलता है। नाम कर्म को उससे कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। गोत्र कर्म का हिस्सा भी नाम कर्म जितना ही होता है। उससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इनमे से प्रत्येक कर्म को प्राप्त होता है। इन तीनो का भाग समान रहता है। इससे भी अधिक भाग मोहनीय कर्म के हिस्से मे जाता है। सबसे अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है। इन प्रदेशो का पुन. उत्तरप्रकृतियो–उत्तरभेदो मे विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के बद्ध कर्म के प्रदेशो की न्यूनता-अधिकता का यही आधार है।

कर्म की विविध अवस्थाएँ :

जैन कर्मशास्त्र मे कर्म की विविध अवस्थाओ का वर्णन मिलता है। ये अवस्थाएँ कर्म के बन्धन, परिवर्तन, सत्ता, उदय, क्षय आदि से सम्बन्धित है। इनका हम मोटे तौर पर ग्यारह भेदो में वर्गीकरण कर सकते है। उनके नाम इस प्रकार है १ बन्धन, २ सत्ता, ३ उदय, ४ उदीरणा, ५ उद्वर्तना, ६ अप-वर्तना, ७ सक्रमण, ८ उपशमन, ९ निधत्ति, १० निकाचन, ११ अबाध।[1]

१ बन्धन—आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओ का बँधना अर्थात् क्षीर-नीरवत् एकरूप हो जाना बन्धन कहलाता है। बन्धन के बाद ही अन्य अवस्थाएँ प्रारम्भ होती है। बन्धन चार प्रकार का होता है प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबध अथवा रसबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

---

१ देखिए—आत्ममीमासा, पृ० १२८–१३१; Jaina Psychology पृ० २५–९

२ सत्ता—बद्ध कर्म-परमाणु अपनी निर्जरा अर्थात् क्षय होने तक आत्मा से सम्बद्ध रहते है। इसी अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था मे कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए विद्यमान रहते हैं।

३ उदय—कर्म की स्वफल प्रदान करने की अवस्था का नाम उदय है। उदय मे आनेवाले कर्म-पुद्गल अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते है। कर्म-पुद्गल का नाश क्षय अथवा निर्जरा कहलाता है।

४ उदीरणा—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जैन कर्मवाद कर्म की एकान्त नियति में विश्वास नही करता। जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत काल से पहले फल पकाये जा सकते है उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पूर्व बद्ध कर्मो को भोगा जा सकता है। सामान्यत जिस कर्म का उदय जारी होता है उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा सभव होती है।

बन्धन, सत्ता, उदय और उदीरणा मे कितनी कर्म-प्रकृतियाँ (उत्तरप्रकृतियाँ) होती है, इसका भी जैन कर्मशास्त्रो मे विचार किया गया है। बन्धन में कर्म-प्रकृतियो की संख्या एक सौ बीस, उदय में एक सौ बाईस, उदीरणा मे भी एक सौ बाईस तथा सत्ता में एक सौ अठावन मानी गई है। नीचे की तालिका[1] मे इन चारो अवस्थाओ मे रहनेवाली उत्तरप्रकृतियो की संख्या दी जाती है

	बन्ध	उदय	उदीरणा	सत्ता
१ ज्ञानावरणीय कर्म	५	५	५	५
२, दर्शनावरणीय कर्म	९	९	९	९
३ वेदनीय कर्म	२	२	२	२
४ मोहनीय कर्म	२६	२८	२८	२८
५ आयु कर्म	४	४	४	४
६. नाम कर्म	६७	६७	६७	१०३
७ गोत्र कर्म	२	२	२	२
८ अन्तराय कर्म	५	५	५	५
योग	१२०	१२२	१२२	१५८

सत्ता मे समस्त उत्तरप्रकृतियो का अस्तित्व रहता है जिनकी सख्या एकसौ अठावन है। उदय में केवल एक सौ बाईस प्रकृतियाँ रहती हैं क्योंकि इस अवस्था मे पदरह बधन तथा पाँच सघातन—नाम कर्म की ये बीस प्रकृतियाँ अलग से नही

१ कर्मविपाक (प० सुखलालजीकृत हिन्दी अनुवाद), पृ० १११

गिनी गई है अपितु पाँच शरीरो मे ही उनका समावेश कर दिया गया है। साथ ही वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श इन चार पिण्डप्रकृतियो की बीस उत्तरप्रकृतियो के स्थान पर केवल चार ही प्रकृतियाँ गिनी गई है। इस प्रकार कुल एक सौ अठावन प्रकृतियो मे से नाम कर्म की छत्तीस (बीस और सोलह) प्रकृतियाँ कम कर देने पर एक सौ बाईस प्रकृतियाँ शेष रह जाती है जो उदय मे आती है। उदीरणा मे भी ये ही प्रकृतियाँ रहती है क्योंकि जिस प्रकृति मे उदय की योग्यता रहती है उसी की उदीरणा होती है। बन्धनावस्था मे केवल एक सौ बीस प्रकृतियो का ही अस्तित्व माना गया है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय कर्मों का बन्ध अलग से न होकर मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के रूप मे ही होता है क्योकि (कर्मजन्य) सम्यक्त्व और सम्यक्-मिथ्यात्व मिथ्यात्व की ही विशोधित अवस्थाएँ है। इन दो प्रकृतियो को उपर्युक्त एक सौ बाईस प्रकृतियो मे से कम कर देने पर एक सौ बीस प्रकृतियाँ बाकी बचती हैं जो बन्धनावस्था मे विद्यमान रहती है।

५ **उद्वर्तना**—बद्धकर्मों की स्थिति और अनुभाग—रस का निश्चय बधन के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। उसके बाद की स्थितिविशेष अथवा भावविशेष—अध्यवसायविशेष के कारण उस स्थिति तथा अनुभाग मे वृद्धि हो जाना उद्वर्तना कहलाता है। इस अवस्था को उत्कर्षण भी कहते है।

६ **अपवर्तना**—बद्धकर्मों की स्थिति तथा अनुभाग मे अध्यवसायविशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है। यह अवस्था उद्वर्तना से बिल्कुल विपरीत है। इसका दूसरा नाम अपकर्षण भी है। इन अवस्थाओ की मान्यता से यही सिद्ध होता है कि किसी कर्म की स्थिति एव फल की तीव्रता-मन्दता मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता, ऐसी बात नही है। अपने प्रयत्नविशेष अथवा अध्यवसायविशेष की शुद्धता-अशुद्धता से उनमें समय-समय पर परि-वर्तन होता रहता है। एक समय हमने कोई अशुभ कार्य किया अर्थात् पापकर्म किया और दूसरे समय शुभ कार्य किया तो पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति आदि मे यथा-सम्भव परिवर्तन हो सकता है। इसी प्रकार शुभ कार्य द्वारा बाँधे गये कर्म की स्थिति आदि मे भी अशुभ कार्य करने से समयानुसार परिवर्तन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के अध्यवसायो के अनुसार कर्मों की अवस्थाओ मे परिवर्तन होता रहता है। इसी तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए जैन कर्मवाद को इच्छा-स्वातन्त्र्य का विरोधी नही माना गया है।

७ सक्रमण—एक प्रकार के कर्मपुद्गलो की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्मपुद्गलो की स्थिति आदि मे परिवर्तन अथवा परिणमन होना सक्रमण कहलाता है। सक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तरप्रकृतियो मे ही होता है, विभिन्न मूल प्रकृतियो मे नही। दूसरे शब्दो मे सजातीय प्रकृतियो मे ही सक्रमण माना गया है, विजातीय प्रकृतियो मे नही। इस नियम के अपवाद के रूप मे आचार्यों ने यह भी बताया है कि आयु कर्म की प्रकृतियो मे परस्पर सक्रमण नही होता और न दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय मे तथ।दर्शनमोहनीय की तीन उत्तर-प्रकृतियो मे ही (कुछ अपवादो को छोड कर) परस्पर सक्रमण होता है। इस प्रकार आयु कर्म की चार उत्तरप्रकृतियाँ, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय व दर्शनमोहनीय की तीन उत्तरप्रकृतियाँ उपर्युक्त नियम के अपवाद है।

८ उपशमन—कर्म की जिस अवस्था मे उदय अथवा उदीरणा सभव नही होती उसे उपशमन कहते है। इस अवस्था मे उद्वर्तना, अपवर्तना और सक्रमण की मभावना का अभाव नही होता। जिस प्रकार राख से आवृत अग्नि उम अवस्था मे रहती हुई अपना कार्यविशेप नही करती किन्तु आवरण हटते ही पुन प्रज्वलित होकर अपना कार्य करने को तैयार हो जाती है उसी प्रकार उपशमन-अवस्था मे रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है अर्थात् उदय मे आकर फल प्रदान करना शुरू कर देता है।

९ निधत्ति—कर्म की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है जिममे उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है। इम अवस्था मे उद्वर्तना और अपवर्तना की असभावना नही होती।

१० निकाचन—कर्म की उस अवस्था का नाम निकाचन है जिसमे उद्वर्तना, अपवर्तना, सक्रमण और उदीरणा ये चारो अवस्थाएँ असम्भव होती है। इस अवस्था का अर्थ है कर्म का जिस रूप मे बध हुआ उसी रूप मे उसे अनिवार्यत· भोगना। इसी अवस्था का नाम नियति है। इसमे इच्छास्वातन्त्र्य का सर्वथा अभाव रहता है। किसी-किसी कर्म की यही अवस्था होती है।

११ अबाध—कर्म का बँधने के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना उसकी अबाध-अवस्था है। इस अवस्था के काल को अबाधकाल कहते है। इसपर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

उदय के लिए अन्य परम्पराओ मे प्रारब्ध शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार मत्ता के लिए सचित, बन्धन के लिए आगामी अथवा क्रियमाण,

निकाचन के लिए नियतविपाकी, सक्रमण के लिए आवापगमन, उपगमन के लिए तनु आदि शब्दो के प्रयोग उपलब्ध होते है।[1]

कर्म और पुनर्जन्म

कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फलस्वरूप परलोक अथवा पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी ही पडती है। जिन कर्मों का फल इस जन्म मे प्राप्त नही होता उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना अनिवार्य है। पुनर्जन्म एव पूर्वभव न मानने पर कृत कर्म का निर्हेतुक विनाश—कृतप्रणाश एव अकृत कर्म का भोग—अकृतकर्मभोग मानना पडेगा। ऐसी अवस्था मे कर्म-व्यवस्था दूषित हो जायेगी। इन्ही दोषो से बचने के लिए कर्मवादियो को पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार करनी पडती है। इसीलिए वैदिक, बौद्ध एव जैन तीनो प्रकार की भारतीय परम्पराओ मे कर्ममूलक पुनर्जन्म[2] की सत्ता स्वीकार की गयी है।

जैन कर्मसाहित्य मे समस्त ससारी जीवो का समावेश चार गतियो मे किया गया है - मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक और देव। मृत्यु के पश्चात् प्राणी अपने कर्म के अनुसार इन चार गतियो मे से किसी एक गति मे जाकर जन्म ग्रहण करता है। जब जीव एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करने के लिए जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचा देता है। आनुपूर्वी नाम कर्म के लिए नासा-रज्जु अर्थात् 'नाथ' का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे बैल को इधर-उधर ले जाने के लिए नाथ की सहायता अपेक्षित होती है उसी प्रकार जीव को एक गति से दूसरी गति मे पहुँचने के लिए आनुपूर्वी नाम कर्म की मदद की जरूरत पडती है। समश्रेणी—ऋजुगति के लिए आनुपूर्वी की आवश्यकता नही रहती अपितु विश्रेणी—वक्रगति के लिए रहती है। गत्यन्तर के समय जीव के साथ केवल दो प्रकार का शरीर रहता है तैजस और कार्मण। अन्य प्रकार के शरीर (औदारिक अथवा वैक्रिय) का निर्माण वहाँ पहुँचने के बाद प्रारम्भ होता है।

●

---

१ देखिए—योगदर्शन तथा योगविंशिका (प० सुखलालजी द्वारा सम्पादित), प्रस्तावना, पृ० ५४, Outlines of Indian Philosophy (P. T Srinivasa Iyengar), पृ० ६२

२ इन परम्पराओं की पुनर्जन्म एवं परलोक विषयक मान्यताओ के लिए देखिए—आत्ममीमासा, पृ० १३४-१५२

द्वितीय प्रकरण

कर्मप्राभृत

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे आचारागादि ग्रन्थ आगमरूप से मान्य है जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय मे कर्मप्राभृत एव कषायप्राभृत, को आगमरूप मान्यता प्राप्त है। कर्मप्राभृत को महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, आगमसिद्धान्त, षट्खण्डागम, परमागम, खडसिद्धान्त, षट्खण्डसिद्धान्त आदि नामो से जाना जाता है। कर्म-विषयक प्ररूपणा के कारण इसे कर्मप्राभृत अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कहा जाता है। आगमिक एव सैद्धान्तिक ग्रथ होने के कारण इसे आगमसिद्धान्त, परमागम, खडसिद्धान्त आदि नाम दिये जाते हैं। चूकि इसमे छ खण्ड है अत इसे षट्खण्डागम अथवा षट्खण्डसिद्धान्त कहा जाता है।

कर्मप्राभृत की आगमिक परंपरा :

कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम)[1] का उद्गमस्थान दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अग है जो कि अब लुप्त है। दृष्टिवाद के पाँच विभाग है परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमे से पूर्वगत के चौदह भेद है। इन्ही को चौदहपूर्व कहा जाता है। इनमे से अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के आधार से कर्मप्राभृत नामक षट्खण्डागम की रचना की गई।

अग्रायणीय पूर्व के निम्नोक्त चौदह अधिकार है १ पूर्वान्त, २ अपरान्त, ३ ध्रुव, ४ अध्रुव, ५ चयनलब्धि, ६ अर्धोपम, ७ प्रणिधिकल्प, ८. अर्थ, ९ भौम, १० व्रतादिक, ११ सर्वार्थ, १२ कल्पनिर्याण, १३ अतीत सिद्ध-बद्ध, १४ अनागत सिद्ध-बद्ध। इनमे से पचम अधिकार चयनलब्धि के

---

१ (अ) प्रथम पाँच खड धवला टीका व उसके हिन्दी अनुवाद के साथ—सम्पादक डा० हीरालाल जैन, प्रकाशक शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, अमरावती, सन् १९३९-१९५८

(आ) छठा खड (महाबन्ध) हिन्दी अनुवादसहित—सम्पादक . प० सुमेरुचन्द्र व फूलचन्द्र, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९४७-१९५८

बीस प्राभृत हैं जिनमें चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति है।[1] इस कर्मप्रकृति प्राभृत से ही षट्खंडसिद्धान्त की उत्पत्ति हुई है।

कर्मप्राभृत के प्रणेता :

पट्खण्डसिद्धान्तरूप कर्मप्राभृत आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की रचना है। इन्होंने प्राचीन कर्मप्रकृति प्राभृत के आधार से प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया। कर्मप्राभृत (षटखण्डागम) की धवला टीका मे उल्लेख हैं कि सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा मे स्थित धरसेनाचार्य ने अगश्रुत के विच्छेद के भय से, महिमा नगरी में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के आचार्यो के पास एक लेख भेजा। आचार्यों ने लेख का प्रयोजन भलीभाँति समझकर शास्त्र धारण करने मे समर्थ दो प्रतिभासम्पन्न साधुओ को आन्ध्र देश के वेन्नातट से धरसेनाचार्य के पास भेजा। धरसेन ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र व शुभ वार में उन्हे ग्रन्थ पढाना प्रारम्भ किया। क्रमश व्याख्यान करते हुए आषाढ मास के शुक्लपक्ष की एकादशी के पूर्वाह्न मे ग्रन्थ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ की परिसमाप्ति से प्रसन्न हुए भूतो ने उन दो साधुओ मे से एक की पुष्पावली आदि से भारी पूजा की जिसे देख कर धरसेन ने उसका नाम 'भूतबलि' रखा। दूसरे की भूतो ने पूजा कर अस्त-व्यस्त दतपक्ति को समान कर दिया जिसे देखकर धरसेन ने उसका नाम 'पुष्पदन्त' रखा। वहाँ से प्रस्थान कर उन दोनो ने अङ्कुलेश्वर मे वर्षावास किया। वर्षावास समाप्त कर आचार्य पुष्पदन्त वनवास गये तथा भट्टारक भूतबलि द्रमिलदेश पहुँचे। पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर (सत्प्ररूपणा के) बीस सूत्र बना कर जिनपालित को पढा कर भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि ने जिनपालित के पास बीस सूत्र देखकर तथा पुष्पदन्त को अल्पायु जान कर महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (महाकम्मपयडिपाहुड) के विच्छेद की आशका से द्रव्यप्रमाणानुगम से प्रारम्भ कर आगे की ग्रथ-रचना की। अत इस खण्डसिद्धान्त की अपेक्षा से भूतबलि और पुष्पदन्त भी श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं। इस प्रकार मूलग्रन्थकर्ता वर्धमान भट्टारक है, अनुग्रथकर्ता गौतमस्वामी है तथा उपग्रन्थकर्ता राग-द्वेष-मोहरहित भूतबलि-पुष्पदन्त मुनिवर है।[2]

---

१. अग्गेणियस्स पुव्वस्स पचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम ॥ ४५ ॥

—पट्खण्डागम, पुस्तक ९, पृ० १३४.

२ पट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ६७–७२

षट्खण्डागम के प्रारम्भिक भाग सत्प्ररूपणा के प्रणेता आचार्य पुष्पदन्त हैं तथा शेष समस्त ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भूतबलि है। धवलाकार ने पुष्पदन्त-रचित जिन बीस सूत्रो का उल्लेख किया है वे सत्प्ररूपणा के बीस अधिकार ही हैं क्योकि उन्होने आगे स्पष्ट लिखा है कि भूतबलि ने द्रव्यप्रमाणानुगम से अपनी रचना प्रारम्भ की। सत्प्ररूपणा के बाद जहाँ से सख्याप्ररूपणा अर्थात् द्रव्यप्रमाणानुगम प्रारभ होता है वहाँ पर भी धवलाकार ने कहा है कि अब चौदह जीवसमासो के अस्तित्व को जान लेने वाले शिष्यो को उन्ही जीवसमासो के परिमाण के प्रतिबोधन के लिए भूतबलि आचार्य सूत्र कहते हैं सपहि चोद्द-सण्ह जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाण सिस्साण तेसिं चेव परिमाण-पडिबोहणट्ठ भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।[1]

आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समय विविध प्रमाणो के आधार पर वीर-निर्वाण के पश्चात् ६०० और ७०० वर्ष के बीच सिद्ध होता है।[2]

कर्मप्राभृत का विषय-विभाजन .

कर्मप्राभृत के छहो खण्डो की भाषा प्राकृत (शौरसेनी) है। आचार्य पुष्पदन्त ने १७७ सूत्रो मे सत्प्ररूपणा अश तथा आचार्य भूतबलि ने ६००० सूत्रो मे शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ लिखा।

कर्मप्राभृत के छ खण्डो के नाम इस प्रकार हैं १ जीवस्थान, २ क्षुद्रकबन्ध, ३ बधस्वामित्वविचय ४ वेदना, ५ वर्गणा, ६ महाबन्ध।

जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार तथा नौ चूलिकाए हैं। आठ अनुयोगद्वार इनसे सम्बन्धित हैं . १ सत्, २ सख्या (द्रव्यप्रमाण), ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७. भाव, ८ अल्पबहुत्व। नौ चूलिकाएँ ये हैं १ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २ स्थानसमुत्कीर्तन, ३-५ प्रथम-द्वितीय-तृतीय महादण्डक, ६ उत्कृष्टस्थिति, ७, जघन्यस्थिति, ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति, ९ गति-आगति। इस खड का परिमाण १८००० पद है।

क्षुद्रकबन्ध के ग्यारह अधिकार हैं १ स्वामित्व, २ काल, ३ अन्तर, ४ भगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८. नाना-जीव-काल, ९ नाना-जीव-अन्तर, १० भागाभागानुगम, ११ अल्पबहुत्वानुगम।

---

१ वही, पुस्तक ३, पृ० १

२ वही, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० २१-३१.

बन्धस्वामित्वविचय मे निम्न विषय है कर्मप्रकृतियो का जीवो के साथ बन्ध, कर्मप्रकृतियो की गुणस्थानो मे व्युच्छित्ति, स्वोदय बंधरूप प्रकृतियाँ, परोदय बंधरूप प्रकृतियाँ।

वेदना खण्ड मे कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वार है। कृति सात प्रकार की है १ नामकृति, २ स्थापनाकृति, ३ द्रव्यकृति, ४ गणनाकृति, ५. ग्रन्थकृति, ६ करणकृति, ७ भावकृति। वेदना के सोलह अधिकार है १. निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय, ९. स्वामित्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अनन्तर, १३. सन्निकर्ष, १४. परिमाण, १५ भागाभागानुगम, १६. अल्पबहुत्वानुगम। इस खण्ड का परिमाण १६००० पद है।

वर्गणा खण्ड का मुख्य अधिकार बंधनीय है जिसमे वर्गणाओ का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमे स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंध इन चार अधिकारो का भी अन्तर्भाव किया गया है।

तीस हजार श्लोक-प्रमाण महाबन्ध नामक छठे खण्ड मे प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इन चार प्रकार के बन्धो का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। इस महाबंध की प्रसिद्धि महाधवल के नाम से भी है।

जीवस्थान :

प्रारम्भ में आचार्य ने निम्नोक्त मंगलमंत्र दिया है

णमो अरिहंताण णमो सिद्धाण णमो आइरियाण।
णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूण॥

इस मंत्र द्वारा ग्रंथकार ने अरिहंतो, सिद्धो, आचार्यो, उपाध्यायो एवं लोक के सब साधुओ को नमस्कार किया है।

चौदह जीवसमासो (गुणस्थानो) के अन्वेषण के लिए आचार्य ने चौदह मार्गणास्थानो का उल्लेख किया है १ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११. भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञा, १४ आहार।[1]

इन्ही चौदह जीवसमासो के निरूपण के लिए सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वार कहे गये है।[2]

---

१. सू० २-४ (पुस्तक १). २. सू० ७.

१ सत्प्ररूपणा—सत्प्ररूपणा मे दो प्रकार का कथन होता है ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से और आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से।[1]

ओघ की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीव है, सासादनसम्यग्दृष्टि जीव हैं, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि जीव हैं, असयत-सम्यग्दृष्टि जीव है, सयतासयत जीव है, प्रमत्तसयत जीव हैं, अप्रमत्तसयत जीव है, अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतो में उपशमक और क्षपक जीव है, अनिवृत्ति-बादर साम्परायिक-प्रविष्ट-शुद्धि-सयतो मे उपशमक और क्षपक जीव है, सूक्ष्म-साम्परायिक-प्रविष्ट-शुद्धि-सयतो मे उपशमक और क्षपक जीव है, उपशान्त-कषाय-वीतराग-छदमस्थ जीव हैं, क्षीण-कषाय-वीतराग-छदमस्थ जीव है, सयोगकेवली अथवा सयोगिकेवली जीव है, अयोगकेवली अथवा अयोगिकेवली जीव है, सिद्ध जीव है ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी ॥ ९ ॥ सासणसम्माइट्ठी ॥ १० ॥ सम्मामिच्छाइट्ठी ॥ ११ ॥ असजद-सम्माइट्ठी ॥ १२ ॥ सजदा-सजदा ॥ १३ ॥ पमत्तसजदा ॥ १४ ॥ अप्पमत्तसजदा ॥ १५ ॥ अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-सजदेसु अत्थि उव-समा खवा ॥ १६ ॥ अणियट्टि-बादर-मापराइयपविट्ठ-सुद्धि-सजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥१७॥ सुहुम-सापराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १८ ॥ उवसत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ॥ १९ ॥ खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ॥ २० ॥ सजोगकेवली ॥ २१ ॥ अजोगकेवली ॥ २२ ॥ सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

आदेश की अपेक्षा से गत्यनुवाद से नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति एव सिद्धगति है आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ २४ ॥

नारकी प्रारभ के चार गुणस्थानो में होते है। तिर्यञ्च प्रथम पाँच गुणस्थानो में होते है। मनुष्य चौदहो गुणस्थानो मे पाये जाते है। देव प्रारंभिक चार गुण-स्थानो में होते है।[2]

एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीव शुद्ध तिर्यञ्च होते हैं। सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयतासयत तक के तिर्यञ्च मिश्र है। मिथ्यादृष्टि से लेकर मयतासयत तक के मनुष्य मिश्र हैं। इससे आगे शुद्ध मनुष्य है।[3]

इन्द्रिय की अपेक्षा से एकेन्द्रिय यावत् पचेन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय जीव है। एकेन्द्रिय दो प्रकार के है बादर और सूक्ष्म। बादर दो प्रकार के है पर्याप्त-

---

१. सू० ८ २ सू० २५–२८. ३ सू० २९–३२.

और अपर्याप्त। सूक्ष्म भी दो प्रकार के हैं पर्याप्त और अपर्याप्त। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एव चतुरिन्द्रिय भी पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के है। पचेन्द्रिय दो तरह के है सज्ञी और असज्ञी। सज्ञी और असज्ञी पुन पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के है।[1]

एकेन्द्रिय यावत् असज्ञी पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं। असज्ञी पचेन्द्रिय (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) से लेकर अयोगिकेवली (गुणस्थान) तक पचेन्द्रिय जीव होते हैं। इससे आगे (सिद्धावस्था मे) अनिन्द्रिय जीव हैं।[2]

काय की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और अकायिक जीव है। पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक वादर तथा सूक्ष्म के भेद से दो दो प्रकार के है। वादर तथा सूक्ष्म पुन पर्याप्त एव अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। वनस्पतिकायिक दो प्रकार के है. प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर। प्रत्येक-शरीर दो प्रकार के हैं पर्याप्त और अपर्याप्त। साधारण शरीर दो प्रकार के हैं वादर और सूक्ष्म। वादर और सूक्ष्म पुन पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। त्रसकायिक भी पर्याप्त एव अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं।[3]

पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे ही होते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली तक त्रसकायिक होते है। वादर एकेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त वादरकायिक होते हैं। त्रस और स्थावर—इन दोनो कायो से रहित जीव अकायिक है।[4]

योग की अपेक्षा से जीव मनोयोगी, वचनयोगी एव काययोगी होते है। अयोगी जीव भी होते है। मनोयोग चार प्रकार का है १. सत्यमनोयोग, २. मृषामनोयोग, ३ सत्यमृषामनोयोग, ४ असत्यमृषामनोयोग।[5]

सामान्यतया मनोयोग तथा विशेपतया सत्यमनोयोग एव असत्यमृषामनोयोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होता है। मृषामनोयोग एव सत्य-मृषामनोयोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ तक होता है।[6]

वचनयोग भी चार प्रकार का है १. सत्यवचनयोग, २. मृषावचनयोग, ३ सत्यमृषावचनयोग, ४ असत्यमृषावचनयोग। सामान्यरूप से वचनयोग तथा

---

१ सू० ३३-३५, २ सू० ३६-३८, ३ सू० ३९-४२.
४. सू० ४३-४६ ५ सू० ४७-४९ ६ सू० ५०-५१.

विशेषरूप मे असत्यमृषावचनयोग द्वीन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होता है। सत्यवचनयोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होता है। मृषा-वचनयोग एव सत्यमृषावचनयोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ तक होता है।[1]

काययोग सात प्रकार का है - १ औदारिक काययोग, २ औदारिकमिश्र-काययोग, ३ वैक्रियिककाययोग, ४ वैक्रियिकमिश्रकाययोग, ५ आहारककाय-योग, ६ आहारकमिश्रकाययोग, ७ कार्मणकाययोग। इनमें से औदारिककाय-योग एव औदारिकमिश्रकाययोग तिर्यञ्चो व मनुष्यो के होता है। वैक्रियिककाय-योग एव वैक्रियिकमिश्रकाययोग देवो व नारकियो के होता है। आहारककाय-योग एव आहारकमिश्रकाययोग ऋद्धिप्राप्त सयतो के होता है। कार्मणकाययोग विग्रहगतिसमापन्न जीवो तथा समुद्घातगत केवलियो के होता है।[2]

सामान्यत काययोग तथा विशेषत औदारिककाययोग एव औदारिकमिश्र-काययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होता है। वैक्रियिककाययोग एव वैक्रियिकमिश्रकाययोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असयतसम्यग्दृष्टि तक होता है। आहारककाययोग एवं आहारकमिश्रकाययोग प्रमत्तसयत गुणस्थान मे ही होता है। कार्मणकाययोग एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होता है।[3]

मनोयोग, वचनयोग एव काययोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होता है। वचनयोग एव काययोग द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक होता है। काययोग एकेन्द्रिय जीवो के होता है।[4] इस कथन का तात्पर्य यह है कि एकेन्द्रिय के एक ही योग (काययोग) होता है, द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त दो योग (काययोग और वचनयोग) होते है, शेष जीवो के तीनो योग होते है।

मनोयोग एव वचनयोग पर्याप्तको के ही होता है, अपर्याप्तको के नही। काययोग पर्याप्तको के भी होते है एव अपर्याप्तको के भी।[5]

छ पर्याप्तियाँ व छः अपर्याप्तियाँ होती है। सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर असयतसम्यग्दृष्टि तक छहो पर्याप्तियाँ होती हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचे-न्द्रिय तक पाँच पर्याप्तियाँ होती है एकेन्द्रिय के चार पर्याप्तियाँ होती है।[6]

---

१ सू ५२–५५ २ सू. ५६–६० ३. सू ६१–६४.
४ सू. ६५–६७. ५ सू. ६८–६९. ६. सू ७०–७५.

औदारिककाययोग, वैक्रियिककाययोग एव आहारककाययोग पर्याप्तकों के होता है। औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग एव आहारकमिश्र-काययोग अपर्याप्तकों के होता है।[१]

प्रथम पृथ्वी के नारकी मिथ्यादृष्टि एव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं तथा अपर्याप्तक भी, किन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि एव सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नियमत: पर्याप्तक होते हैं। द्वितीय पृथ्वी से लेकर सप्तम पृथ्वी तक के नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं एव अपर्याप्तक भी, किन्तु सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में नियमत पर्याप्तक होते हैं।[२]

तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि एवं असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं तथा अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एव सयता-सयत गुणस्थान में नियमत पर्याप्तक होते हैं। योनिवाले पचेन्द्रियतिर्यञ्च मिथ्या-दृष्टि एव सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं तथा अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि एव सयतासयत गुणस्थान में नियमत पर्याप्तक होते हैं।[३]

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि एव असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं तथा अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, सयतासयत एव सयत गुणस्थान में नियमत पर्याप्तक होते हैं।[४] स्त्रियाँ मिथ्यादृष्टि एव सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होती हैं व अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, एव सयतासयत[५] गुणस्थान में नियमत पर्याप्तक होती हैं।[६]

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि एव असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्या-प्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नियमतः पर्याप्तक होते हैं। भवनवासी, वानव्यन्तर एव ज्योतिष्क देव व देवियाँ तथा सौधर्म एव ईशान कल्पवासिनी देवियाँ—ये सब मिथ्यादृष्टि एव सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-

---

१ सू. ७६–७८ २ सू ७९–८३ ३ सू ८४–८८ ४ सू ८९–९१,
५ षट्खण्डागम (पुस्तक १, पृ० ३३२) के हिन्दी अनुवाद में सयत गुणस्थान का भी उल्लेख है। टिप्पणी में लिखा है अत्र 'सजद' इति पाठशेष प्रतिभाति।

६. सू ९२–९३

मिथ्यादृष्टि एव असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे नियमत पर्याप्तक होते है। सौधर्म-ईशान से लेकर उपरिम ग्रैवेयक के उपरिम भाग तक के विमानवासी देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि एव असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी, किन्तु सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे नियमत पर्याप्तक होते है। अनुदिशो एव विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित व सर्वार्थ-सिद्धिरूप अनुत्तर विमानो मे रहनेवाले देव असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक भी होते है और अपर्याप्तक भी।[1]

वेद की अपेक्षा से स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद तथा अपगतवेद वाले जीव होते है। स्त्रीवेद और पुरुषवेद वाले जीव असज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-करण गुणस्थान तक होते है। नपुसकवेद वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्ति-करण गुणस्थान तक पाये जाते है। इससे आगे जीव अपगतवेद अर्थात् वेदरहित होते है।[2]

नारकी चारो गुणस्थानो मे शुद्ध अर्थात् केवल नपुसकवेदी होते है। तिर्यञ्च एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक शुद्ध नपुसकवेदी होते है तथा असज्ञी पचेन्द्रिय से लेकर सयतासयत गुणस्थान तक तीनो वेदों से युक्त होते है। मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक तीनो वेदो से युक्त होते है तथा आगे वेदरहित होते है। देव चारों गुणस्थानो मे स्त्रीवेद व पुरुषवेद—इन दो वेदो से युक्त होते है।[3]

कषाय की अपेक्षा से जीव क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभ-कषायी एव अकषायी (कषायरहित) होते है। क्रोधकषायी, मानकषायी एव मायाकषायी एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते है। लोभकषायी एकेन्द्रिय से लेकर सूक्ष्म-साम्परायिक-शुद्धि-सयत गुणस्थान तक होते है। उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली एव अयोगि-केवली गुणस्थान मे अकषायी होते है।[4]

ज्ञान की अपेक्षा से जीव मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभगज्ञानी, आभिनिबोधिक-ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी एव केवलज्ञानी होते है। मत्यज्ञानी तथा श्रुताज्ञानी एकेन्द्रिय से लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते है।

---

१ सू० ९४–१०० २ सू० १०१–१०४
३ सू० १०५–११० ४. सू० १११–११४

विभगज्ञान सज्ञी मिथ्यादृष्टि तथा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवो को होता है। यह पर्याप्तको को ही होता है, अपर्याप्तको को नही। सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे प्रारम्भ के तीनो ज्ञान अज्ञान से मिश्रित होते है। आभिनिबोधिकज्ञान मत्यज्ञान से, श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान से तथा अवधिज्ञान विभगज्ञान से मिश्रित होता है। आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकपायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते है। मन पर्ययज्ञानी प्रमत्तसयत से लेकर क्षीणकपायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते है। केवलज्ञानी सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध—इन तोन अवस्थाओ मे होते है।[1]

सयम की अपेक्षा से जीव सामायिकशुद्धिसयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसयत, परिहारशुद्धिसयत, सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसयत, सयतासयत व असयत होते है। सयत प्रमत्तसयत से लेकर अयोगिकेवली तक होते है। सामायिकशुद्धिसयत व छेदोपस्थापनाशुद्धिसयत प्रमत्तसंयत से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते है। परिहारशुद्धिसयत प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत—इन दो गुणस्थानो मे होते है। सूक्ष्मसापरायिकशुद्धिसयत केवल सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसयत गुणस्थान मे ही होते है। यथाख्यातविहारशुद्धिसयत उपशान्तकपायवीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली—इन चार गुणस्थानो मे होते है। सयतासयत एक सयतासयत गुणस्थान मे ही होते हैं। असयत एकेन्द्रिय से लेकर असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते है।[2]

दशन की अपेक्षा से जीव चक्षुर्दर्शनी, अचक्षुर्दर्शनी, अवधिदर्शनी एवं केवलदर्शनी होते है। चक्षुर्दर्शनी चतुरिन्द्रिय से लेकर क्षीणकपायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते है। अचक्षुर्दर्शनी एकेन्द्रिय से लेकर क्षीणकपायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते है। अवधिदर्शनी असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकपायवीतर
गुणस्थान तक होते है। केवलदर्शनी सयोगिकेवली, अयोगिकेवली औ
तीन अवस्थाओ मे होते है।[3]

लेश्या की अपेक्षा से जीव कृ
पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या एवं

लेश्या

१.

होते है। शुक्ललेश्या वाले जीव सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते है। इसके आगे जीव अलेश्या वाले अर्थात् लेश्यारहित होते हैं।[१]

भव्यत्व की अपेक्षा से जीव भव्यसिद्धिक एव अभव्यसिद्धिक होते है। भव्य-सिद्धिक एकेन्द्रिय से लेकर अयोगिकेवली तक होते है। अभव्यसिद्धिक एकेन्द्रिय से लेकर सज्ञी मिथ्यादृष्टि तक होते है।[२]

सम्यक्त्व की अपेक्षा से जीव सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एव मिथ्यादृष्टि होते है। सम्यग्दृष्टि तथा क्षायिकसम्यग्दृष्टि असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते है। वेदकसम्यग्दृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसयत गुणस्थान तक होते है। उपशमसम्यग्दृष्टि असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते है। सासादन-सम्यग्दृष्टि एक सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं। सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एक सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे ही होते है। मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय से लेकर सज्ञी मिथ्यादृष्टि तक होते हैं।[3]

प्रथम पृथ्वी के नारकी असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि एव उपशमसम्यग्दृष्टि होते है। द्वितीयादि पृथ्वी के नारकी असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नही होते अपितु वेदकसम्यग्दृष्टि तथा उपशमसम्यग्दृष्टि होते है।[४]

तिर्यञ्च असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि एव उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं तथा सयतासयत गुणस्थान मे क्षायिकसम्यग्दृष्टि नही होते किन्तु वेदकसम्यग्दृष्टि एव उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं। योनि वाले पचेन्द्रिय तिर्यञ्च असयतसम्यग्दृष्टि तथा सयतासयत दोनो गुणस्थानो में क्षायिकसम्यग्दृष्टि नही होते अपितु शेप दो सम्यग्दर्शनो से युक्त होते हैं।[५]

मनुष्य असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत एव सयत गुणस्थान में क्षायिक-सम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि एव उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।[६]

देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि तथा उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं। भवनवासी, वानव्यन्तर एव ज्योतिष्क देव और

---

१. सू० १३६–१४० २ सू० १४१–१४३. ३. सू० १४४–१५०.
४. सू० १५३–१५५. ५. सू० १५८–१६१. ६. सू० १६४.

देवियाँ तथा सौधर्म एव ईशान कल्पवासिनी देवियाँ असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे क्षायिकसम्यग्दृष्टि नही होते, शेष दो प्रकार के सम्यग्दर्शन से युक्त होते हैं।[1]

सज्ञा की अपेक्षा से जीव सज्ञी एव असज्ञी होते हैं। सज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान तक होते है। असज्ञी एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक होते है।[2]

आहार की अपेक्षा से जीव आहारक एव अनाहारक होते है। आहारक एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं। विग्रहगतिसमापन्न जीव, समुद्घातगत केवली, अयोगिकेवली तथा सिद्ध अनाहारक होते है।[3]

२ **द्रव्यप्रमाणानुगम**—सत्प्ररूपणा की तरह द्रव्यप्रमाणानुगम मे भी दो प्रकार का कथन होता है ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से और आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से दव्वपमाणाणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥ १ ॥

ओघ की अपेक्षा से द्रव्यप्रमाण से प्रथम गुणस्थानवर्ती अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव कितने हैं ? अनन्त हैं ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, अणता ॥ २ ॥

कालप्रमाण से मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त अवसर्पिणियो व उत्सर्पिणियो द्वारा अपहृत नही होते अणताणताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरति कालेण ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रमाण से मिथ्यादृष्टि जीवराशि अनन्तानन्त लोकप्रमाण हैं खेत्तेण अणताणता लोगा ॥ ४ ॥

उपर्युक्त तीनो प्रमाणो का ज्ञान ही भावप्रमाण है तिण्हं पि अधिगमो भावपमाण ॥ ५ ॥

सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सयतासयत गुणस्थान तक (प्रत्येक गुणस्थान मे) द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव हैं ? पल्योपम के असख्यातवें भागप्रमाण हैं।[4]

प्रमत्तसयत गुणस्थान मे द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव है ? कोटिपृथक्त्वप्रमाण है।[5]

अप्रमत्तसयत गुणस्थान मे द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव है ? सख्येय है।[6]

---

१ सू० १६८–१६९ २ सू० १७२–१७४ ३ सू० १७५–१७७.
४ सू० ६ (पुस्तक ३), ५. सू० ७ ६ सू० ८.

उपशमश्रेणी के चार गुणस्थानो मे से प्रत्येक मे द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव है ? प्रवेश की अपेक्षा से एक, दो या तीन तथा उत्कृष्टतया चौवन है। काल की अपेक्षा से सख्येय है।[1]

क्षपकश्रेणी के चार गुणस्थानो मे से प्रत्येक मे तथा अयोगिकेवली गुणस्थान मे द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से कितने जीव हैं ? प्रवेश की अपेक्षा से एक, दो अथवा तीन तथा उत्कृष्टतया एक सौ आठ हैं। काल की अपेक्षा से सख्येय है।[2]

सयोगिकेवली गुणस्थान मे प्रवेश की अपेक्षा से एक, दो या तीन तथा उत्कृष्टतया एक सौ आठ जीव होते हैं। काल की अपेक्षा से यह सख्या लक्ष-पृथक्त्व होती है।[3]

द्रव्यप्रमाणानुगमविषयक यह कथन ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से है। आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से एतद्विषयक कथन इस प्रकार है

गति की अपेक्षा से नरकगतिगत नारकियो मे मिथ्यादृष्टि जीव असख्येय होते हैं। ये असख्येयासख्येय अवसर्पिणियो व उत्सर्पिणियो द्वारा अपहृत हो जाते हैं।[4] सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर असयतसम्यग्दृष्टि तक का कथन सामान्य प्ररूपणा के समान समझना चाहिए।[5]

तिर्यञ्चगतिगत तिर्यञ्चो मे मिथ्यादृष्टि से लेकर सयतासयत तक का सम्पूर्ण कथन सामान्यवत् है।[6] पचेन्द्रियतिर्यञ्च-मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से असख्येयासख्येय अवसर्पिणियो व उत्सर्पिणियो द्वारा अपहृत होते है।[7] सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर सयतासयत तक का कथन सामान्य तिर्यञ्चो के समान है।[8] योनिवाले पचेन्द्रियतिर्यञ्च-मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा से असख्येय है, आदि।[9]

मनुष्यगतिगत मनुष्यो मे मिथ्यादृष्टि असख्येय है तथा असख्येयासख्येय अवसर्पिणियो व उत्सर्पिणियो द्वारा अपहृत होते है। ये जगश्रेणी के असख्यातवे भागप्रमाण है। इस श्रेणी का आयाम असख्येय कोटि योजन है। सासादन-सम्यग्दृष्टि से लेकर सयतासयत तक प्रत्येक गुणस्थान मे सख्येय मनुष्य होते है। प्रमत्तसयत से लेकर अयोगिकेवली तक का कथन सामान्य प्ररूपणा के समान है।[10] स्त्रियो मे मिथ्यादृष्टि कोटाकोटाकोटि के ऊपर यथा कोटाकोटाकोटाकोटि के

---

१ सू० ९–१० २ सू० ११–१२ ३ सू० १३–१४
४ सू० १५–१६ ५ सू० १८ ६ सू० २४.
७ सू० २५–२६. ८. सू० २८ ९ सू० ३३–३६.
१० सू० ४०–४४.

नीचे छठे वर्ग के ऊपर तथा सातवें वर्ग के नीचे है। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवली तक प्रत्येक गुणस्थान मे मरुष्य स्त्रियाँ होती है।[१]

देवगतिगत देवो मे मिथ्यादृष्टि असख्येय है तथा असख्येयासख्येय अवसर्पिणियो व उत्सर्पिणियो द्वारा अपहृत होते है। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि तथा असयतसम्यग्दृष्टि देवो का वर्णन सामान्यवत् है। भवनवासी देवो में मिथ्यादृष्टि असख्येय होते है, इत्यादि।[२]

इन्द्रिय की अपेक्षा से एकेन्द्रिय अनन्त है, अनन्तानन्त अवसर्पिणियो व उत्सर्पिणियो द्वारा अपहृत नही होते तथा अनन्तानन्त लोकप्रमाण है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय असख्येय है, असख्येय[3] अवसर्पिणियो और उत्सर्पिणियो द्वारा अपहृत होते हैं, इत्यादि। पचेन्द्रियो मे मिथ्यादृष्टि असख्येय हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगिकेवली तक का कथन सामान्यवत् है।[४]

काय की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, बादर पृथ्वीकायिक, बादर अप्कायिक, बादरतेजस्कायिक, बादर वायुकायिक, बादर वनस्पतिकायिक-प्रत्येकशरीर तथा इन पाँच के अपर्याप्त, सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म अप्कायिक, सूक्ष्म तेजस्कायिक, सूक्ष्म वायुकायिक तथा इन चार के पर्याप्त एवं अपर्याप्त असख्येय लोकप्रमाण हैं। बादर पृथ्वीकायिक, बादर अप्कायिक एव बादर वनस्पतिकायिक-प्रत्येकशरीर के पर्याप्त असख्येय है, आदि। त्रसकायिक एवं त्रसकायिक-पर्याप्तो मे मिथ्यादृष्टि असख्येय है, असख्येयासख्येय अवसर्पिणियो व उत्सर्पिणियो द्वारा अपहृत होते है, इत्यादि।[५]

योग की अपेक्षा से पचमनोयोगियो एव त्रिवचनयोगियो मे मिथ्यादृष्टि कितने हैं? देवो के सख्यातवे भागप्रमाण हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर सयता संयत तक का कथन सामान्यवत् है। प्रमत्तसयत से लेकर सयोगिकेवली तक सख्येय है।[६] वचनयोगियो एव असत्यमृषा-वचनयोगियो मे मिथ्यादृष्टि असख्येय है। सासादनसम्यग्दृष्टि आदि सामान्यवत् है।[७] काययोगियो एव औदारिक-काययोगियो मे मिथ्यादृष्टि सामान्यवत् है तथा सासादनसम्यग्दृष्टि आदि मनोयोगियो के समान है। औदारिकमिश्र-काययोगियो मे मिथ्यादृष्टि एव सासादन-सम्यग्दृष्टि सामान्यवत् है तथा असयतसम्यग्दृष्टि एव सयोगिकेवली सख्येय

१. सू० ४८-४९　　२ सू० ५३-७३

३. यहाँ अर्थसदर्भ की दृष्टि से 'असख्येयासख्येय' शब्द होना चाहिए।

४. सू० ७४-८६.　　५. सू० ८७-१०२　　६. सू० १०३-१०५.

७. सू० १०६-१०९.

है। वैक्रियिक-काययोगियो मे मिथ्यादृष्टि देवो के सख्यातवें भागप्रमाण न्यून हैं तथा सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि एव असयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् है। वैक्रियिकमिश्र-काययोगियो मे मिथ्यादृष्टि देवो के संख्यातवें भागप्रमाण है तथा सासादनसम्यग्दृष्टि एव असयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् है। आहारक-काययोगियो मे प्रमत्तसयत चौवन हैं। आहारकमिश्र-काययोगियो मे प्रमत्तसयत सख्येय हैं। कार्मण-काययोगियो में मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि तथा असयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् एव सयोगिकेवली सख्येय है।[1]

वेद की अपेक्षा से स्त्रीवेदियो मे मिथ्यादृष्टि देवियो से कुछ अधिक हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर सयतासयत तक का प्ररूपण सामान्यवत् है। प्रमत्त-सयत से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकप्रविष्ट उपशमक तथा क्षपक तक सख्येय है। पुरुषवेदियो में मिथ्यादृष्टि देवो से कुछ अधिक है। सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकप्रविष्ट उपशमक तथा क्षपक तक का प्ररूपण सामान्य के समान हैं। नपुसकवेदियो मे मिथ्यादृष्टि से लेकर सयतासयत तक का कथन सामान्यवत् है। प्रमत्तसयत से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकप्रविष्ट उपशमक तथा क्षपक तक सख्येय नपुसकवेदी है। अपगतवेदियो मे तीन प्रकार के उपशमक प्रवेशत एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्टत चौवन है तथा तीन प्रकार के क्षपक, सयोगिकेवली एव अयोगिकेवली सामान्यवत् है।[2]

कषाय की अपेक्षा से क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी एव लोभकषायी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयतासयत तक सामान्यवत् है तथा प्रमत्तसयत से लेकर अनिवृत्तिकरण तक सख्येय है।

लोभकषायी सूक्ष्मसाम्परायिकशुद्धिसयत उपशमक तथा क्षपक, अकषायी उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली एव अयोगिकेवली सामान्यवत् है।[3]

ज्ञान की अपेक्षा से मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीवो मे मिथ्यादृष्टि एवं सासादनसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं। विभगज्ञानियो में मिथ्यादृष्टि देवो से कुछ अधिक है तथा सासादनसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् है। आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुत-ज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवो में असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ तक का कथन सामान्य प्ररूपणा के समान है। इतनी विशेषता है कि अवधिज्ञानियो मे प्रमत्तसयत से लेकर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ तक सख्येय प्राणी होते है। मन पर्यायज्ञानियो में प्रमत्तसयत से लेकर क्षीणकषायवीतराग-

---

१ सू० ११०–१२३ २ सू० १२४–१३४. ३. सू० १३५–१४०.

छद्मस्थ तक प्राणिसंख्या संख्येय है। केवलज्ञानियों में सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं।[1]

संयम की अपेक्षा से संयतों में प्रमत्तसंयत से लेकर अयोगिकेवली तक प्राणिसंख्या सामान्यवत् है। सामायिक एवं छेदोपस्थापन-शुद्धिसंयतों में प्रमत्तसंयत से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्परायिकप्रविष्ट उपशमक और क्षपक तक का निरूपण सामान्य की तरह है। परिहारविशुद्धिसंयतों में प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत संख्येय हैं। शेष कथन सामान्यवत् है।[2]

दर्शन की अपेक्षा से चक्षुदर्शनी मिथ्यादृष्टि असंख्येय हैं। शेष प्ररूपण सामान्य के समान है।[3]

लेश्या की अपेक्षा से कृष्णलेश्या, नीललेश्या एवं कापोतलेश्या वाले जीवों में मिथ्यादृष्टि यावत् असंयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं। तेजोलेश्या वालों में मिथ्यादृष्टि ज्योतिष्क देवों से कुछ अधिक हैं, सासादनसम्यग्दृष्टि यावत् संयतासंयत सामान्यवत् हैं, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत संख्येय हैं। पद्मलेश्या वालों में मिथ्यादृष्टि संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-योनियुक्त प्राणियों के संख्यातवें भागप्रमाण हैं, सासादनसम्यग्दृष्टि यावत् संयतासंयत सामान्यवत् हैं, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत संख्येय हैं। शुक्ललेश्यायुक्त जीवों में मिथ्यादृष्टि यावत् संयतासंयत पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत संख्येय हैं, अपूर्वकरण यावत् सयोगिकेवली सामान्यवत् हैं।[4]

भव्यत्व की अपेक्षा से भव्यसिद्धिकों में मिथ्यादृष्टि यावत् अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं। अभव्यसिद्धिक अनन्त हैं।[5]

सम्यक्त्व की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टि यावत् अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टि सामान्यवत् हैं, संयतासंयत यावत् उपशान्त-कषायवीतरागछद्मस्थ संख्येय हैं, चारों (घाती कर्मों के) क्षपक, सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली सामान्यवत् हैं। वेदकसम्यग्दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टि यावत् अप्रमत्तसंयत सामान्यवत् हैं। उपशमसम्यग्दृष्टियों में असंयतसम्यग्दृष्टि एवं संयतासंयत सामान्यवत् हैं, प्रमत्तसंयत यावत् उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ संख्येय हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि सामान्य प्ररूपणा के ही समान हैं।[6]

---

१ सू० १४१-१४७। २ सू० १४८-१५४। ३ सू० १५५-१६१।
४. सू० १६२-१७१। ५ सू० १७२-१७३। ६. सू० १७४-१८४।

संज्ञा की अपेक्षा से संज्ञियो मे मिथ्यादृष्टि देवो से कुछ अधिक है, सासादन-सम्यग्दृष्टि यावत् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ सामान्यवत् है। असज्ञी अनन्त है।[1]

आहार की अपेक्षा से आहारको मे मिथ्यादृष्टि यावत् सयोगिकेवली सामान्यवत् है। अनाहारको मे मिथ्यादृष्टि आदि कार्मणकाययोगियो के सदृश है तथा अयोगिकेवली सामान्यवत् है।[2]

३ क्षेत्रानुगम—क्षेत्रानुगम में भी दो प्रकार का कथन होता है ओघ अर्थात् सामान्य की दृष्टि से और आदेश अर्थात् विशेष की दृष्टि से।[3]

सामान्य की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि सर्वलोक मे रहते है। सासादनसम्यग्दृष्टि यावत् अयोगिकेवली लोक के असख्यातवें भाग मे रहते है। सयोगिकेवली लोक के असख्यातवें भाग मे अथवा असख्येय भागो मे अथवा सर्वलोक मे रहते है।[4]

विशेष की अपेक्षा से नरकगति मे उत्पन्न मिथ्यादृष्टि यावत् असयतसम्यग्दृष्टि लोक के असंख्यातवें भाग मे रहते है, इत्यादि।[5]

४ स्पर्शनानुगम—स्पर्शनानुगम की अपेक्षा से भी दो प्रकार का कथन होता है सामान्य की दृष्टि से और विशेष की दृष्टि से। सामान्य की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि जीवो ने सारा लोक स्पर्श किया है। सासादनसम्यग्दृष्टि जीवो ने लोक का असख्यातवां भाग स्पर्श किया है, इत्यादि।[6] विशेष की दृष्टि से नारकियो में मिथ्यादृष्टियो ने लोक का असख्यातवां भाग स्पर्श किया है, इत्यादि।[7]

५ कालानुगम—काल की अपेक्षा से सामान्यतया मिथ्यादृष्टि नाना जीवो की अपेक्षा से सर्वदा होते है। एक जीव की अपेक्षा से काल तीन प्रकार का है अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमे से सादि-सान्त जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त एव उत्कृष्टतया अर्धपुद्गलपरिवर्तन से कुछ कम है। सासादनसम्यग्दृष्टि नाना जीवो की अपेक्षा से जघन्यतया एक समय तक तथा उत्कृष्टतया पल्योपम के असख्यातवें भाग पर्यन्त होते है। एक जीव की अपेक्षा से जघन्य काल एक समय तथा उत्कृष्ट काल छ आवलिकाएँ है। इसी प्रकार सम्यक्-मिथ्यादृष्टि आदि के विषय मे भी यथावत् समझना चाहिए।[8] विशेष की अपेक्षा से नारकियो मे

---

१ सू० १८५-१८९ २ सू० १९०-१९२ ३ सू० १ (पुस्तक ४)
४ सू० २-४ ५ सू० ५-९२ ६ सू० १-१० (स्पर्शनानुगम).
७ सू० ११-१८५ ८ सू० १-३२ (कालानुगम).

मिथ्यादृष्टि नाना जीवो की अपेक्षा से सर्वदा होते है। एक जीव की अपेक्षा से यह काल जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त एव उत्कृष्टतया तैतीस सागरोपम है, इत्यादि।[1]

६ अन्तरानुगम—अन्तरानुगम[2] मे भी दो प्रकार का कथन होता है सामान्य की अपेक्षा से और विशेष की अपेक्षा से। सामान्य की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीवो का नाना जीवो की दृष्टि से अन्तर नही है अर्थात् वे निरन्तर है। एक जीव की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त एव उत्कृष्ट दो छासठ (एक सौ बत्तीस) सागरोपम से कुछ कम अन्तर है। सासादनसम्यग्दृष्टि एव सम्यक्-मिथ्यादृष्टि जीवो का अन्तर नाना जीवो की अपेक्षा से जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट पल्योपम का असख्यातवाँ भाग है। एक जीव की अपेक्षा से जघन्य अन्तर क्रमश पल्योपम का असख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर अर्धपुद्गलपरिवर्तन से कुछ कम है। इसी प्रकार आगे के गुणस्थानो के विषय मे यथावत् समझ लेना चाहिए।[3]

विशेष की अपेक्षा से नरकगतिस्थित मिथ्यादृष्टि एव असयतसम्यग्दृष्टि जीवो का नाना जीवो की दृष्टि से अन्तर नही है। एक जीव की दृष्टि से इनका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर तैतीस सागरोपम से कुछ कम है। इसी प्रकार आगे भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[4]

७ भावानुगम—सामान्यतया मिथ्यादृष्टि के औदयिक भाव, सासादन-सम्यग्दृष्टि के पारिणामिक भाव, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि के क्षायोपशमिक भाव एव असयतसम्यग्दृष्टि के औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव होता है। असयतसम्यग्दृष्टि का असयतत्व औदयिक भाव से होता है। सयतासयत, प्रमत्त-सयत एव अप्रमत्तसयत के क्षायोपशमिक भाव, चार उपशमको के औपशमिक भाव तथा चार क्षपको, सयोगिकेवली एव अयोगिकेवली के क्षायिक भाव होता है।[5]

---

१ सू० ३३-३४२
२ विवक्षित गुणस्थान से गुणस्थानान्तर मे सक्रमण होने पर पुन उस गुणस्थान की प्राप्ति जब तक नही होती तब तक का काल अन्तर कहा जाता है।
३ सू० १-२० (पुस्तक ५) ४. सू० २१-३९७.
५ सू० १-९ (भावानुगम)

विशेषतया नरकगतिस्थित मिथ्यादृष्टि के औदयिक भाव, सासादनसम्यग्दृष्टि के पारिणामिक भाव, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि के क्षायोपशमिक भाव होता है, आदि।[1]

८ अल्पबहुत्वानुगम—सामान्यतया अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानों में उपशमक जीव प्रवेश की अपेक्षा से तुल्य हैं तथा सब गुणस्थानों से अल्प हैं। उपशान्त-कषायवीतरागछद्मस्थ भी उतने ही हैं। तीन प्रकार के क्षपक उनसे संख्येयगुणित हैं। क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ पूर्वोक्त प्रमाण ही हैं। सयोगिकेवली एवं अयोगिकेवली प्रवेश की अपेक्षा से तुल्य तथा पूर्वोक्त प्रमाण हैं।[2]

विशेषतया नारकियों में सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे कम हैं। सम्यक्-मिथ्यादृष्टि उनसे संख्येयगुणित हैं। असंयतसम्यग्दृष्टि सम्यक्-मिथ्यादृष्टियों से असंख्येयगुणित हैं। मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टियों से असंख्येय गुणित हैं।[3] इस प्रकार अल्प-बहुत्व का विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है।[4] यहाँ तक जीवस्थान के सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोगद्वारों का अधिकार है। उसके बाद प्रकृतिसमु-त्कीर्तन आदि नौ चूलिकाएँ हैं।

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन—कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं १. ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय। ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं १ आभिनिबोधिक-ज्ञानावरणीय, २ श्रुतज्ञानावरणीय, ३ अवधिज्ञानावरणीय, ४ मनःपर्ययज्ञाना-वरणीय, ५ केवलज्ञानावरणीय। दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तरप्रकृतियाँ हैं १. निद्रानिद्रा, २ प्रचलाप्रचला, ३ स्त्यानगृद्धि, ४ निद्रा, ५ प्रचला, ६ चक्षुर्दर्शनावरणीय, ७ अचक्षुर्दर्शनावरणीय, ८. अवधिदर्शनावरणीय, ९ केवल-दर्शनावरणीय। वेदनीय कर्म की दो, मोहनीय कर्म की अट्ठाईस, आयु कर्म की चार, नाम कर्म की बयालीस (पिण्डप्रकृतियाँ), गोत्र कर्म की दो और अन्तराय कर्म की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं।[5]

२, स्थानसमुत्कीर्तन—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों का बन्ध करने वाले का एक ही भाव में स्थान अर्थात् अवस्थान होता है। यह बंधस्थान मिथ्या-दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा संयत के होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीन बंधस्थान हैं नौ प्रकृतियों से सम्बन्धित, छ प्रकृतियों से सम्बन्धित और चार प्रकृतियों से सम्बन्धित। नौ

---

१ सू० १०-९३ २ सू० १-६ (अल्पबहुत्वानुगम).
३ सू० २७-३० ४ सू० ३१-३८२ ५ सू० १-४६ (पुस्तक ६).

प्रकृतियो से सम्बन्धित बन्धस्थान मिथ्यादृष्टि अथवा सासादनसम्यग्दृष्टि के होता है। छ प्रकृतियो से सम्बन्धित बन्धस्थान सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत अथवा सयत के होता है। चार प्रकृतियो से सम्बन्धित बन्धस्थान केवल सयत के होता है। वेदनीय कर्म की दोनो प्रकृतियो का एक ही बन्धस्थान है। यह मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत अथवा सयत के होता है। मोहनीय कर्म के दस बन्धस्थान है बाईस प्रकृतिसम्बन्धी, इक्कीस प्रकृतिसम्बन्धी, सत्रह प्रकृतिसम्बन्धी, तेरह प्रकृतिसम्बन्धी, नौ प्रकृतिसम्बन्धी, पाँच प्रकृतिसम्बन्धी, चार प्रकृतिसम्बन्धी, तीन प्रकृतिसम्बन्धी, दो प्रकृतिसम्बन्धी और एक प्रकृतिसम्बन्धी। आयु कर्म की चार प्रकृतियो का बन्ध करने वाले का एक ही भाव मे अवस्थान होता है। नाम कर्म के आठ बन्धस्थान है इकतीस प्रकृतिसम्बन्धी, तीस प्रकृतिसम्बन्धी, उनतीस प्रकृतिसम्बन्धी, अट्ठाईस प्रकृतिसम्बन्धी, छब्बीस प्रकृतिसम्बन्धी, पचीस प्रकृतिसम्बन्धी, तेईस प्रकृतिसम्बन्धी और एक प्रकृतिसम्बन्धी। गोत्र कर्म की दोनो प्रकृतियो का एक ही बन्धस्थान है। अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियो का बन्धस्थान भी एक ही है।[१]

३ **प्रथम महादण्डक**—प्रथम सम्यक्त्वाभिमुख सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च अथवा मनुष्य पाँचो ज्ञानावरणीय, नवो दर्शनावरणीय, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलहो कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय तथा जुगुप्सा प्रकृतियो को बाँधता है, आयु कर्म को नही बाँधता, देवगति, पचेन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर आदि प्रकृतियो को बाँधता है।[२]

४ **द्वितीय महादण्डक**—प्रथम सम्यक्त्वाभिमुख देव अथवा सातवी पृथ्वी के नारकी के अतिरिक्त अन्य नारकी पाँचो ज्ञानावरणीय, नवो दर्शनावरणीय, सातावेदनीय आदि प्रकृतियो को बाँधता है, आयु कर्म को नही बाँधता, इत्यादि।[3]

५ **तृतीय महादण्डक**—प्रथम सम्यक्त्वाभिमुख सातवी पृथ्वी का नारकी पाँचो ज्ञानावरणीय, नवो दर्शनावरणीय, सातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलहो कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय तथा जुगुप्सा प्रकृतियो को बाँधता है, आयु कर्म को नही बाँधता, तिर्यंचगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर आदि प्रकृतियो को बाँधता है, उद्योग प्रकृति को कदाचित् बाँधता है, कदाचित् नही बाँधता, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त आदि प्रकृतियो को बाँधता है।[४]

---

१ सू० १-११७ (स्थानसमुत्कीर्तन)
२ सू० १-२ (प्रथम महादण्डक).
३ सू० १-२ (द्वितीय महादण्डक).
४ सू० १-२ (तृतीय महादण्डक).

६ **उत्कृष्टस्थिति**—पाँचो ज्ञानावरणीय, नवो दर्शनावरणीय, असातावेदनीय तथा पाँचो अन्तराय कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोटाकोटि सागरोपम है। इनका आबाधाकाल (अनुदयकाल) तीन हजार वर्ष है। सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति तथा मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी कर्म-प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पन्द्रह कोटाकोटि सागरोपम है। इनका आबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष है। मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है। इसका आबाधाकाल सात हजार वर्ष है। सोलह कषायो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चालीस कोटाकोटि सागरोपम है। इनका आबाधाकाल चार हजार वर्ष है। इसी प्रकार शेष कर्म-प्रकृतियो के विषय मे भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[1]

७ **जघन्यस्थिति**—पाँचो ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, सञ्ज्वलनलोभ और पाँचो अन्तराय कर्म-प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त है। इनका आबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त है। पाँच दर्शनावरणीय और असातावेदनीय कर्म-प्रकृतियो का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम का असख्यातवाँ भाग कम सागरोपम का $\frac{3}{7}$ भाग है। इनका भी आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। सातावेदनीय का जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त तथा आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। इसी प्रकार अन्य कर्म-प्रकृतियो के विषय मे भी यथावत् समझना चाहिए।[2]

८ **सम्यक्त्वोत्पत्ति**—जीव जब इन्ही सब कर्मों की अन्त कोटाकोटि की स्थिति का बन्ध करता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव पचेन्द्रिय, सज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होता है, इत्यादि।[3]

९ **गति-आगति**—जो जीव मिथ्यात्वसहित प्रथम नरक में जाते है उनमे से कुछ मिथ्यात्वसहित ही वहाँ से निकलते है। कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सासादन-सम्यक्त्वसहित निकलते है। कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सम्यक्त्वसहित निकलते है। सम्यक्त्वसहित वहाँ जानेवाले सम्यक्त्वसहित ही वहाँ से निकलते है। द्वितीय से लेकर षष्ठ नरक तक के कुछ जीव मिथ्यात्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित ही निकलते है, कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते है तथा कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सम्यक्त्वसहित निकलते है। सप्तम नरक के जीव मिथ्यात्वसहित ही निकलते है।[4]

---

१ सू० ४–४४ (उत्कृष्टस्थिति) २ सू० ३–४३
३ सू० ३–१६ (सम्यक्त्वोत्पत्ति) ४ सू० ४४–५२ (गति-आगति)

कुछ जीव मिथ्यात्वसहित तिर्यञ्चगति मे जाकर मिथ्यात्वसहित ही वहाँ से निकलते हैं, कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते है, कुछ मिथ्यात्वसहित जाकर सम्यक्त्वसहित निकलते है, कुछ सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित निकलते है, कुछ सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर सासादन-सम्यक्त्वसहित ही निकलते है तथा कुछ सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर सम्यक्त्व-सहित निकलते है। सम्यक्त्वसहित वहाँ जाने वाले सम्यक्त्वसहित ही वहाँ से निकलते है। इसी प्रकार अन्य गतियो के प्रवेश-निष्क्रमण के विषय में भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[1]

मिथ्यादृष्टि एव सासादनसम्यग्दृष्टि नारकी नरक से निकल कर कितनी गतियो मे जाते है ? दो गतियो मे जाते है तिर्यञ्चगति मे तथा मनुष्यगति मे। तिर्यञ्चगति मे जाने वाले नारकी पचेन्द्रियो मे जाते है, एकेन्द्रियो और विकले-न्द्रियो मे नही। पचेन्द्रियो मे भी सज्ञियो मे जाते है, असज्ञियो मे नही। सज्ञियो मे भी गर्भोपक्रान्तिको मे जाते है, सम्मूर्च्छिमो मे नही। गर्भोपक्रान्तिको मे भी पर्याप्तको मे जाते है, अपर्याप्तको मे नही। पर्याप्तको मे भी सख्येय वर्ष की आयु वालो मे जाते है, असख्येय वर्ष की आयु वालो में नही। इसी प्रकार मनुष्यगति मे जाने वाले नारकी भी गर्भोपक्रान्तिको, पर्याप्तको एव सख्येय वर्ष की आयु वालो मे ही जाते है।[2]

सम्यक्-मिथ्यादृष्टि नारकी सम्यक्-मिथ्यात्व गुणस्थानसहित नरक से नही निकलते। सम्यग्दृष्टि नारकी नरक से निकल कर मनुष्यगति मे ही आते है। मनुष्यो मे भी गर्भोपक्रान्तिको मे ही आते है, इत्यादि। यह सब ऊपर की छ. पृथ्वियो के नारकियो के विषय मे है। सातवी पृथ्वी के नारकी केवल तिर्यञ्च-गति मे ही आते है, इत्यादि।[3] इसी प्रकार अन्य गतियो के विविध प्रकार के जीवो के विषय मे भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[4] यहाँ तक कर्मप्राभृत के प्रथम खण्ड जीवस्थान का अधिकार है। इसके बाद क्षुद्रकबन्ध नामक द्वितीय खण्ड प्रारम्भ होता है।

क्षुद्रकबन्ध

क्षुद्रकबन्ध मे स्वामित्व आदि ग्यारह अनुयोगद्वारो की अपेक्षा से बन्धको—कर्मों का बन्ध करने वाले जीवो का विचार किया गया है। प्रारम्भ मे यह

---

१ सू० ५३–७५ २ सू० ७६–८५. ३ सू० ८६–१००
४. सू० १०१–२४३

बताया गया है कि नारकी बन्धक हैं, तिर्यञ्च बन्धक है, देव बन्धक है, मनुष्य बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक है। एकेन्द्रिय यावत् चतुरिन्द्रिय बन्धक है, पचेन्द्रिय बन्धक भी है और अबन्धक भी, अनिन्द्रिय अबन्धक है। पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक बन्धक है, त्रसकायिक बन्धक भी है और अबन्धक भी, अकायिक अबन्धक हैं। मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी बन्धक है तथा अयोगी अबन्धक है। स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुसकवेदी बन्धक हैं, अपगतवेदी बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी और लोभकषायी बन्धक है, अकषायी बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक है। मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभगज्ञानी, आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, और मन पर्ययज्ञानी बन्धक हैं, केवलज्ञानी बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक है। असयत और सयतासयत बन्धक है, सयत बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक है। चक्षुर्दर्शनी, अचक्षुर्दर्शनी और अवधिदर्शनी बन्धक है, केवलदर्शनी बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक है। कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले बन्धक है तथा जो लेश्यारहित है वे अबन्धक है। अभव्य-सिद्धिक बन्धक है, भव्यसिद्धिक बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक है। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यक्-मिथ्यादृष्टि बन्धक है, सम्यग्दृष्टि बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक है। सज्ञी और असज्ञी बन्धक हैं, जिन—केवली बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं। आहारक बन्धक है, अनाहारक बन्धक भी है और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक है।[1]

बन्धको के प्ररूपणार्थ जो ग्यारह अनुयोगद्वार बतलाये गये है वे इस प्रकार है

१ एक जीव की अपेक्षा से स्वामित्व, २ एक जीव की अपेक्षा से काल, ३ एक जीव की अपेक्षा से अन्तर, ४ नाना जीवो की अपेक्षा से भगविचय, ५ द्रव्यप्ररूपणानुगम, ६ क्षेत्राणुगम, ७ स्पर्शनानुगम, ८ नाना जीवो की अपेक्षा से काल, ९ नाना जीवो की अपेक्षा से अन्तर, १० भागाभागानुगम, ११ अल्पबहुत्वानुगम।[2]

---

१. सू० ३-४३ (पुस्तक ७).   २. सू० २ (स्वामित्वानुगम),

बन्धस्वामित्वविचय :

बन्धस्वामित्वविचय का अर्थ है बन्ध के स्वामित्व का विचार। इस खण्ड मे यह विचार किया गया है कि कौन-सा कर्मबन्ध किस गुणस्थान व मार्गणास्थान मे सम्भव है।

बन्धस्वामित्वविचय का निरूपण दो प्रकार से होता है सामान्य की अपेक्षा से और विशेष की अपेक्षा से। सामान्य की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म-साम्परायिक-शुद्धि-सयत उपशमक और क्षपक तक पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय प्रकृतियो के बन्धक है। मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यञ्चआयु, तिर्यञ्चगति, चार सस्थान, चार सहनन, तिर्यञ्चगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और नीचगोत्र प्रकृतियो के बन्धक है। मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरणप्रविष्टशुद्धिसयत उपशमक और क्षपक तक निद्रा और प्रचला प्रकृतियो के बन्धक है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक सातावेदनीय के बन्धक है। इसी प्रकार असातावेदनीय आदि के बन्धको के विषय मे यथावत् समझना चाहिए।[1]

इसी सदर्भ मे तीर्थंकर नाम-गोत्रकर्म बाँधने के सोलह कारण गिनाये गये है जो इस प्रकार है १ दर्शनविशुद्धता, २. विनयसम्पन्नता, ३ शील-व्रतो मे निरतिचारता, ४ पडावश्यको में अपरिहीनता, ५ क्षण-लवप्रतिबोधनता, ६ लब्धि-सवेगसम्पन्नता, ७ यथाशक्ति तप, ८ साधुसम्बन्धी प्रासुकपरित्यागता, ९ साधुओ की समाधिसधारणा, १० साधुओ की वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११ अर्हद्भक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ प्रवचनवत्सलता, १५ प्रवचनप्रभावनता, १६ पुन पुन ज्ञानोपयोगयुक्तता।[2]

विशेष की अपेक्षा से नारकियो मे मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक पाँच ज्ञानावरण, छ दर्शनावरण, साता, असाता, बारह कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर, समचतुरस्रसस्थान, औदारिकशरीरागोपाग वज्रर्षभसहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर,

---

१. सू० १-३८ (पुस्तक ८). २. सू० ४१

शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय प्रकृतियो के बन्धक है। मिथ्यादृष्टि एव सासादनसम्यग्दृष्टि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि आदि के बन्धक है। मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व, नपुसकवेद, हुण्डसस्थान और असप्राप्तसृपाटिकाशरीरसहनन के बन्धक है। इस प्रकार विशेष की अपेक्षा से गति आदि मार्गणाओ द्वारा बन्धको का विचार किया गया है।[1]

वेदना :

वेदना खण्ड मे कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वारो का निरूपण किया गया है। चूँकि इस खण्ड मे वेदना अनुयोगद्वार का अधिक विस्तार है अत इसका यही नाम रखा गया है।

प्रारंभ मे आचाय ने 'णमो जिणाण' सूत्र द्वारा सामान्यरूप से जिनो को नमस्कार किया है। तदनन्तर अवधिजिनो, परमावधिजिनो, सर्वावधिजिनो, अनन्तावधिजिनो, कोष्ठबुद्धिजिनो, बीजबुद्धिजिनो, पदानुसारिजिनो, सभिन्न-श्रोतृजिनो, ऋजुमतिजिनो, विपुलमतिजिनो, दशपूर्विजिनो, चतुर्दशपूर्विजिनो, अष्टागमहानिमित्तकुशलजिनो, विक्रियाप्राप्तजिनो, विद्याधरजिनो, चारणजिनो, प्रज्ञाश्रवणजिनो, आकाशगामिजिनो, आशीर्विषजिनो, दृष्टिविषजिनो, उग्रतपो-जिनो, दीप्ततपोजिनो, तप्ततपोजिनो, महातपोजिनो, घोरतपोजिनो, घोरपराक्रम-जिनो, घोरगुणजिनो, खेलौषधिप्राप्तजिनो, जल्लौषधिप्राप्तजिनो, विष्ठौषधिप्राप्त-जिनो, सर्वौषधिप्राप्तजिनो, मनोबलिजिनो, वचनबलिजिनो, कायबलिजिनो, क्षीरस्रविजिनो, सर्पिस्रविजिनो, मधुस्रविजिनो, अमृतस्रविजिनो, अक्षीणमहानस-जिनो, सर्व सिद्धायतनो एव वर्धमान बुद्धर्षि को नमस्कार किया है।[2] यह ग्रन्थकारकृत मध्य-मगल है।

कृति-अनुयोगद्वार—कृति-अनुयोगद्वार का निरूपण प्रारम्भ करते हुए आचार्य ने कृति के सात प्रकार बताये है १ नामकृति, २ स्थापनाकृति, ३ द्रव्यकृति, ४ गणनकृति, ५ ग्रन्थकृति, ६ करणकृति, ७ भावकृति।[3]

सात नयो मे से नैगम, व्यवहार और सग्रह इन सब कृतियो की इच्छा करते है। ऋजुसूत्र स्थापनाकृति की इच्छा नही करता। शब्दादि नामकृति और भाव-कृति की इच्छा करते है।[4]

---

१ सू० ४३–३२४ २ सू० १–४४ (पुस्तक ९)

३ सू० ४६, ४ सू० ४८–५०

नामकृति एक जीव की, एक अजीव की, अनेक जीवो की, अनेक अजीवों की, एक जीव और एक अजीव की, एक जीव और अनेक अजीवो की, अनेक जीवो और एक अजीव की अथवा अनेक जीवो और अनेक अजीवो की होती है।[1]

स्थापनाकृति काष्ठकर्मो में, चित्रकर्मो में, पोतकर्मो मे, लेप्यकर्मो मे, शैलकर्मो मे, गृहकर्मो मे, भित्तिकर्मो मे, दन्तकर्मो मे, भेंडकर्मो मे, अक्ष मे, वराटक मे अथवा अन्य प्रकार की स्थापनाओ मे होती है।[2]

द्रव्यकृति दो प्रकार की है आगमत द्रव्यकृति और नोआगमत द्रव्यकृति। आगमत द्रव्यकृति के नौ अधिकार हैं १. स्थिति, २ जित, ३. परिजित, ४. वाचनोपगत, ५ सूत्रसम, ६ अर्थसम, ७. ग्रन्थसम, ८. नामसम, ९. घोषसम। नोआगमत द्रव्यकृति तीन प्रकार की है . ज्ञायकशरीर द्रव्यकृति, भावी द्रव्यकृति और ज्ञायकशरीर-भाविव्यतिरिक्त द्रव्यकृति।[3]

गणनकृति अनेक प्रकार की है, यथा—एक (सख्या) नोकृति है, दो कृति एवं नोकृतिरूप से अवक्तव्य है, तीन यावत् सख्येय, असख्येय और अनन्त कृति कहलाते है।[4]

लोक मे, वेद मे एव समय मे शब्दप्रबन्धनरूप अक्षरात्मक काव्यादिको की जो ग्रन्थरचना की जाती है वह ग्रन्थकृति कहलाती है।[5]

करणकृति दो प्रकार की है मूलकरणकृति और उत्तरकरणकृति। मूलकरण-कृति पाँच प्रकार की है औदारिकशरीरमूलकरणकृति, वैक्रियिकशरीरमूलकरण-कृति, आहारशरीरमूलकरणकृति, तैजसशरीरमूलकरणकृति और कार्मणशरीरमूल-करणकृति। उत्तरकरणकृति अनेक प्रकार की है, यथा—असि, परशु, कुदाली, चक्र, दण्ड, शलाका मृत्तिका, सूत्र आदि।[6]

कृतिप्राभृत का जानकार उपयोगयुक्त जीव भावकृति है।[7]

इन सब कृतियो मे गणनकृति प्रकृत है।[8] गणना के बिना शेष अनुयोगद्वारो की प्ररूपणा नही हो सकती।

वेदना अनुयोगद्वार—वेदना के ये सोलह अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है १ वेदननिक्षेप, २. वेदननयविभाषणता, ३ वेदननामविधान, ४. वेदनद्रव्य-

---

१ सू० ५१ २ सू० ५२. ३. सू० ५३–६५.
४. सू० ६६ ५. सू० ६७. ६. सू० ६८–७३.
७. सू० ७४. ८. सू० ७६.

विधान, ५. वेदनक्षेत्रविधान, ६ वेदनकालविधान, ७ वेदनभावविधान, ८ वेदन-प्रत्ययविधान, ९ वेदनस्वामित्वविधान, १०. वेदनवेदनविधान, ११ वेदनगति-विधान, १२ वेदनअनन्तरविधान, १३ वेदनसन्निकर्षविधान, १४ वेदनपरिमाण-विधान, १५ वेदनभागाभागविधान, १६ वेदनअल्पबहुत्व ।[1]

वेदननिक्षेप चार प्रकार का है नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना ।[2]

वेदननयविभाषणता मे यह बताया गया है कि कौन-सा नय किन वेदनाओ को स्वीकार करता है ।[3]

वेदननामविधान में नयो की अपेक्षा से वेदना के विविध भेदो का प्रतिपादन किया गया है ।[4]

वेदनद्रव्यविधान मे तीन अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व ।[5]

वेदनक्षेत्रविधान मे भी तीन अनुयोगद्वार है पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व ।[6]

वेदनकालविधान मे भी ये ही तीन अनुयोगद्वार है ।[7]

वेदनभावविधान मे भी इन्ही तीन अनुयोगद्वारो का प्ररूपण है ।[8]

वेदनप्रत्ययविधान में बताया गया है कि नैगम, व्यवहार एव सग्रह नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना प्राणातिपात प्रत्यय से होती है, मृषावाद प्रत्यय से होती है, अदत्तादान प्रत्यय से होती है, मैथुन प्रत्यय से होती है, परिग्रह प्रत्यय से होती है, रात्रिभोजन प्रत्यय से होती है । इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति आदि प्रत्ययो से भी ज्ञानावरणीय वेदना होती है । इसी तरह शेष सात कर्मों के विषय मे समझना चाहिए । ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना योगप्रत्यय से प्रकृति व प्रदेशरूप तथा कषायप्रत्यय से स्थिति व अनुभागरूप होती है । इसी प्रकार का प्ररूपण शेष सात कर्मों के विषय मे भी कर लेना चाहिए । शब्द नयो की अपेक्षा से ये प्रत्यय अवक्तव्य है ।[9]

---

१ सू० १ (पुस्तक १०)
२ सू० २-३.
३. सू० १-४ (वेदननयविभाषणता)
४ सू० १-४ (वेदननामविधान)
५ सू० १-२१३ (वेदनद्रव्यविधान).
६ सू० १-९९ (पुस्तक ११).
७ सू० १-२७९ (वेदनकालविधान)
८ सू० १-३१४ (पुस्तक १२)
९. सू० १-१६ (वेदनप्रत्ययविधान).

वेदनस्वामित्वविधान में यह प्रतिपादन किया गया है कि नैगम एव व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना कथञ्चित् एक जीव के होती है, कथञ्चित् एक नोजीव के होती है, कथञ्चित् अनेक जीवो के होती है, कथञ्चित् अनेक नोजीवो के होती है, कथञ्चित् एक जीव और एक नोजीव के होती है, कथञ्चित् एक जीव और अनेक नोजीवो के होती है, कथञ्चित् अनेक जीवो और एक नोजीव के होती है, कथञ्चित् अनेक जीवो और अनेक नोजीवो के होती है। इसी प्रकार शेष सात कर्मों के विषय मे समझना चाहिए। सग्रह नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना एक जीव के होनी है अथवा अनेक जीवो के होती है। शब्द और ऋजुसूत्र नयो की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना एक जीव के होती है। इसी प्रकार शेष सात कर्मों के विषय मे कहना चाहिए।[1]

वेदनवेदनविधान मे यह बताया गया है कि नैगम नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना कथञ्चित् बध्यमान वेदना है, कथञ्चित् उदीर्ण वेदना है, कथञ्चित् उपशान्त वेदना है, कथञ्चित् बध्यमान वेदनाएँ हैं, कथञ्चित् उदीर्ण वेदनाएँ है, इत्यादि।[2]

वेदनगतिविधान मे यह निरूपण किया गया है कि नैगम, व्यवहार एव सग्रह नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना कथञ्चित् अवस्थित है, कथञ्चित् स्थित-अस्थित है। इसी प्रकार दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय के विषय मे समझना चाहिए। वेदनीय वेदना कथञ्चित् स्थित है, कथञ्चित् अस्थित है, कथञ्चित् स्थित-अस्थित है। इसी प्रकार आयु, नाम और गोत्र के विपय मे जानना चाहिए। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना कथञ्चित् स्थित है, कथञ्चित् अस्थित है। इसी प्रकार शेष सात कर्मो के विषय मे जानना चाहिए। शब्द नयो की अपेक्षा से अवक्तव्य है।[3]

वेदनअनन्तरविधान मे यह प्रतिपादन किया गया है कि नैगम एव व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना अनन्तरबन्ध है, परम्परबन्ध है तथा तदुभयबन्ध है। इसी प्रकार शेष सात कर्मो के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। सग्रह नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय वेदना अनन्तरबन्ध है तथा परम्परबन्ध है। इसी तरह अन्य कर्मो के विषय मे समझना चाहिए। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से

---

१ सू० १-१५ (वेदनस्वामित्वविधान) २ सू० १-५८ (वेदनवेदनविधान)
३. सू० १-१२ (वेदनगतिविधान).

ज्ञानावरणीय आदि वेदनाएँ परम्परबन्ध हैं। शब्द नयो की अपेक्षा से अवक्तव्य हैं।[१]

वेदनसन्निकर्ष दो प्रकार का है स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष और परस्थानवेदनसन्निकर्ष। स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष के दो भेद हैं जघन्य स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष और उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष। उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनसन्निकर्ष द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। जिसके ज्ञानावरणीय वेदना द्रव्य की अपेक्षा से उत्कृष्ट होती है उसके वह क्षेत्र की अपेक्षा से उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ? नियमत अनुत्कृष्ट होती है तथा असख्येयगुणहीन होती है। काल की अपेक्षा से उत्कृष्ट भी होती है और अनुत्कृष्ट भी। उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट एक समय न्यून होती है। भाव की अपेक्षा से भी उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट उभयरूप होती है। उत्कृष्ट की अपेक्षा अनुत्कृष्ट षट्स्थानपतित होती है अर्थात् अनन्तभागहीन, असख्येयभागहीन, सख्येयभागहीन, सख्येयगुणहीन, असख्येयगुणहीन और अनन्तगुणहीन होती है। जिसके ज्ञानावरणीय वेदना क्षेत्र की अपेक्षा से उत्कृष्ट होती है उसके वह द्रव्य की अपेक्षा से उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ? नियमत अनुत्कृष्ट होती है तथा चतु स्थानपतित होती है असख्येयभागहीन, सख्येयभागहीन, सख्येयगुणहीन और असख्येयगुणहीन।[२] इसी प्रकार शेष प्ररूपण के विषय मे भी यथावत् समझ लेना चाहिए।[३]

वेदनपरिमाणविधान का तीन अनुयोगद्वारो मे विचार किया गया है प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्याश्रय अथवा क्षेत्रप्रत्यास। प्रकृत्यर्थता की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म की असख्येय लोकप्रमाण प्रकृतियाँ है।[४] वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ है।[५] इसी प्रकार अन्य कर्मो की प्रकृतियो का भी निरूपण किया गया है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म की एक-एक समयप्रबद्धार्थता-प्रकृति तीस कोटाकोटि सागरोपम को समयप्रबद्धार्थता से गुणित करने पर प्राप्त हो उतनी है। इसी प्रकार अन्य कर्मो की समयप्रबद्धार्थता-प्रकृतियो का भी प्रतिपादन किया गया है। जो मत्स्य एक हजार योजनप्रमाण है, स्वयम्भूरमण समुद्र के बाह्य तट पर स्थित है, वेदनासमुद्घात

१ सू० १-११ (वेदनअनन्तरविधान)
२ सू० १-१७ (वेदनसन्निकर्षविधान)
३ सू० १८-३२०
४ पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से—धवला, पु० १२, पृ० ४८१
५ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से—वही

को प्राप्त है, कापोतलेश्या से सलग्न है, फिर मारणातिक समुद्घात को प्राप्त हुआ है तथा विग्रहगति के तीन काण्डक करके सप्तम नरक मे उत्पन्न होगा उसके ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियो को क्षेत्रप्रत्यास से गुणित करने पर ज्ञानावरण की क्षेत्रप्रत्यास-प्रकृतियो का परिमाण प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के सम्बन्ध मे भी प्ररूपणा की गई है।[1]

वेदनभागाभागविधान का भी प्रकृत्यर्थता आदि तीन अनुयोगद्वारो मे विचार किया गया है। प्रकृत्यर्थता की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ सब प्रकृतियो का कुछ कम द्वितीय भाग है। वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र एव अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ सब प्रकृतियो का असख्यातवाँ भाग है। इसी प्रकार शेष दो अनुयोगद्वारो का भी निरूपण किया गया है।[2]

वेदनअल्पबहुत्व मे भी प्रकृत्यर्थता आदि तीन अनुयोगद्वार है। प्रकृत्यर्थता की अपेक्षा से गोत्र कर्म की प्रकृतियाँ सबसे कम है। वेदनीय कर्म की भी उतनी ही प्रकृतियाँ है। आयु कर्म की प्रकृतियाँ उनसे सख्येयगुणित है। अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ उनसे विशेष अधिक है। मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ उनसे सख्येय-गुणित है। नाम कर्म की प्रकृतियाँ उनसे असख्येयगुणित है। दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ उनसे असख्येयगुणित है। ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ उनसे विशेष अधिक है। समयप्रबद्धार्थता की अपेक्षा से आयु कर्म की प्रकृतियाँ सबसे कम है, इत्यादि। क्षेत्रप्रत्यास की अपेक्षा से अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ सबसे कम है, इत्यादि।[3]

वर्गणा .

वर्गणा खण्ड मे स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीन अनुयोगद्वारो के साथ बन्धन अनुयोगद्वार के बन्ध और बन्धनीय इन दो अधिकारो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। बन्धनीय के विवेचन मे वर्गणाओ का विस्तृत वणन होने के कारण इस खण्ड को वर्गणा नाम से सम्बोधित किया जाता है।

स्पर्श-अनुयोगद्वार—स्पर्श-अनुयोगद्वार के निम्नोक्त सोलह अधिकार है : १ स्पर्शनिक्षेप, २ स्पर्शनयविभाषणता, ३ स्पर्शनामविधान, ४ स्पर्शद्रव्य-विधान, ५. स्पर्शक्षेत्रविधान, ६. स्पर्शकालविधान, ७ स्पर्शभावविधान, ८ स्पर्श-

---

१ सू० १–५३ (वेदनपरिमाणविधान).
२. सू० १–२० (वेदनभागाभागविधान)
३. सू० १–२६ (वेदनअल्पबहुत्व)

प्रत्ययविधान, ९ स्पर्शस्वामित्वविधान, १० स्पर्शस्पर्शविधान, ११ स्पर्शगति-विधान, १२ स्पर्शअनन्तरविधान, १३ स्पर्शसन्निकर्षविधान, १४ स्पर्शपरिमाण-विधान, १५ स्पर्शभागाभागविधान, १६ स्पर्शअल्पबहुत्व ।[1]

कर्म-अनुयोगद्वार—कर्म-अनुयोगद्वार के भी कर्मनिक्षेपादि सोलह अधिकार हैं ।[2]

प्रकृति-अनुयोगद्वार—प्रकृति-अनुयोगद्वार भी प्रकृतिनिक्षेपादि सोलह अधिकारो मे विभक्त है ।[3]

बन्धन-अनुयोगद्वार—बन्धन के चार भेद हैं बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । इनमे से बन्ध चार प्रकार का है नामबन्ध, स्थापनाबन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ।[4]

बन्धक का गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद कपाय आदि चौदह मार्गणाओ मे विचार करना चाहिए । गति की अपेक्षा से नारकी बन्धक है, तिर्यञ्च बन्धक है, देव बन्धक है, मनुष्य बन्धक भी हैं और अबन्धक भी, सिद्ध अबन्धक हैं । इस प्रकार यहाँ क्षुद्रकबन्ध के ग्यारह अनुयोगद्वार जानने चाहिए । ग्यारह अनुयोगद्वारो का कथन करके महादण्डको का भी कथन करना चाहिए ।[5]

बन्धनीय का इस प्रकार अनुगमन करते हैं वेदनात्मक पुद्गल हैं, पुद्गल स्कन्धस्वरूप है, स्कन्ध वर्गणास्वरूप हैं । वर्गणाओ के अनुगमन के लिए आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है वर्गणा, वर्गणाद्रव्यसमुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमासा और अल्पबहुत्व ।[6] इनमे से वर्गणा अनुयोगद्वार के निम्नोक्त सोलह अधिकार हैं १ वर्गणानिक्षेप, २ वर्गणानयविभाषणता, ३ वर्गणाप्ररूपणा, ४ वर्गणा-निरूपणा, ५ वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, ६ वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, ७ वर्गणा-ओजयुग्मानुगम, ८ वर्गणाक्षेत्रानुगम, ९ वर्गणास्पर्शनानुगम, १० वर्गणाकालानुगम, ११ वर्गणाअन्तरानुगम, १२ वर्गणाभावानुगम, १३ वर्गणाउपनयनानुगम, १४ वर्गणापरिमाणानुगम, १५ वर्गणाभागाभागानुगम, १६ वर्गणाअल्पबहुत्व ।[7]

---

१. सू० २ (पुस्तक १३)
२ सू० २ (कर्म-अनुयोगद्वार).
३ सू० १–२ (प्रकृति-अनुयोगद्वार)
४ सू० १–२ (पुस्तक १४)
५ सू० ६५–६७
६ सू० ६८–६९.
७ सू० ७०

बन्धविधान चार प्रकार का है प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।[1]

महाबन्ध :

महाबन्ध खण्ड प्रकृतिबन्धादि उपर्युक्त चार अधिकारो मे विभक्त है। प्रकृतिबन्ध अधिकार मे निम्नलिखित विषय हैं प्रकृतिसमुत्कीर्तन, सर्व-नोसर्वबन्ध प्ररूपण, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टबन्धप्ररूपण, जघन्य-अजघन्यबन्धप्ररूपण, सादि-अनादि-बन्धप्ररूपण; ध्रुव-अध्रुवबन्धप्ररूपण, बन्धस्वामित्वविचय, एक जीव की अपेक्षा से कालानुगम, अन्तरानुगम, सन्निकर्षप्ररूपण, भगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, अनेक जीवो की अपेक्षा से कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम, अल्पबहुत्वप्ररूपण।[2]

स्थितिबन्ध दो प्रकार का है मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध के चार अनुयोगद्वार है स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्व। इस सम्बन्ध मे ये चौबीस अधिकार ज्ञातव्य हैं १ अद्धाच्छेद, २ सर्वबन्ध, ३ नोसर्वबन्ध, ४ उत्कृष्टबन्ध, ५ अनुत्कृष्टबन्ध, ६ जघन्यबन्ध, ७ अजघन्यबन्ध, ८ सादिबन्ध, ९ अनादिबन्ध, १० ध्रुवबन्ध, ११ अध्रुवबन्ध, १२ स्वामित्व, १३ बन्धकाल, १४ बन्धान्तर, १५ बन्धसन्निकर्ष, १६ नाना जीवो की अपेक्षा से भगविचय, १७ भागाभाग, १८ परिमाण, १९ क्षेत्र, २० स्पर्शन, २१ काल, २२ अन्तर, २३ भाव, २४ अल्पबहुत्व। इनके अतिरिक्त भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसानसमुदाहार और जीवसमुदाहार द्वारा भी मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध का विचार किया गया है। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध का प्रतिपादन भी इसी प्रक्रिया से किया गया है।[3]

अनुभागबन्ध भी दो प्रकार का है मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध और उत्तरप्रकृतिअनुभागबन्ध। मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध के दो अनुयोगद्वार हैं निषेकप्ररूपणा और स्पर्धकप्ररूपणा। निषेकप्ररूपणा की अपेक्षा से आठो कर्मो के जो देशघातिस्पर्धक है उनके प्रथम वर्गणा से प्रारम्भ कर निषेक है जो आगे बराबर चले गये है। चार घातिकर्मों के जो सर्वघातिस्पर्धक हैं उनके भी प्रथम वर्गणा से प्रारम्भ कर निषेक हैं जो आगे बराबर चले गये हैं। स्पर्धकप्ररूपणा की अपेक्षा से अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदो के समुदायसमागम से एक वर्ग होता है, अनन्ता-

---

१ सू० ७९७ २ महाबंध, पु० १ ३. महाबंध, पु० २–३.

नन्त वर्गों के समुदायसमागम से (एक वर्गणा होती है तथा अनन्तानन्त वर्गणाओं के समुदायसमागम से) एक स्पर्धक होता है। यहाँ से चौबीस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं: संज्ञा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध यावत् अल्पबहुत्व। इनके अतिरिक्त भुजगारबन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसानसमुदाहार और जीवसमुदाहार भी ज्ञातव्य हैं।[1]

प्रदेशबन्ध भी मूलप्रकृतिप्रदेशबन्ध और उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। आठ प्रकार की मूल-कर्मप्रकृतियों का बन्ध करने वाले जीव के आयु कर्म का भाग सबसे कम होता है, नाम एवं गोत्र कर्म का भाग उनसे विशेष अधिक होता है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म का भाग उनसे विशेष अधिक होता है, मोहनीय कर्म का भाग उनसे विशेष अधिक होता है तथा वेदनीय कर्म का भाग उनसे विशेष अधिक होता है। सात प्रकार की मूल-कर्मप्रकृतियों का बन्ध करने वाले जीव के नाम एवं गोत्र कर्म का भाग सबसे कम होता है, इत्यादि। यहाँ स्थानप्ररूपणा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध आदि चौबीस अनुयोगद्वार तथा भुजगारबन्ध आदि ज्ञातव्य हैं।[2]

ग्रन्थ के अन्त में[3] पुनः मंगलसूत्र द्वारा अरिहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों एवं लोक के सब साधुओं को नमस्कार किया गया है:

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

●

१. महाबंध, पु० ४–५.
२. महाबंध, पु० ६–७.
३. महाबंध, पु० ७, पृ० ३१९.

तृतीय प्रकरण

कर्मप्राभृत की व्याख्याएँ

वीरसेनाचार्यविरचित धवला टीका कर्मप्राभृत (पट्खण्डागम) की अति-महत्त्वपूर्ण वृहत्काय व्याख्या है। धवला से पूर्व रची गई कर्मप्राभृत की टीकाओ का उल्लेख इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में मिलता है।[1] ये टीकाएँ वर्तमान में अनुपलब्ध है। इनका यत्किंचित् परिचय देने के बाद उपलब्ध धवला का विस्तार से परिचय दिया जायगा।

कुन्दकुन्दकृत परिकर्म :

उपर्युक्त श्रुतावतार मे उल्लेख है कि कर्मप्राभृत और कपायप्राभृत का ज्ञान गुरुपरम्परा से कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दिमुनि अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त हुआ। उन्होने कर्मप्राभृत के छ खण्डो मे से प्रथम तीन खण्डो पर परिकर्म नामक वारह हजार श्लोकप्रमाण एक टीकाग्रन्थ लिखा। धवला मे इस ग्रन्थ का अनेक बार उल्लेख हुआ है। यह टीकाग्रन्थ प्राकृत मे था।

शामकुण्डकृत पद्धति •

आचार्य शामकुण्डकृत पद्धति नामक टीका कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डो पर थी। कपायप्राभृत पर भी इन्ही आचार्य की इसी नाम की टीका थी। इन दोनो टीकाओ का परिमाण वारह हजार श्लोक था। इनकी भाषा प्राकृत-सस्कृत-कन्नडमिश्रित थी। ये परिकर्म से वहुत वाद लिखी गईं। इन टीकाओ का कोई उल्लेख धवला आदि मे नही मिलता।

तुम्बुलूरकृत चूडामणि व पजिका :

तुम्वुलूराचार्य ने भी कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डो तथा कषायप्राभृत पर एक टीका लिखी। इस वृहत्काय टीका का नाम चूडामणि था। चूडामणि चौरासी हजार श्लोकप्रमाण थी। इसकी भाषा कन्नड थी। इसके अतिरिक्त उन्होने कर्मप्राभृत के छठे खण्ड पर प्राकृत मे पजिका नामक व्याख्या लिखी —

---

१ षट्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० ४६–५३.

जिसका परिमाण सात हजार श्लोक था।[1] इन टीकाओ का भी कोई उल्लेख धवला आदि में दृष्टिगोचर नही होता। तुम्बुलूराचार्य शामकुण्डाचार्य से बहुत बाद हुए।

समन्तभद्रकृत टीका

समन्तभद्रस्वामी ने कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डो पर अडतालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखी। यह टीका अति सुन्दर एव मृदु सस्कृत भाषा मे थी। समन्तभद्रस्वामी तुम्बुलूराचार्य के बाद हुए। इन्द्रनन्दि ने समन्तभद्र को 'तार्किकार्क' विशेषण से विभूषित किया है। धवला में यद्यपि समन्तभद्रकृत आप्तमीमासा आदि के अवतरण उद्धृत किये गये है किन्तु प्रस्तुत टीका का कोई उल्लेख उसमे नही पाया जाता।

बप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति

बप्पदेवगुरु ने कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत पर टीकाएँ लिखी। उन्होने कर्मप्राभृत के पाँच खण्डो पर जो टीका लिखी उसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति था। षष्ठ खण्ड पर उनकी व्याख्या सक्षिप्त थी। यह व्याख्या पचाधिक अष्टसहस्र श्लोकप्रमाण थी। पाँच खण्डो और कषायप्राभृत की टीकाओ का सयुक्त परिमाण साठ हजार श्लोक था। इन सब व्याख्याओ की भाषा प्राकृत थी। कषायप्राभृत की जयधवला टीका मे एक स्थान पर बप्पदेव के नाम का उल्लेख किया गया है। बप्पदेव समन्तभद्र के बाद होनेवाले आचार्य है।

धवलाकार वीरसेन

कर्मप्राभृत की उपलब्ध टीका धवला के कर्ता का नाम वीरसेन है। ये आर्यनन्दि के शिष्य तथा चन्द्रसेन के प्रशिष्य थे तथा एलाचार्य इनके विद्यागुरु थे। वीरसेन सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण तथा प्रमाणशास्त्र मे निपुण थे एव भट्टारक पद से विभूषित थे।[2] कषायप्राभृत की टीका जयधवला का प्रारम्भ का एक-तिहाई भाग भी इन्ही वीरसेन का लिखा हुआ है।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार मे बताया गया है कि बप्पदेवगुरु द्वारा सिद्धान्त-ग्रन्थो की टीका लिखे जाने के कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्ततत्त्वज्ञ एलाचार्य

---

१. क्या यह पजिका सत्कर्मपजिका से भिन्न है ?

—देखिये, षट्खण्डागम, पुस्तक १५, प्रस्तावना, पृ० १८.

२. षट्खण्डागम, पुस्तक १६ के अन्त मे धवलाकार-प्रशस्ति.

हुए। उनके पास वीरसेनगुरु ने सकल सिद्धान्त का अध्ययन किया तथा षट्खण्डागम पर ७२००० श्लोकप्रमाण प्राकृत-संस्कृतमिश्रित धवला टीका लिखी। इसके बाद कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर २०००० श्लोकप्रमाण जयधवला टीका लिखने के पश्चात् वे स्वर्गवासी हुए। इस जयधवला को उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने ४०००० श्लोकप्रमाण टीका और लिखकर पूर्ण किया।[1] वीरसेनाचार्य का समय धवला व जयधवला के अन्त में प्राप्त प्रशस्तियों एवं अन्य प्रमाणों के आधार पर शक की आठवीं शताब्दी सिद्ध होता है।[2]

धवला टीका

षट्खण्डागम पर धवला टीका लिखकर वीरसेनाचार्य ने जैन साहित्य की महती सेवा की है। धवल का अर्थ शुक्ल के अतिरिक्त शुद्ध, विशद, स्पष्ट भी होता है। सम्भवतः अपनी टीका के इसी गुण को ध्यान में रखते हुए आचार्य ने यह नाम चुना हो। यह टीका जीवस्थान आदि पाँच खण्डों पर ही है, महाबन्ध नामक छठे खण्ड पर नहीं। इस विशाल टीका का लगभग तीन-चौथाई भाग प्राकृत (शौरसेनी) में तथा शेष भाग संस्कृत में है। इसमें जैन सिद्धान्त के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर सामग्री उपलब्ध होती है।

टीका के प्रारम्भ में आचार्य ने जिन, श्रुतदेवता, गणधरदेव, धरसेन, पुष्पदन्त एवं भूतबलि को नमस्कार किया है।

सिद्धमणंतमणिंदियमणुवममप्पुत्थ-सोक्खमणवज्जं।
केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह ॥ १ ॥
बारह-अंगग्गिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं ॥ २ ॥
सयल-गण-पउम-रविणो विविहद्धि-विराइया विणिस्संगा।
णीराया वि कुराया गणहर-देवा पसीयंतु ॥ ३ ॥
पसियउ महु धरसेणो पर-वाइ-गओह-दाण-वर-सीहो।
सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ॥ ४ ॥
पणमामि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रविं।
भग्ग-सिव-मग्ग-कंटयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ॥ ५ ॥
पणमह कय-भूय-बलिं भूयबलिं केस-वास-परिभूय-बलिं।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-वम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

---

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० ३८
२. वही, पृ० ३९–४५

मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता—इन छ अधिकारो का व्याख्यान करने के बाद आचार्य को शास्त्र की व्याख्या करनी चाहिये,[1] इस नियम को उद्धृत करने के पश्चात् टीकाकार ने मगल-सूत्र का व्याख्यान किया है

मगल-णिमित्त-हेऊ परिमाण णाम तह य कत्तार।
वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो ॥

मगल-सूत्र के व्याख्यान मे ६८ गाथाएँ और श्लोक उद्धृत किये गये है।[2]

श्रुतकर्ता—श्रुत के कर्ता का निरूपण करते हुए टीकाकार ने कहा है कि ज्ञानावरणादि कर्मो के निश्चय-व्यवहाररूप विनाश-कारणो की विशेषता से उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, क्षायिक-सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोग की निश्चय-व्यवहाररूप प्राप्ति की अतिशयभूत नौ केवल-लब्धियो से युक्त वर्धमान महावीर ने भावश्रुत का उपदेश दिया तथा उसी काल और उसी क्षेत्र मे क्षयोपशमविशेष से उत्पन्न हुए चार प्रकार के निर्मल ज्ञान से युक्त, गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण, सकल दु श्रुति मे पारगत एव जीवाजीवविषयक सन्देह को दूर करने के लिए महावीर के पादमूल मे उपस्थित इन्द्रभूति ने उसका अवधारण किया। भावश्रुतरूप पर्याय से परिणत इन्द्रभूति ने बारह अग और चौदह पूर्वरूप[3] ग्रन्थो की रचना की। इस प्रकार भावश्रुत अर्थात् अर्थ-पदो के कर्ता महावीर तीर्थंकर है तथा द्रव्यश्रुत अर्थात् ग्रन्थ-पदो के कर्ता गौतम गणधर है। गौतम गणधर ने दोनो प्रकार का श्रुतज्ञान लोहार्य को दिया। लोहार्य ने वह ज्ञान जम्बूस्वामी को दिया। परिपाटी-क्रम से ये तीनो ही सकल श्रुत के धारक कहे गये है। अपरिपाटी से तो सकल श्रुत के धारक सख्येय सहस्र है।[4]

गौतमदेव, लोहार्याचार्य[5] और जम्बूस्वामी—ये तीनो ही सात प्रकार की लब्धि से सम्पन्न तथा सकल श्रुतसागर के पारगामी होकर केवलज्ञान उत्पन्न कर

---

१ षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ७ २ वही, पृ० ६०–९१

१ पुस्तक ९, पृ० १२९ पर उल्लेख है कि इन्द्रभूति ने बारह अगो तथा चौदह अगबाह्य प्रकीर्णको की रचना की।

४ पुस्तक १, पृ० ६३–६५

५. जयधवला व (इन्द्रनन्दिकृत) श्रुतावतार मे लोहार्याचार्य के स्थान पर उनके अपर नाम सुधर्माचार्य का उल्लेख है।

—वही, पृ० ६६

निर्वाण को प्राप्त हुए। तदनन्तर विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु—ये पाँचो परिपाटी-क्रम से चतुर्दश-पूर्वधर हुए। इसके बाद विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गगदेव और धर्मसेन—ये ग्यारहो परिपाटी-क्रम से ग्यारह अगो व उत्पादपूर्वादि दस पूर्वो मे पारगत तथा शेष चार पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। तत्पश्चात् नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन[1] और कसाचार्य—ये पाँचो परिपाटी-क्रम से सम्पूर्ण ग्यारह अगो के तथा चौदह पूर्वो के एकदेश के धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र[2], यशोबाहु[3] और लोहाचार्य—ये चारो सम्पूर्ण आचाराग के तथा शेष अगो एव पूर्वो के एकदेश के धारक हुए। इसके बाद सब अगो एव पूर्वो का एकदेश आचार्य-परम्परा से आता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। धरसेन भट्टारक ने पुष्पदन्त और भूतबलि को पढाया। पुष्पदन्त-भूतबलि ने इस ग्रथ की रचना की। अत इस खण्डसिद्धान्त की अपेक्षा से ये दोनो आचार्य भी श्रुत के कर्ता कहे जाते है।[4]

श्रुत का अर्थाधिकार—श्रुत का अर्थाधिकार दो प्रकार का है: अगबाह्य और अगप्रविष्ट। अगबाह्य के चौदह अर्थाधिकार है १ सामायिक, २ चतुर्विशतिस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्पिक, ११ महाकल्पिक, १२ पुण्डरीक, १३ महापुण्डरीक, १४ निशीथिका।[5]

सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव द्वारा समताभाव के विधान का वर्णन करता है। चतुर्विशतिस्तव चौबीस तीर्थंकरो के वदनविधान,

---

१ श्रुतावतार मे ध्रुवसेन के स्थान पर द्रुमसेन का उल्लेख है।—वही

२ श्रुतावतार मे यशोभद्र के स्थान पर अभयभद्र का उल्लेख है।—वही

३ जयधवला व श्रुतावतार में यशोबाहु के स्थान पर क्रमश जहबाहु व जयबाहु का उल्लेख है।—वही

४. वही, पृ० ६६–७१

५ अत्थाहियारो दुविहो, अगबाहिरो अगपइट्ठो चेदि। तत्थ अगबाहिरस्स चोद्दस अत्थाहियारा। त जहा, सामाइय चउवीसत्थओ वदणा पडिक्कमण वेणइय किदियम्म दसवेयालिय उत्तरज्झयण कप्पववहारो कप्पाकप्पिय महाकप्पिय पुडरीय महापुडरीय णिसिहिय चेदि।

—वही, पृ० ९६.

नाम, सस्थान, उत्सेध, पचमहाकल्याण, चौंतीस अतिशयो के स्वरूप व वदन-सफलत्व का वर्णन करता है। वदना मे एक जिन एव जिनालयविपयक वदना का निरवद्य भावपूर्वक वर्णन है। प्रतिक्रमण काल और पुरुष का आश्रय लेकर सात प्रकार के प्रतिक्रमणो का वर्णन करता है। वैनयिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एव उपचारसम्बन्धी विनय का वर्णन करता है। कृतिकर्म मे अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की पूजाविधि का वर्णन है। दशवैकालिक मे आचार-गोचर-विधि का वर्णन है। कल्पव्यवहार साधुओ के योग्य आचरण का एव अयोग्य आचरण के प्रायश्चित्त का वणन करता है। कल्पाकल्पिक मे मुनियो के योग्य एव अयोग्य आचरण का वणन है। महाकल्पिक मे काल और सहनन की अपेक्षा से साधुओ के योग्य द्रव्य, क्षेत्रादि का वर्णन किया गया है। पुण्डरीक चार प्रकार के देवो मे उत्पत्ति के कारणरूप अनुष्ठानो का वर्णन करता है। महापुण्डरीक मे सकलेन्द्रो और प्रतीन्द्रो मे उत्पत्ति होने के कारणो का वर्णन है। निशीथिका मे वहुविध प्रायश्चित्त के विधान का वर्णन है।[1]

अगप्रविष्ट के बारह अर्थाधिकार हैं १ आचार, २ सूत्रकृत, ३ स्थान, ४ समवाय, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. नाथधर्मकथा, ७ उपासकाध्ययन, ८ अन्तकृद्दशा, ९ अनुत्तरौपपादिकदशा, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाकसूत्र, १२. दृष्टिवाद।[2]

आचाराग १८००० पदो द्वारा मुनियो के आचार का वर्णन करता है।

सूत्रकृताग ३६००० पदो द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया का प्ररूपण करता है तथा स्वसमय एव परसमय का प्रतिपादन करता है।

स्थानाग ४२००० पदो द्वारा एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानो का वर्णन करता है।

समवायाग १६४००० पदो द्वारा सब पदार्थों के समवाय का वर्णन करता है अर्थात् सादृश्यसामान्य की अपेक्षा से जीवादि पदार्थो का ज्ञान कराता है।

---

१ वही, पृ० ९६–९८, पुस्तक ९, पृ० १८८–१९१

२ अगपविट्ठस्स अत्थाधियारो वारसविहो। त जहा, आयारो सूदयद ठाण समवायो वियाहपण्णत्ती णाहधम्मकहा उवासयज्झयण अतयडदसा अणुत्तरोववादियदसा पण्हवायरण विवागसुत्त दिट्ठिवादो चेदि।

—पुस्तक १, पृ० ९९

व्याख्याप्रज्ञप्ति-अंग २२८००० पदो द्वारा जीवादिविपयक साठ हजार प्रश्नो का निरूपण करता है।

नाथधर्मकथाग ५५६०००पदो द्वारा तीर्थंकरो की धर्मदेशना का, सशय को प्राप्त गणधरदेव के सन्देह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथाओ व उपकथाओ का वर्णन करता है।

उपासकाध्ययनाग ११७०००० पदो द्वारा दर्शनादि ग्यारह प्रकार के श्रावको के लक्षण, उनके व्रत धारण करने की विधि तथा उनके आचरण का वर्णन करता है।

अन्तकृद्दशाग २३२८००० पदो द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ मे नाना प्रकार के दारुण उपसर्ग सहन करके तथा प्रातिहार्य (अतिशयविशेष) प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त हुए दस-दस अन्तकृतो का वर्णन करता है।

अनुत्तरौपपादिकदशाग ९२४४००० पदो द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में अनेक प्रकार के कठोर परीषह सहकर प्रातिहार्य प्राप्त करके अनुत्तर विमान मे गए हुए दस-दस अनुत्तरौपपादिको का वर्णन करता है।

प्रश्नव्याकरणाग ९३१६००० पदो द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेदनी और निर्वेदनी—इन चार प्रकार की कथाओ का वर्णन करता है।

विपाकसूत्राग १८४००००० पदो द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मो के फल का वर्णन करता है।

इन ग्यारह अगो के पदो का योग ४१५०२००० है।[1]

दृष्टिवाद नामक वारहवे अग मे क्रियावादियो की १८०, अक्रियावादियो की ८४, अज्ञानवादियो की ६७ और विनयवादियो की ३२—इस प्रकार कुल ३६३ दृष्टियो (मतो) का निरूपण एव निराकरण किया गया है। इसके पाँच अर्थाधिकार है परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। टीकाकार ने इनके भेद-प्रभेदो का वहुत विस्तार से वर्णन किया है एव वताया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बन्ध पूर्वगत के द्वितीय भेद अग्रायणीयपूर्व से है।[2]

धवला का यह श्रुतवर्णन समवायाग, नन्दी आदि सूत्रो के श्रुतवर्णन से बहुत-कुछ मिलता जुलता है। वीच-वीच मे टीकाकार ने तत्त्वार्थभाष्य के वाक्य भी उद्धृत किये है।

---

१ वही, पृ० ९९-१०७, पुस्तक ९, पृ० १९७-२०३ (जयधवला मे भी इसी प्रकार का वर्णन है। देखिए—कसायपाहुड, भा० १, पृ० ९३-९६)

२. पुस्तक १, पृ १०७-१३०, पुस्तक ९, पृ० २०३-२२९.

विरोधी वचन—आचार्यों के अमुक वचनो मे आनेवाले विरोध की चर्चा करते हुए टीकाकार ने कहा है कि ये वचन जिनेन्द्रदेव के न होकर बाद मे होने वाले आचार्यों के हैं अतः उनमे विरोध आना सम्भव है। तो फिर आचार्यों द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत को (जिनके उपदेशो मे अमुक प्रकार का विरोध है) सूत्रत्व कैसे प्राप्त हो सकता है? इस शंका का समाधान करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि जिनका अर्थरूप से तीर्थंकर ने कथन किया है तथा ग्रन्थरूप मे गणधरदेव ने निर्माण किया है ऐसे आचार्य-परम्परा से निरतर चले आने वाले बारह अग युग के स्वभाव से बुद्धि की क्षीणता होने पर उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। पापभीरु तथा गृहीतार्थ आचार्यों ने तीक्ष्णबुद्धि पुरुषो का क्षय देखकर तीर्थव्युच्छेद के भय से अवशिष्ट अश को ग्रन्थबद्ध किया अतएव उन ग्रथो मे असूत्रत्व नही आ सकता। यदि ऐसा है तो दो प्रकार के विरोधी वचनो मे से किस वचन को सत्य माना जाय? इसका निर्णय तो श्रुतकेवली अथवा केवली ही कर सकते है, अन्य कोई नही। इसलिए वर्तमान काल के पापभीरु आचार्यों को दोनो का ही सग्रह करना चाहिए।[1]

स्त्री-मुक्ति—आगम से द्रव्यस्त्रियो की मुक्ति सिद्ध नही है क्योकि वस्त्र-सहित[2] होने के कारण उनके अप्रत्याख्यान गुणस्थान होता है अतः उनके सयम की उत्पत्ति नही हो सकती। यदि यह कहा जाय कि वस्त्र-सहित होते हुए भी उनके भावसयम होने मे कोई विरोध नही तो भी ठीक नही। द्रव्यस्त्रियो के भावसयम नही होता क्योकि भावसयम मानने पर भाव-असयम का अविनाभावी वस्त्रादि उपादान का ग्रहण नही हो सकता। तो फिर स्त्रियो मे चौदह गुणस्थान होते है, यह कैसे? भावस्त्रीविशिष्ट अर्थात् स्त्रीवेदयुक्त मनुष्यगति मे चौदह गुणस्थानो का सद्भाव मानने मे कोई विरोध नही। यदि यह कहा जाय कि बादरकषाय गुणस्थान से ऊपर भाववेद नही पाया जाता अतः भाववेद मे चौदह गुणस्थानो का सद्भाव नही हो सकता तो भी ठीक नही, क्योकि यहाँ पर वेद की प्रधानता नही है किन्तु गति की प्रधानता है और गति पहले नष्ट नही होती। तो फिर

---

१ पुस्तक १, पृ० २२१–२२२

२ आगे द्रव्यनपुंसक को भी वस्त्रादि का त्याग करने मे असमर्थ बताया गया है। जैसा कि टीकाकार ने लिखा है

ण च दव्वित्थिणपुंसयवेदाण चेलादिचागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो।

—पुस्तक ११, पृ० ११४–११५

वेद विशेषण से युक्त मनुष्यगति मे चौदह गुणस्थान सम्भव नही है, ऐसा मानना चाहिए। इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेपण से युक्त सज्ञा को धारण करनेवाली मनुष्य-गति मे चौदह गुणस्थानो का सद्भाव मान लेने मे कोई विरोध नही आता।[1]

स्त्री-पुरुष-नपुंसक—जो दोषो से अपने को और दूसरे को आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं। अथवा जो पुरुष की आकाक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं। जो उत्कृष्ट गुणो में और उत्कृष्ट भोगो मे शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं। अथवा जिस कर्म के उदय से जीव सुषुप्त पुरुष के समान अनुगतगुण तथा अप्राप्तभोग होता है उसे पुरुष कहते हैं। अथवा जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह पुरुष है। जो न स्त्री है, न पुरुष, उसे नपुंसक कहते है। उसमे स्त्री और पुरुष उभय-विषयक अभिलाषा पाई जाती है।[2] अपने कथन की पुष्टि के लिए टीकाकार ने 'उक्त च' कहकर निम्नलिखित गाथाएँ उद्धृत की हैं

छादेदि सयं दोसेण यदो छादइ परं हि दोसेण।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी ॥१७०॥
पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोगम्हि पुरुगुण कम्मं।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो ॥१७१॥
णवित्थि णेव पुमं णवुंसओ उभयलिंगवदिरित्तो।
इट्ठावागसमाणगवेयणगरुओ कलुसचित्तो ॥१७२॥

ज्ञान-अज्ञान—जो जानता है उसे ज्ञान कहते है। अथवा जिसके द्वारा जीव जानता है, जानता था अथवा जानेगा उसे ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञानावरणीय कर्म के एकदेशक्षय से अथवा सम्पूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला आत्मपरिणाम है। ज्ञान दो प्रकार का है प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष ज्ञान के दो भेद है मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। पाँच इन्द्रियो और मन से जो

---

१ पुस्तक १, पृ० ३३३

२ दोषैरात्मान परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री'' । अथवा पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री । पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुष । सुषुप्तपुरुषवदनुगतगुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुष '' '। पुरुगुण कर्म शेते करोतीति वा पुरुष । न स्त्री न पुमान्न-पुंसकमुभयाभिलाष इति यावत्।

—वही, पृ० ३४०–३४१.

पदार्थ का ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते है। यह चार प्रकार का है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयी के सम्बन्ध के अनन्तर होने वाला प्रथम ग्रहण अवग्रह कहलाता है। अवग्रह से गृहीत पदार्थ के विषय मे विशेष आकाक्षा करना ईहा कहलाता है। ईहा द्वारा जाने गये पदार्थ का निश्चयरूप ज्ञान अवाय कहलाता है। अविस्मरणरूप सस्कार को उत्पन्न करने वाला ज्ञान धारणा कहलाता है।[1]

शब्द तथा धूमादि लिंग द्वारा होने वाला अर्थान्तर का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। शब्द के निमित्त से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान दो प्रकार का है अग और अगबाह्य। अग के बारह तथा अगबाह्य के चौदह भेद है।[2]

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद है अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। समस्त मूर्त पदार्थो को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते है। मन का आश्रय लेकर मनोगत पदार्थों का साक्षात्कार करने वाले ज्ञान को मन पर्यय-ज्ञान कहते है। त्रिकालगत समस्त पदार्थो को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते है।[3]

मिथ्यात्वयुक्त इन्द्रियजन्य ज्ञान को मति-अज्ञान कहते है। मिथ्यात्वयुक्त शाब्द ज्ञान श्रुत-अज्ञान कहलाता है। मिथ्यात्वसहित अवधिज्ञान को विभंगज्ञान (अवधि-अज्ञान) कहते है।[4]

लेश्या—टीकाकार ने 'लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया ' सूत्र की व्याख्या करते हुए लेश्या की परिभाषा इस प्रकार दी है : जो कर्मस्कन्ध से आत्मा का लिप्त करती है उसे लेश्या कहते है। इस परिभाषा का समर्थन करते हुए टीकाकार ने कहा है कि यहाँ 'कषाय से अनुरजित योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है' इस परिभाषा को स्वीकार नही करना चाहिये क्योकि ऐसा मानने पर सयोगिकेवली लेश्यारहित हो जायगा जबकि शास्त्र में सयोगिकेवली शुक्ललेश्या-युक्त माना गया है।[5]

गणितप्रधान द्रव्यानुयोग—द्रव्यप्रमाणानुगम, द्रव्यानुयोग अथवा सख्या-प्ररूपणा का विवेचन प्रारम्भ करने के पूर्व धवलाकार ने लिखा है कि जिसने केवलज्ञान के द्वारा षड्द्रव्य को प्रकाशित किया है तथा जो प्रवादियो से नहीं जीता जा सका उस जिन को नमस्कार करके गणितप्रधान द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन करता हूँ

१, पुस्तक १, पृ० ३५३–३५४ २ वही, पृ० ३५७–३५८.
३. वही, पृ० ३५८ ४. वही. ५. वही, पृ० ३८६.

केवलणाणुज्जोइयछद्दव्वमणिज्जियं पवाईहि।
णमिऊण जिण भणिमो दव्वणिओग गणियसारं॥

इसके बाद आचार्य ने 'दव्वपमाणाणुगमेण'.... सूत्र की उत्थानिका के रूप मे लिखा है कि जिन्होने चौदह जीवसमासो—गुणस्थानो के अस्तित्व को जान लिया है उन शिष्यो को अब उन्ही के परिमाण का ज्ञान कराने के लिए भूतबलि आचार्य सूत्र कहते है।[1]

परिमाण अथवा प्रमाण का अर्थ है माप। यह चार प्रकार का होता है १ द्रव्यप्रमाण, २ क्षेत्रप्रमाण, ३. कालप्रमाण, ४ भावप्रमाण। प्रस्तुत प्रतिपादन में द्रव्यप्रमाण के बाद क्षेत्रप्रमाण का प्ररूपण न करते हुए कालप्रमाण का प्ररूपण किया गया है।

द्रव्यप्रमाण के तीन भेद है सख्येय, असख्येय और अनन्त। सख्येय तीन प्रकार का है. जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गणना की आदि एक से मानी जाती है किन्तु एक केवल वस्तु की सत्ता की स्थापना करता है, भेद को सूचित नही करता। भेद का सूचन दो से प्रारम्भ होता है अतएव दो को सख्येय का आदि माना गया है। इस प्रकार जघन्य सख्येय दो है। उत्कृष्ट सख्येय जघन्य परीत-असख्येय से एक कम होता है। जघन्य सख्येय व उत्कृष्ट सख्येय के मध्य मे आने वाली सब सख्याएँ मध्यम सख्येय के अन्तर्गत है। असख्येय के तीन भेद है परीत, युक्त और असख्येय। इन तीनो मे से प्रत्येक के पुन तीन भेद है जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अनन्त भी तीन प्रकार का है: परीत, युक्त और अनन्त। टीकाकार ने इन सब भेद-प्रभेदो का अति सूक्ष्मता से विचार किया है। इसी प्रकार कालप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण आदि का भी अति सूक्ष्म प्रतिपादन किया है। इससे टीकाकार की गणितविषयक निपुणता प्रमाणित होती है।[2]

पृथिवीकायिकादि जीव—धवलाकार ने 'कायाणुवादेण पुढविकाइया आउकाइया ' सूत्र का व्याख्यान करते हुए बताया है कि यहाँ पर पृथिवी है काय अर्थात् शरीर जिनका उन्हे पृथिवीकाय कहते हैं, ऐसा नही

---

१ पुस्तक ३, पृ० १.

२ वही, पृ० १०–२६० एतद्विषयक विशेष जानकारी के लिए पुस्तक ४ में प्रकाशित 'Mathematics of Dhavala' लेख या पुस्तक ५ में प्रकाशित उसका हिन्दी अनुवाद 'धवला का गणितशास्त्र' देखना चाहिए।

कहना चाहिए। पृथिवीकायिक आदि का ऐसा अर्थ करने पर विग्रहगति में विद्यमान जीवो के अकायित्व का प्रसग उपस्थित होता है। अत पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से युक्त जीव पृथिवीकायिक है, ऐसा कहना चाहिए। पृथिवीकायिक नामकर्म कर्म के भेदो मे नही गिनाया गया है, ऐसा नही समझना चाहिए। पृथिवीकायिक नामकर्म एकेन्द्रिय जाति-नामकर्म के अन्तर्गत समाविष्ट है। यदि ऐसा है तो सूत्रसिद्ध कर्मो की सख्या का नियम नही रह सकता। इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि सूत्र मे कर्म आठ अथवा एक सौ अडतालीस ही नही कहे गये है। दूसरी सख्याओ का प्रतिषेध करने वाला 'एव' पद सूत्र मे नही पाया जाता। तो फिर कर्म कितने है? लोक मे अश्व, गज, वृक, भ्रमर, शलभ, मत्कुण आदि जितने कर्मों के फल पाये जाते है, कर्म भी उतने ही होते है।[1]

इसी प्रकार अप्कायिक आदि शेष कायिकों के विषय मे भी कथन करना चाहिए।[2]

चन्द्र-सूर्य—जम्बूद्वीप मे दो चन्द्र और दो सूर्य है। लवणसमुद्र मे चार चन्द्र और चार सूर्य है। धातकीखण्ड मे पृथक्-पृथक् बारह चन्द्र-सूर्य है। कालोदक समुद्र मे बयालीस चन्द्र-सूर्य है। पुष्कर द्वीपार्ध मे बहत्तर चन्द्र-सूर्य है। मानुषोत्तर शैल से बाहरी (प्रथम) पक्ति मे एक सौ चौवालीस चन्द्र-सूर्य है। इससे आगे चार की सख्या का प्रक्षेप करके अर्थात् चार-चार बढाते हुए बाहरी आठवी पक्ति तक चन्द्र-सूर्य की सख्या जाननी चाहिए। इससे आगे के समुद्र की भीतरी प्रथम पक्ति मे दो सौ अठासी चन्द्र-सूर्य है। इससे आगे चार-चार बढाते हुए बाहरी पक्ति तक चन्द्र-सूर्य की संख्या जाननी चाहिए। इस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र तक समझना चाहिए।[3] कहा भी है

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारो की दूनी-दूनी सख्याओ से निरन्तर तिर्यग्लोक द्विवर्गात्मक है।[4]

---

१ पुस्तक ३, पृ० ३३०   २ वही   ३ पुस्तक ४, पृ० १५०–१५१.

४ चदाइच्चगहेहिं चेव णक्खत्तताररूवेहिं।
दुगुणदुगुणेहिं णीरतरेहि दुवग्गो तिरियलोगो॥

—वही, पृ० १५१

चन्द्र का परिवार—एक चन्द्र के परिवार मे (एक सूर्य के अतिरिक्त) ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र और ६६९७५०००००००००००००० तारे होते है

> अट्ठासीति च गहा अट्ठावीस तु हुति नक्खत्ता।
> एगससीपरिवारो इत्तो ताराण वोच्छामि ॥
> छावट्ठि च सहस्स णवयसदं पचसत्तरि य होति।
> एयससीपरिवारो ताराण कोडिकोडीओ ॥

घवला मे उद्घृत[1] ये गाथाएँ चन्द्रप्रज्ञप्ति एव सूर्यप्रज्ञप्ति मे उपलब्ध होती हैं।

पृथिवियो की लम्बाई-चौड़ाई—सब पृथिवियो की लम्बाई सात राजू है। प्रथम पृथिवी एक राजू से कुछ अधिक चौडी है। द्वितीय पृथिवी १$\frac{6}{7}$ राजू चौडी है। तृतीय पृथिवी की चौडाई २$\frac{5}{7}$ राजू है। चतुर्थ पृथिवी की चौडाई ३$\frac{4}{7}$ राजू है। पचम पृथिवी ४$\frac{3}{7}$ राजू चौडी है। षष्ठ पृथिवी की चौडाई ५$\frac{2}{7}$ राजू है। सप्तम पृथिवी की चौडाई ६$\frac{1}{7}$ राजू है। अष्टम पृथिवी एक राजू से कुछ अधिक चौडी है। प्रथम पृथिवी की मोटाई १८०००० योजन है। द्वितीय पृथिवी की मोटाई ३२००० योजन है। तृतीय पृथिवी २८००० योजन मोटी हैं। चतुर्थ पृथिवी २४००० योजन मोटी है। पचम पृथिवी की मोटाई २०००० योजन है। षष्ठ पृथिवी की मोटाई १६००० योजन है। सप्तम पृथिवी ८००० योजन मोटी है। अष्टम पृथिवी आठ योजन मोटी है [2]

कालानुगम—कालानुगम का व्याख्यान प्रारम्भ करने के पूर्व घवलाकार ने ऋषभसेन (भगवान् ऋषभदेव के प्रथम गणधर) को नमस्कार किया हैं।[3] तदनन्तर काल का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से विचार किया हैं।[4] अपने वक्तव्य के समर्थन मे आचार्य ने 'वुत्त च पचत्थिपाहुडे', 'जीवसमासाए वि उत्त', 'तह आयारगे वि वुत्त', 'तह गिद्धपिछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि' इत्यादि वाक्यो का प्रयोग करते हुए पचास्तिकायप्राभृत, जीवसमास, आचाराग (मूलाचार) एव गृद्धपिच्छाचायप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के उद्धरण दिये है।[5] कालानुगम के ओघनिर्देश अर्थात् सामान्यकथन एव आदेशनिर्दश

---

१. वही, पृ० १५२
२. वही, पृ० २४८.
३. वही, पृ० ३१३
४ वही, पृ० ३१३–३१७
५ वही, पृ० ३१५–३१७.

अर्थात् विशेषकथन का प्रतिपादन करते हुए पुनः ऋषभसेन का नामोल्लेख किया है।[1]

अन्तरानुगम—अन्तरानुगम का व्याख्यान प्रारम्भ करने के पूर्व टीकाकार ने प्रथम जिन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया है। तदनन्तर नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से अन्तर का विवेचन किया है। आचार्य ने बताया है कि अन्तर, उच्छेद, विरह, परिणामान्तरगमन नास्तित्वगमन और अन्यभावव्यवधान एकार्थक है।[2]

दक्षिणप्रतिपत्ति और उत्तरप्रतिपत्ति—धवलाकार ने दक्षिण व उत्तर की भिन्न-भिन्न मान्यताओ का उल्लेख करते हुए दक्षिणप्रतिपत्ति का समर्थन किया है। 'उक्कस्सेण तिण्णि पलिदोवमाणि देसूणाणि' सूत्र का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि इस विपय मे दो उपदेश है। तिर्यञ्चो मे उत्पन्न हुआ जीव दो मास और मुहूर्त-पृथक्त्व से ऊपर सम्यक्त्व तथा सयमासयम को प्राप्त करता है। मनुष्यो मे गर्भकाल से प्रारम्भ कर अन्तर्मुहूर्ताधिक आठ वर्प व्यतीत हो जाने पर सम्यक्त्व, सयम तथा सयमासयम की प्राप्ति होती है। यह दक्षिण-प्रतिपत्ति है। दक्षिण, ऋजु और आचार्यपरम्परागत एकार्थक है। तिर्यञ्चो मे उत्पन्न हुआ जीव तीन पक्ष, तीन दिवस और अन्तर्मुहूर्त से ऊपर सम्यक्त्व तथा सयमासयम को प्राप्त करता है। मनुष्यो मे आठ वर्ष से ऊपर सम्यक्त्व, सयम तथा सयमासयम की प्राप्ति होती है। यह उत्तरप्रतिपत्ति है। उत्तर, अनृजु और आचार्यपरम्परानागत एकार्थक है।[3]

---

१ किमट्ठ दुविहो णिद्देसो उसहसेणादिगणहरदेवेहि कीरदे ?

—वही, पृ० ३२३

२ पुस्तक ५, पृ० ३

३ एत्थ वे उवदेसा। त जहा–तिरिक्खेसु वेमासमुहुत्तपुधत्तस्सुवरि सम्मत्त सजमासजम च जीवो पडिवज्जदि। मणुसेसु गब्भादिअट्ठवस्सेसु अतोमुहुत्तब्भहिएसु सम्मत्त सजम सजमासजम च पडिवज्जदि त्ति। एसा दक्खिणपडिवत्ती। दक्खिण उज्जुव आइरियपरपरागदमिदि एयट्ठो। तिरिक्खेसु तिण्णिपक्ख-तिण्णिदिवसअतोमुहुत्तस्सुवरि सम्मत्त सजमासजम च पडिवज्जदि। मणुसेसु अट्ठवस्साणमुवरि सम्मत्त सजम सजमासजम च पडिवज्जदि त्ति। एसा उत्तर-पडिवत्ती। उत्तरमणुज्जुव आइरियपरपराए णागदमिदि एयट्ठो।

—वही, पृ० ३२

दर्शन और ज्ञान—आत्मविषयक उपयोग को दर्शन कहते है। दर्शन ज्ञानरूप नही है क्योकि ज्ञान बाह्य पदार्थो को अपना विषय बनाता है। बाह्य और अतरग विषय वाले ज्ञान और दर्शन का एकत्व नही है क्योकि वैसा मानने मे विरोध आता है। ज्ञान को दो शक्तियो से युक्त भी नही माना जा सकता क्योकि पर्याय के पर्याय का अभाव होता है। इसलिए ज्ञान-दर्शनलक्षणात्मक जीव मानना चाहिए। ये ज्ञान-दर्शन आवरणीय है क्योकि विरोधी द्रव्य का सन्निधान होने पर भी इनका निर्मूल विनाश नही होता। यदि इनका निर्मूल विनाश हो जाय तो जीव के भी विनाश का प्रसग उपस्थित हो जाय क्योकि लक्षण का विनाश होने पर लक्ष्य के अवस्थान का विरोध दृष्टिगोचर होता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान-दर्शनरूप जीवलक्षणत्व असिद्ध भी नही है क्योकि इन दोनो का अभाव मानने पर जीवद्रव्य के ही अभाव का प्रसग उपस्थित होता है।[1]

श्रुतज्ञान—इन्द्रियो से गृहीत पदार्थ से पृथग्भूत पदार्थ का ग्रहण श्रुतज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ शब्द से घटादि का ग्रहण तथा धूम से अग्नि की उपलब्धि श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान बीस प्रकार का है १ पर्याय, २ पर्यायसमास, ३ अक्षर, ४ अक्षरसमास, ५ पद, ६. पदसमास, ७ सघात, ८, सघातसमास, ९ प्रतिपत्ति, १० प्रतिपत्तिसमास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोगसमास, १३ प्राभृतप्राभृत, १४ प्राभृतप्राभृतसमास, १५, प्राभृत, १६ प्राभृतसमास, १७ वस्तु, १८ वस्तुसमास, १९ पूर्व, २० पूर्वसमास।[2]

क्षरण अर्थात् विनाश का अभाव होने के कारण केवलज्ञान अक्षर कहलाता है। उसका अनन्तवाँ भाग पर्याय नामक मतिज्ञान है। यह केवलज्ञान के समान निरावरण एव अविनाशी अर्थात् अक्षर है। इस सूक्ष्म-निगोद-लब्धि-अक्षर से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह भी कार्य मे कारण के उपचार से पर्याय कहलाता है। इससे अनन्तभाग अधिक श्रुतज्ञान पर्यायसमास कहलाता है। अनन्तभागवृद्धि, असख्येयभागवृद्धि, सख्येयभागवृद्धि, सख्येयगुणवृद्धि, असख्येयगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिरूप एक षड्वृद्धि होती है। इस प्रकार को असख्येयलोकप्रमाण षड्वृद्धियाँ होने पर पर्यायसमास नामक श्रुतज्ञान का अन्तिम विकल्प होता है। इसे अनन्त रूपो से गुणित करने पर अक्षर नामक श्रुतज्ञान होता है। इसके ऊपर अक्षरवृद्धि ही होती है, अन्य वृद्धियाँ नही होती। कुछ आचार्य ऐसा कहते है

---

१. पुस्तक ६, पृ० ९, ३३–३४, पुस्तक ७, पृ० ९६–१०२.

२. पुस्तक ६, पृ० २१.

कि अक्षर-श्रुतज्ञान भी षड्विध वृद्धि से बढता है। उनका यह कथन घटित नही होता क्योकि सकल श्रुतज्ञान के सख्यातवें भागरूप अक्षर-ज्ञान से ऊपर षड्-वृद्धियो का होना सम्भव नही है। अक्षर-श्रुतज्ञान से ऊपर और पद-श्रुतज्ञान से नीचे सख्येय विकल्पो की अक्षरसमास सज्ञा है। इससे एक अक्षर-ज्ञान बढने पर पद नामक श्रुतज्ञान होता है। १६३४८३०७८८८ अक्षरो का एक द्रव्यश्रुत-पद होता है। इन अक्षरो से उत्पन्न भावश्रुत भी उपचार से पद कहा जाता है। इस पद-श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर-श्रुतज्ञान बढने पर पदसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षर के क्रम से पदसमास-श्रुतज्ञान बढता हुआ सघात-श्रुतज्ञान तक जाता है। सख्येय पदो द्वारा सघात-श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसके ऊपर एक अक्षर-श्रुतज्ञान बढने पर सघातसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। सघातसमास बढता हुआ एक अक्षर-श्रुतज्ञान से न्यून प्रतिपत्ति-श्रुतज्ञान तक जाता है। प्रतिपत्ति-श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर-श्रुतज्ञान बढने पर प्रतिपत्तिसमास नामक श्रुतज्ञान होता है। प्रतिपत्तिसमास बढता हुआ एक अक्षर-श्रुतज्ञान से न्यून अनुयोगद्वार-श्रुतज्ञान तक जाता है। इस प्रकार पूर्वसमास तक श्रुतज्ञान के भेदो का स्वरूप समझना चाहिए। पूर्वसमास लोकबिन्दुसार के अन्तिम अक्षर तक जाता है।[1]

नरक में सम्यक्त्वोत्पत्ति—सूत्रकार ने नरक मे सम्यक्त्वोत्पत्ति के तीन कारण बतलाये हैं जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदानुभव। टीकाकार ने इन तीनो कारणो के विषय मे शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया है। जातिस्मरण अर्थात् भवस्मरण के विषय मे यह शका उठाई गयी है कि चूँकि सभी नारकी विभगज्ञान के द्वारा एक, दो, तीन आदि भवग्रहण जानते है इसलिए सभी को जातिस्मरण होता है। ऐसी स्थिति मे सभी नारकी सम्यग्दृष्टि होने चाहिए। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि सामान्य भवस्मरण से सम्यक्त्व की उत्पत्ति नही होती किन्तु धर्मबुद्धि से पूर्वभव मे किये गये अनुष्ठानो की विफलता के दर्शन से प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। धर्मश्रवण के सम्बन्ध मे यह शका उठाई गयी है कि नारकी जीवो के धर्मश्रवण की सम्भावना कैसे हो सकती है जबकि वहाँ ऋषियो का गमन ही नही होता? इसका समाधान यो किया गया है—अपने पूर्वभव के सम्बन्धियो मे धर्म उत्पन्न कराने मे प्रवृत्त समस्त बाधाओ से रहित सम्यग्दृष्टि देवो का नरक मे गमन देखा जाता है। वेदनानुभवन के विषय मे यह शका उठाई गयी है कि सब नारकियो मे सामान्य होने के कारण वेदना का

---

१. वही, पृ० २१–२५.

अनुभवनसम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नही हो सकता। अन्यथा सब नारकी सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे। इस शका का समाधान करते हुए कहा गया है कि वेदनासामान्य सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नही है। जिन जीवो में ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण अथवा अमुक असयम के कारण उत्पन्न हुई है उन्ही जीवो की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है।[1]

बन्धक—क्षुद्रकबन्ध का व्याख्यान प्रारम्भ करने के पूर्व टीकाकार ने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतरूपी पर्वत का अपने बुद्धिरूपी सिर से उद्धार कर पुष्पदन्ताचार्य को समर्पित करनेवाले धरसेनाचार्य की जयकामना की है

जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयतस्स॥

महाकमप्रकृतिप्राभृत के कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारो में से छठें अनुयोगद्वार बन्धक के चार अधिकार हैं बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। बन्धक जीव ही होते हैं क्योंकि मिथ्यात्वादि बन्ध के कारणो से रहित अजीव के बन्धकत्व की उपपत्ति नही बनती। बन्धक चार प्रकार के हैं नामबन्धक, स्थापनाबन्धक, द्रव्यबन्धक और भावबन्धक। धवलाकार ने इन सब का स्वरूप समझाया है।[2]

बन्धस्वामित्वविचय—साधु, उपाध्याय, आचार्य, अरिहत और सिद्ध—इन पांच लोकपालो को नमस्कार करके टीकाकार ने बन्ध के स्वामित्व का विचार किया है।

साहूवज्झाइरिए अरहते वदिऊण सिद्धे वि।
जे पच लोगवाले वोच्छ वधस्स सामित्त॥

कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारो मे बन्धन छठा अनुयोगद्वार है। उसके बन्ध आदि चार भेद अथवा अधिकार हैं। इनमें से बन्ध नामक प्रथम अधिकार मे जीव और कर्मो के सम्बन्ध का नय की अपेक्षा से निरूपण है। बन्धक नामक द्वितीय अधिकार मे ग्यारह अनुयोगद्वारो से बन्धको का निरूपण किया गया है। बन्धनीय नामक तृतीय अधिकार तेईस वर्गणाओ से बन्धयोग्य एव अबन्धयोग्य पुद्गल द्रव्य का प्ररूपण करता है। बन्धविधान नामक चतुर्थ अधिकार चार प्रकार का है प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमें से प्रकृतिबन्ध के दो भेद हैं मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध। मूल-

---

१ वही, पृ० ४२२–४२३ २. पुस्तक ७, पृ० १ ५

प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का है एक-एकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढमूलप्रकृति-बन्ध। उत्तरप्रकृतिबन्ध के चौवीस अनुयोगद्वार है जिनमे बन्धस्वामित्व भी एक है। उसीका नाम बन्धस्वामित्वविचय है। जीव और कर्मों का मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगसे जो एकत्व-परिणाम होता है उसे बन्ध कहते हैं। इस बन्ध का जो स्वामित्व है उसका नाम है बन्धस्वामित्व। उसका जो विचय है वह बन्ध-स्वामित्वविचय है। विचय, विचारणा, मीमासा और परीक्षा एकार्थक है।[1]

तीर्थोत्पत्ति—वेदना खण्ड मे अन्तिम मगलसूत्र 'णमो वड्ढमाणबुद्धरिसिस्स' की व्याख्या के प्रसग से धवलाकार ने तीर्थ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए समवसरणमण्डल की रचना का रोचक वर्णन किया है तथा वर्धमान भट्टारक को तीर्थ उत्पन्न करनेवाला बताया है।[2]

सर्वज्ञत्व—जीव केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञानी, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शनी, मोहनीय के क्षय से वीतराग तथा अन्तराय के क्षय से अनन्त-बलयुक्त होता है। आवरण के क्षीण हो जानेपर ज्ञान की परिमितता नही रहती, क्योकि प्रतिबन्धरहित सकलपदार्थविगमनस्वभाव जीव के परिमित पदार्थों के जानने का विरोध है। कहा भी है

ज्ञ अर्थात् ज्ञानस्वभाव जीव प्रतिबन्धक का अभाव होने पर ज्ञेय के विषय मे अज्ञ अर्थात् ज्ञानरहित कैसे हो सकता है अर्थात् नही हो सकता। क्या अग्नि प्रतिबन्धक के अभाव मे दाह्य पदार्थ को नही जलाती अर्थात् अवश्य जलाती है।

इस प्रकार के ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व से युक्त वर्धमान भट्टारक ने तीर्थ की उत्पत्ति की।[3]

महावीर-चरित—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के भेद से काल दो प्रकार का है। जिस काल में बल, आयु व उत्सेध का उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है तथा जिस काल मे उनका अवसर्पण अर्थात् हानि होती है वह अवसर्पिणी काल है। ये दोनो सुषमसुषमादि आरो के भेद से छ-छ प्रकार के है। इस भरतक्षेत्र के अवसर्पिणी काल के दुष्षमसुषमा नामक चतुर्थ आरे के ३३ वर्ष ६ मास ९ दिन शेष रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई। यह कैसे ? चतुर्थ

---

१ पुस्तक ८, पृ० १–३
२. पुस्तक ९, पृ० १०९–११३.
३ वही, पृ० ११८–११९

आरे के ७५ वर्ष ८ मास १५ दिन शेप रहनेपर पुष्पोत्तर विमान से आपाढ शुक्ला पष्ठी के दिन वहत्तर वर्ष की आयु से युक्त तथा तीन प्रकार के ज्ञान के धारक भगवान् महावीर गर्भ मे अवतीर्ण हुए। महावीर का कुमार काल ३० वर्ष, छद्मस्थ काल १२ वर्ष और केवलिकाल ३० वर्ष है। इस प्रकार उनकी आयु ७२ वर्ष होती है। इसे ७५ वर्ष मे से कम करने पर वर्धमान महावीर के मुक्त होने पर जो शेप चतुर्थ आरा रहता है उसका प्रमाण होता है। इसमे ६६ दिन कम केवलिकाल जोडने पर चतुर्थ आरे के ३३ वर्ष ६ मास ९ दिन शेप रहते है। केवलिकाल मे ६६ दिन इसलिए कम किये जाते है कि केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी गणधर का अभाव होने के कारण उतने समय तक तीर्थ की उत्पत्ति नही हुई।[1]

अन्य कुछ आचार्य वर्धमान जिनेन्द्र की आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन मानते है। उनके मत से गर्भस्थ, कुमार, छद्मस्थ और केवलज्ञान के कालो की प्ररूपणा इस प्रकार है

भगवान् महावीर आपाढ शुक्ला पष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की त्रिशला देवी के गर्भ मे आकर वहाँ ९ मास ८ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे गर्भ से बाहर आये। उन्होने २८ वर्ष ७ मास १२ दिन श्रेष्ठ मानुपिक सुख का सेवन करके आभिनिवोधिक ज्ञान से प्रवुद्ध होते हुए पष्ठोपवास के साथ मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन गृहत्याग किया। त्रिरत्नशुद्ध महावीर १२ वर्ष ५ मास १५ दिन छद्मस्थ अवस्था मे रहकर ऋजुकूला नदी के तीर पर जृम्भिका ग्राम के बाहर शिलापट्ट पर पष्ठोपवास के साथ आतापन लेते हुए अपराह्न काल मे पादपरिमित छाया होने पर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन क्षपकश्रेणी पर आरुढ होकर एव घातिकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को सम्प्राप्त हुए। इसके वाद २९ वर्ष ५ मास २० दिन चार प्रकार के अनगारो व वारह गणो के साथ विहार कर अन्त मे वे पावा नगर मे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन स्वाति नक्षत्र मे रात्रि के समय शेप कर्मो को नष्ट कर मुक्त हुए।[2]

भगवान् महावीर के निर्वाण-दिवस से ३ वर्ष ८ मास १५ दिन व्यतीत होने पर श्रावण मास की प्रतिपदा के दिन दुष्पमा नामक आरा अवतीर्ण हुआ। इस

---

१ वही, पृ० ११९-१२१ २ वही, पृ० १२१-१२५.

काल को वर्धमान जिनेन्द्र की आयु मे मिला देने पर चतुर्थ आरे के ७५ वर्ष १० दिन शेष रहने पर महावीर के स्वर्ग से अवतीर्ण होने का काल होता है।[1]

उक्त दो उपदेशो मे से कौन-सा उपदेश ठीक है, इस विषय मे एलाचार्य का शिष्य अर्थात् धवलाकार वीरसेन अपनी जीभ नही चलाता याने कुछ नही कहता क्योकि न तो एतद्विषयक कोई अन्य उपदेश ही प्राप्त है और न इन दो मे से किसी एक मे कोई बाधा ही उत्पन्न होती है। किन्तु यह निश्चित है कि दोनो मे से कोई एक ही ठीक है।[2]

महावीर की शिष्य-परम्परा—कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले भाग मे भगवान् महावीर के मुक्त होने पर केवलज्ञान की परम्परा को धारण करने वाले गौतम स्वामी हुए। १२ वर्ष तक विहार करके गौतम स्वामी के मुक्त हो जाने पर लोहार्याचार्य केवलज्ञान की परम्परा के धारक हुए। १२ वर्ष तक विहार करके लोहार्य भट्टारक के मुक्त हो जाने पर जम्बू भट्टारक केवलज्ञान-परम्परा के धारक हुए। ३८ वर्ष तक विहार करके जम्बू भट्टारक के मुक्त हो जाने पर भरत क्षेत्र मे केवलज्ञान की परम्परा का व्युच्छेद हो गया। इस प्रकार महावीर के मुक्त होने पर ६२ वर्ष से केवलज्ञानरूपी सूर्य भरत क्षेत्र मे अस्त हुआ। उस समय सकल श्रुतज्ञान की परम्परा के धारक विष्णु आचार्य हुए। तदनन्तर अविच्छिन्न सन्तानरूप से नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु सकल श्रुत के धारक हुए। इन पाँच श्रुतकेवलियो के काल का योग १०० वर्ष है। भद्रबाहु भट्टारक का स्वर्गवास होने पर भरत क्षेत्र मे श्रुतज्ञानरूपी पूर्णचन्द्र अस्त हो गया। उस समय ग्यारह अगो व विद्यानुप्रवादपर्यन्त दृष्टिवाद के धारक विशाखाचार्य हुए। इसके आगे के चारो पूर्व उनका एक देश धारण करने के कारण व्युच्छिन्न हो गये। फिर वह त्रिकल श्रुतज्ञान प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल्ल, गगदेव और धर्मसेन की परम्परा से १८३ वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया। धर्मसेन भट्टारक के स्वर्गगमन के अनन्तर दृष्टिवादरूपी प्रकाश के नष्ट हो जाने पर ग्यारह अगो व दृष्टिवाद के एक देश के धारक नक्षत्राचार्य हुए। तदनन्तर वह एकादशाग श्रुतज्ञान जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कस की परम्परा से २२० वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया। कसाचार्य के स्वर्गगमन के अनन्तर एकादशागरूपी प्रकाश के नष्ट हो जानेपर सुभद्राचार्य आचाराग के और शेष

---

१ वही, पृ० १२५-१२६ २ वही, पृ० १२६ (जयधवला मे भी यही वर्णन उपलब्ध है। देखिये—कसायपाहुड, भा० १, पृ० ७४–८२)

-अगो एव पूर्वों के एक देश के धारक हुए। तदनन्तर वह आचाराग भी यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य की परम्परा से ११८ वर्ष तक आकर व्युच्छिन्न हो गया। इस सब काल का योग ६८३ वर्ष होता है।[1]

लोहाचार्य के स्वर्गलोक को प्राप्त होने पर आचारागरूपी सूर्य अस्त हो गया। इस प्रकार भरतक्षेत्र मे बारह सूर्यों के अस्तमित हो जाने पर शेष आचार्य सब अग-पूर्वों के एकदेशभूत पेज्जदोस, महाकम्मपयडिपाहुड आदि के धारक हुए। इस तरह प्रमाणीभूत महर्षिरूपी प्रणाली से आकर महाकम्मपयडिपाहुडरूपी अमृत-जल-प्रवाह धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ। उन्होने गिरिनगर की चन्द्रगुफा मे भूतबलि और पुष्पदन्त को सम्पूर्ण महाकम्मपयडिपाहुड अर्पित किया। तब भूतबलि भट्टारक ने श्रुतरूपी नदी-प्रवाह के व्युच्छेद के भय से भव्यजनो के अनुग्रहार्थ महाकम्मपयडिपाहुड का उपसहार कर छ खण्ड बनाये अर्थात् षट्खण्डागम का निर्माण किया।[2]

शककाल—उपर्युक्त ६८३ वर्ष मे से ७७ वर्ष ७ मास कम करने पर ६०५ वर्ष ५ मास रहते हैं। यह वीर जिनेन्द्र के निर्वाणकाल से लेकर शककाल के प्रारम्भ होने तक का काल है। इस काल में शक नरेन्द्र के काल को मिलाने पर वर्धमान जिन के मुक्त होने का काल आता है।[3]

कुछ आचार्य वीर जिनेन्द्र के निर्वाणकाल से १४७९३ वर्ष बीतने पर शक नरेन्द्र की उत्पत्ति मानते हैं।[4]

कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जो वर्धमान जिन के निर्वाणकाल से ७९९५ वर्ष ५ मास बीतने पर शक नरेन्द्र की उत्पत्ति मानते हैं।[5]

इन तीन मान्यताओ मे से एक यथार्थ होनी चाहिये। तीनो यथार्थ नही हो सकती क्योकि इनमे परस्पर विरोध है।[6]

सकलादेश और विकलादेश—सकलादेश प्रमाण के अधीन है और विकलादेश नय के अधीन है। 'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्यो का नाम सकलादेश है क्योकि इनके प्रमाणनिमित्तक होने के कारण 'स्यात्' शब्द से समस्त अप्रधानभूत धर्मो

---

१. वही, पृ० १३०-१३१ (जयधवला में भी यही वर्णन है। कही-कही नामो मे थोडा अन्तर है। देखिए—कषायपाहुड, भा० १, पृ० ८४-८७)

२ वही, पृ० १३३. ३ वही, पृ० १३१-१३२ ४ वही, पृ० १३२.

५ वही, पृ० १३२-१३३ ६ वही, पृ० १३३.

का सूचन होता है। 'अस्ति' इत्यादि वाक्यो का नाम विकलादेश है क्योंकि ये नयो से उत्पन्न है। पूज्यपाद भट्टारक ने भी सामान्य नय का लक्षण यही बताया है। तदनुसार प्रमाण से प्रकाशित पदार्थों के पर्यायो का प्ररूपण करने वाला नय है। प्रमाण से वस्तु के सकल धर्म प्रकाशित होते है। नय उन धर्मो मे से किसी एक धर्म को प्रकाशित करता है अर्थात् नय वस्तु के विकल धर्म का प्रकाशक है। प्रभाचन्द्र भट्टारक ने भी कहा है कि प्रमाण के आश्रित परिणामभेदो से वशीकृत पदार्थविशेपो अर्थात् पदार्थों के पर्यायो के प्ररूपण मे समर्थ जो प्रयोग होता है वह नय है। सारसग्रह मे पूज्यपाद ने भी कहा है कि अनन्तपर्यायात्मक वस्तु के किसी एक पर्याय का ज्ञान करते समय श्रेष्ठ हेतु की अपेक्षा करनेवाला निर्दोप प्रयोग नय कहलाता है। समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है कि स्याद्वाद से प्रकाशित पदार्थो के पर्यायो को प्रकट करने वाला नय है। यहाँ स्याद्वाद का अर्थ प्रमाण है।[1]

अर्थपर्याय, व्यञ्जनपर्याय, द्रव्य और भाव—पर्याय के दो प्रकार हैं . अर्थ-पर्याय और व्यञ्जनपर्याय। अर्थपर्याय थोडे समय तक रहने के कारण अथवा अति विशेप होने के कारण एकादि समय तक रहने वाला तथा सज्ञा-सज्ञिसम्बन्ध के से रहित है। व्यञ्जनपर्याय जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतया असख्येय लोक-मात्र काल तक रहनेवाला अथवा अनादि-अनन्त है। इनमें से व्यञ्जनपर्याय से परिगृहीत द्रव्य भाव होता है। इसका वर्तमान काल जघन्यतया अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टतया सख्येय लोकमात्र अथवा अनादिनिधन है क्योकि विवक्षित पर्याय के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक वर्तमान काल माना जाता है। अत. भाव की द्रव्यार्थिक नयविपयता विरुद्ध नही है। ऐसा मानने पर सन्मतिसूत्र के साथ विरोध नही होता क्योंकि उसमें शुद्ध ऋजुसूत्र नय से विपयीकृत पर्याय से उप-लक्षित द्रव्य को भाव स्वीकार किया गया है।[2] इसी चर्चा के प्रसङ्ग से टीकाकार ने आगे सन्मतिसूत्र की निम्न गाथा[3] उद्धृत की है

उप्पज्जति वियति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्व सदा अणुप्पण्णमविणट्ठ॥

अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ नियम से उत्पन्न होते है तथा नष्ट होते है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सब सदा अनुत्पन्न तथा अविनष्ट है।

---

१ वही, पृ० १६५–१६७ २ वही, पृ० २४२-२४३.
३. वही, पृ० २४४

परभविक आयु—वेदना खण्ड के 'कमेण कालगदसमाणो ......' सूत्र का व्याख्यान करते हुए टीकाकार ने व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का निम्न उद्धरण[1] दिया है

जीवा ण भन्ते! कदिभागावसेसियसि याउगमि परभविय आउगं कम्मं णिवधता वधति? गोदम! जीवा दुविहा पण्णत्ता—सखेज्ज-वस्साउआ चेव असंखेज्जवस्साउआ चेव। तत्थ जे ते असखेज्जवस्साउआ ते छम्मासावसेसियसि याउगंसि परभवियं आयुग णिवधता वधति। तत्थ जे ते सखेज्जवासाउआ ते दुविहा पण्णत्ता—सोवक्कमाउआ णिरु-वक्कमाउआ चेव। तत्थ जे ते णिरुवक्कमाउआ ते तिभागावसेसियसि याउगमि परभविय आयुग कम्म णिवंधंता वंधंति। तत्थ जे ते सोवक्क-माउआ ते सिया तिभागत्तिभागावसेसियसि यायुगसि परभविय आउग कम्मं णिवधंता वधति।

अर्थात् हे भगवन्! आयु का कितना भाग शेष रहने पर जीव परभविक आयु कर्म बाँधते है? हे गौतम! जीव दो प्रकार के कहे गये है—सख्येय-वर्षायुष्क और असख्येयवर्षायुष्क। इनमे से जो असख्येयवर्षायुष्क हैं वे आयु के छ मास शेष रहने पर परभविक आयु बाँधते है। सख्येयवर्षायुष्क दो प्रकार के होते है—सोपक्रमायुष्क और निरुपक्रमायुष्क। इनमे से जो निरुपक्रमायुष्क है वे आयु का त्रिभाग शेष रहने पर परभविक आयु कर्म बाँधते है। जो सोप-क्रमायुष्क हैं वे आयु का कथचित् त्रिभाग (कथचित् त्रिभाग का त्रिभाग एव कथचित् त्रिभाग-त्रिभाग का त्रिभाग) शेष रहने पर परभविक आयु कर्म बाँधते है।

वर्तमान में प्रज्ञापना सूत्र मे इस आशय का वर्णन उपलब्ध होता है।[2] व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र मे इस प्रकार के कई वर्णनो के लिए 'जहा पण्णवणाए' आदि कह दिया गया है।

चूर्णिसूत्र—धवला मे कषायप्राभृत के साथ ही साथ चूर्णिसूत्र अर्थात् कषाय-प्राभृतचूर्णि का भी यत्र-तत्र अनेक बार उल्लेख हुआ है। कषायप्राभृत के कर्ता आचार्य गुणधर तथा कषायप्राभृतचूर्णि के कर्ता आचार्य यतिवृषभ का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है·

---

१. पुस्तक १०, पृ० २३७ २३८.

२ वही, पृ० २३८ का अन्तिम पाद-टिप्पण.

इस अर्थ की प्ररूपणा विपुलाचल के शिखर पर स्थित त्रिकालगोचर षड्द्रव्यो का प्रत्यक्ष करने वाले वर्धमान भट्टारक द्वारा गौतम स्थविर के लिए की गई। फिर वह अर्थ आचार्य-परम्परा से गुणधर भट्टारक को प्राप्त हुआ। उनसे वह आचार्य-परम्परा द्वारा आर्यमक्षु तथा नागहस्ती भट्टारको के पास आया। फिर उन दोनो ने क्रमश यतिवृषभ भट्टारक के लिए उसका व्याख्यान किया। यतिवृषभ ने शिष्यो के अनुग्रहार्थ उसे चूर्णिसूत्र मे लिखा।[1]

क्रोध-मान-माया लोभ-राग-द्वेष-मोह-प्रेम—हृदयदाह, अगकम्प, नेत्ररक्तता, इन्द्रियो की अपटुता आदि के निमित्तभूत जीवपरिणाम को क्रोध कहते है। विज्ञान, ऐश्वर्य जाति, कुल, तप और विद्याजनित उद्धततारूप जीवपरिणाम मान कहलाता है। अपने हृदय के विचारो को छिपाने की चेष्टा का नाम माया है। बाह्य पदार्थों मे ममत्वबुद्धि का होना लोभ कहलाता है। माया, लोभ वेदत्रय (स्त्री-पुरुष-नपुमकवेद), हास्य और रति का नाम राग है। क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा और भय का नाम द्वेष है। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद, और मिथ्यात्व के समूह को मोह कहते है। प्रियता का नाम प्रेम है।[2]

शब्द व भाषा—शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। वह छ प्रकार का है तत, वितत, घन, सुषिर, घोष और भाषा। वीणा, त्रिसरिक, आलापिनी आदि से उत्पन्न हुआ शब्द तत है। भेरी, मृदग, पटह आदि से उत्पन्न हुआ शब्द वितत है। जयघण्टा आदि ठोस द्रव्यो के अभिघात से उत्पन्न हुआ शब्द घन है। वश, शख, काहल आदि से उत्पन्न हुआ शब्द सुषिर है। घर्षण को प्राप्त हुए द्रव्य से उत्पन्न हुआ शब्द घोष है। भाषा दो प्रकार की है · अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के मुख से निकली हुई तथा बाल एव मूक सज्ञी पचेन्द्रिय की भाषा अनक्षरात्मक है। उपघातरहित इन्द्रियो वाले सज्ञी पचेन्द्रिय की भाषा अक्षरात्मक है। वह दो प्रकार की है भाषा और कुभाषा। कीर, पारसिक, सिंहल, वर्वरिक आदि के मुख से निकली हुई कुभाषाएँ सात सौ भेदो मे विभक्त है। भाषाएँ अठारह है तीन कुरुक, तीन लाढ, तीन मरहट्ट, तीन मालव, तीन गौड और तीन मागध।[3]

---

१ पुस्तक १२, पृ० २३१–२३२
२ वही, पृ० २८३–२८४
३ पुस्तक १३, पृ० २२१–२२२.

अनुभाग—छ द्रव्यो की शक्ति का नाम अनुभाग है। वह छ प्रकार का है जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग और कालद्रव्यानुभाग। अशेप द्रव्यो का अवगम—ज्ञान जीवानुभाग है। ज्वर, कुष्ठ, क्षय आदि का विनाश एव उत्पादन पुद्गलानुभाग है। यहाँ पुद्गलानुभाग से योनिप्राभृत मे कही गई मन्त्र-तन्त्र-रूप शक्तियो का ग्रहण करना चाहिए। जीव और पुद्गल के गमनागमन का हेतुत्व धर्मास्तिकायानुभाग है। इनके अवस्थान का हेतुत्व अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्यो का आधारत्व आकाशास्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्यो के क्रमिक और अक्रमिक परिणमन का हेतुत्व कालद्रव्यानुभाग है।[1]

विभगदर्शन—धवलाकार ने दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियो की चर्चा करते हुए यह शका उठायी है कि दर्शन के भेदो में विभगदर्शन की गिनती क्यो नही की गई? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि विभगदर्शन का अवधिदर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जैसा कि सिद्धविनिश्चय में भी कहा गया है अवधिविभगयोरवधिदर्शनमेव अर्थात् अवधिज्ञान और विभगज्ञान के अवधिदर्शन ही होता है।[2]

गोत्र—जो उच्च और नीच का ज्ञान कराता है उसे गोत्र कहते हैं। गोत्र कर्म की दो प्रकृतियां हैं. उच्च गोत्र और नीच गोत्र। उच्च गोत्र का कहाँ व्यापार है? राज्यादिरूप सम्पदा की प्राप्ति मे उसका व्यापार नही है क्योकि उसकी उत्पत्ति साता वेदनीय कर्म के निमित्त से होती है। पाँच महाव्रत ग्रहण करने की योग्यता भी उच्च गोत्र द्वारा नही आती क्योकि ऐसा मानने पर देवो और अभव्यो मे पाँच महाव्रत धारण करने की अयोग्यता होने के कारण उच्च गोत्र के उदय के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति मे भी उसका व्यापार नही है क्योकि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से सहकृत सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा ऐसा मानने पर तिर्यञ्चो और नारकियो के भी उच्च गोत्र का उदय मानना पडेगा क्योकि उनमे सम्यग्ज्ञान होता है। आदेयता, यश और सौभाग्य की प्राप्ति मे भी उच्च गोत्र का व्यापार नही है क्योकि इनकी उत्पत्ति नाम कर्म के निमित्त से होती है। इक्ष्वाकु कुल आदि की उत्पत्ति मे भी उसका व्यापार नही है क्योकि ये सब काल्पनिक हैं

१. वही, पृ० ३४९. २. वही, पृ० ३५६.

अत परमार्थत इनका अस्तित्व ही नही है तथा वैश्य और ब्राह्मण साधुओ में भी उच्च गोत्र का उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनो से होने वाली जीवोत्पत्ति मे भी उसका व्यापार नही है क्योकि ऐसा मानने पर म्लेच्छराज से उत्पन्न होने वाले बालक के भी उच्च गोत्र के उदय का प्रसग उपस्थित होता है। अणुव्रतियो मे होने वाली जीवोत्पत्ति मे भी उसका व्यापार नही है क्योकि ऐसा मानने पर औपपादिक देवो मे उच्च गोत्र के उदय का अभाव उपस्थित होता है तथा नाभिपुत्र को नीच गोत्र की प्राप्ति होती है। इसलिए उच्च गोत्र व्यर्थ है। अतएव उसमे कर्मत्व भी घटित नही होता। उसका अभाव होने पर नीच गोत्र भी नही रहता क्योकि ये दोनो परस्पर अविनाभावी है। अत गोत्र कर्म का अभाव है।[1]

इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते है कि ऐसा मानना ठीक नही क्योकि जिनवचन असत्य नही होता। दूसरे, केवलज्ञान द्वारा विषय किये गये सभी अर्थों मे छद्मस्थो का ज्ञान प्रवृत्त भी नही होता। इसलिए छद्मस्थो को समझ मे न आने के कारण जिनवचन को अप्रमाणत्व प्राप्त नही होता। गोत्र कर्म निष्फल नही है क्योकि जिनका दीक्षायोग्य साध्वाचार है, जिन्होने साध्वाचार वालो के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' इस प्रकार के ज्ञान और वचनव्यवहार के निमित्त है उन पुरुषो की परम्परा को उच्च गोत्र कहा जाता है। उसमें उत्पन्न होने के कारणभूत कर्म को भी उच्च गोत्र कहते है। इसके विपरीत कर्म नीच गोत्र है।[2]

निबन्धनादि अनुयोगद्वार—कर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारो अथवा अनुयोगद्वारो मे से प्रथम छ अनुयोगद्वारो की प्ररूपणा षट्खण्डागम मे की गई है। निबन्धनादि शेष अठारह अनुयोगद्वारो का विवेचन यद्यपि मूल षट्खण्डागम में नही है तथापि वर्गणा खण्ड के अन्तिम सूत्र को देशामर्शक मान कर धवलाकार वीरसेनाचार्य ने उनका विवेचन अपनी टीका मे किया है। जैसा कि धवलाकार ने लिखा है. भूदबलिभडाराएण जेणेदं सुत्त देसामासियभावेण लिहिद तेणेदेण सुत्तेण सूचिदसेसअट्ठारस-अणियोगद्दाराणं किंचि सखेवेण परूवणं कस्सामो। अर्थात् भूतबलि भट्टारक ने चूँकि यह सूत्र देशामर्शकरूप से लिखा है अत इस सूत्र के द्वारा सूचित शेष अठारह अनुयोगद्वारो का कुछ सक्षेप मे प्ररूपण करते है।[3]

---

१. वही, पृ० ३८७-३८८. २. वही, पृ० ३८९. ३. पुस्तक १५, पृ० १.

सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत—धवलाकार ने एक स्थान पर यह बताया है कि मैंने यह प्ररूपणा सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत के अनुसार की है, महाबन्ध के अनुसार नहीं। उन्होंने चार प्रकार के बन्धन-उपक्रम की चर्चा करते हुए कहा है : एत्थ एदेसिं चदुण्णमुवक्कमाण जहा सतकम्मपयडिपाहुडे परूविद तहा परूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविद तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे? ण, तस्स पढमसमयबंधम्मि चेव वावारादो। अर्थात् इन चार उपक्रमों की प्ररूपणा जैसे सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत मे की गई है वैसे ही यहाँ भी करना चाहिए। जैसी महाबन्ध में प्ररूपणा की गई है वैसी यहाँ क्यो नही की जाती? नही, क्योकि उसका व्यापार प्रथम समय के बन्ध में ही है।[1]

सत्कर्मपंजिकाकार[2] ने निबन्धनादि अठारह अनुयोगद्वारो की प्ररूपणा करने वाले धवला टीका के अन्तिम विभाग को सत्कर्म की सज्ञा दी है।[3] उपर्युक्त सत्कर्मप्रकृतिप्राभृत अथवा सत्कर्मप्राभृत इस सत्कर्म से भिन्न एक प्राचीन सैद्धान्तिक ग्रन्थ है जो महाकर्मप्रकृतिप्राभृत एव कषायप्राभृत की ही कोटि का है तथा जिसका उल्लेख स्वयं धवलाकार ने इसी रूप मे किया है।[4]

---

१. वही, पृ० ४३. सत्कर्मप्राभृत का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है। देखिए—पुस्तक ११, पृ० २१, पुस्तक ९, पृ० ३१८, पुस्तक १, पृ० २१७, २२१.

२. पुस्तक १५ के अन्त मे परिशिष्ट के रूप मे प्रकाशित एक लघुकाय प्राकृत टीका।

३ पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुत्थयेण पंजियसरूवेण भणिस्सामो।

—पुस्तक १५, परिशिष्ट, पृ० १.

४. एसो सतकम्मपाहुडउवएसो। कसायपाहुडउवएसो पुण ··· ···· ····।

—पुस्तक १, पृ० २१७.

आइरियकहियाण संतकम्मकसायपाहुडाण कध सुत्तत्तणमिदि··· ·· ··।

—वही, पृ० २२१.

सतकम्मपयडिपाहुड मोत्तूण···· ···· ···· ··· ··।

—पुस्तक ९, पृ० ३१८

सतकम्मपाहुडे पुण णिगोदेसु उप्पाइदो ··· ········।

—पुस्तक ११, पृ० २१.

टीका के अन्त मे धवलाकार की निम्नलिखित प्रशस्ति है जिसमे टीका, टीकाकार, टीकाकार के गुरु, प्रगुरु तथा विद्यागुरु आदि के नाम आते हैं

जस्साएसेण मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुद ।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥ १ ॥
वंदामि उसहसेण तिउवणजियबंधव सिव सत ।
णाणकिरणावहासियसयल-इयर-त्तम-पणासिय दिट्ठ ॥ २ ॥
अरहता भववतो सिद्धा सिद्धा पसिद्धयारिया ।
साहू साहू य महं पसियंतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥
अज्जज्जणदिसिस्सेणुज्जुवकम्मस्स चंदसेणस्स ।
तह णत्तुवेण पंचत्थुहण्णयंभाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥
सिद्धत-छद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण ।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥ ५ ॥
अट्ठत्तीसम्हि सासियविक्कमरायम्हि[1] एसु सगरमो ।
पासे सुतेरसीए भावविलग्गे धवलपक्खे ॥ ६ ॥
जगतुगदेवरज्जे रियम्हि कुभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए सते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि वरणिवुत्ते सिघे सुक्कम्मि मेढिचदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
वोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुजते ।
सिद्धतगंधमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

●

---

१. धवलाकार वीरसेन के समय की चर्चा षट्खण्डागम, पुस्तक १ की प्रस्तावना मे विस्तार से की गई है। जिज्ञासु पाठक को यह चर्चा वहाँ देख लेनी चाहिए।

चतुर्थ प्रकरण

कषायप्राभृत

कसायपाहुड[1] अथवा कषायप्राभृत को पेज्जदोसपाहुड, प्रेयोद्वेषप्राभृत अथवा पेज्जदोषप्राभृत[2] भी कहते हैं। पेज्ज का अर्थ प्रेय अर्थात् राग और दोस का अर्थ द्वेष होता है। चूँकि प्रस्तुत ग्रन्थ में राग और द्वेषरूप कषाय का प्रतिपादन किया गया है इसलिए इसके दोनो नाम सार्थक हैं। ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली अति गूढ, सक्षिप्त एव सूत्रात्मक है। प्रतिपाद्य विषयो का केवल निर्देश कर दिया गया है।

कषायप्राभृत की आगमिक परम्परा :

कर्मप्राभृत अर्थात् षट्खण्डागम के ही समान कषायप्राभृत का उद्गमस्थान भी दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अग ही है। उसके ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दसवी वस्तु के पेज्जदोष नामक तीसरे प्राभृत से कषायप्राभृत की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार कर्मप्रकृति प्राभृत से उत्पन्न होने के कारण षट्खण्डागम को कर्मप्राभृत, कर्मप्रकृतिप्राभृत अथवा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कहा जाता है उसी प्रकार पेज्जदोष प्राभृत से उत्पन्न होने के कारण कषायप्राभृत को भी पेज्जदोषप्राभृत कहा जाता है।

---

१. (अ) चूर्णिसूत्र-समन्वित—सम्पादक एव हिन्दी अनुवादक प० हीरालाल जैन, प्रकाशक . वीर-शासन-सघ, कलकत्ता, सन् १९५५

(आ) जयधवला टीका व उसके हिन्दी अनुवाद के साथ (अपूर्ण)— सम्पादक ' प० फूलचन्द्र, प० महेन्द्रकुमार व प० कैलाशचन्द्र, प्रकाशक भा० दि० जैनसघ, चौरासी, मथुरा, सन् १९४४–१९६३ (नौ भाग).

२. श्रुतावतार के कर्ता आचार्य इन्द्रनन्दि ने इसे 'प्रायोदोषप्राभृत' नाम दिया है। वस्तुत इसका सस्कृत रूप 'प्रेयोद्वेषप्राभृत' होना चाहिये।

कषायप्राभृत के प्रणेता :

कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर हैं जिन्होने गाथासूत्रो मे प्रस्तुत ग्रन्थ को निबद्ध किया। जयधवलाकार ने अपनी टीका के प्रारम्भ मे स्पष्ट लिखा है :

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जल अणतत्थ।
गाहाहि विवरिय तं गुणहरभडारयं वदे॥ ६॥

अर्थात् जिन्होने इस क्षेत्र मे अनेक नामो से युक्त, उज्जवल एव अनन्त पदार्थो से व्याप्त कषायप्राभृत का गाथाओ द्वारा व्याख्यान किया उन गुणधर भट्टारक को मैं नमस्कार करता हूँ।

आचार्य गुणधर ने इस कषायप्राभृत ग्रन्थ की रचना क्यो की ? इसका समाधान करते हुए जयधवला टीका मे आचार्य वीरसेन ने बताया है कि ज्ञान-प्रवाद (पाँचवें) पूर्व की निर्दोष दसवी वस्तु के तीसरे कषायप्राभृतरूपी समुद्र के जलसमुदाय से प्रक्षालित मतिज्ञानरूपी लोचनसमूह से जिन्होने तीनो लोको को प्रत्यक्ष कर लिया है तथा जो त्रिभुवन के परिपालक हैं उन गुणधर भट्टारक ने तीर्थ के व्युच्छेद के भय से कषायप्राभृत के अर्थ से युक्त गाथाओं का उपदेश दिया।[1]

कषायप्राभृतकार आचार्य गुणधर के समय का उल्लेख करते हुए जयधवला-कार ने लिखा है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष व्यतीत होने पर अगो और पूर्वों का एकदेश आचार्य-परम्परा से गुणधराचार्य को प्राप्त हुआ। उन्होने प्रवचन-वात्सल्य के वशीभूत हो ग्रन्थ-विच्छेद के भय से १६००० पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुड का १८० गाथाओ मे उपसहार किया।[2] महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत अर्थात् षट्खण्डागम के प्रणेता आचार्य पुष्पदन्त व भूतबलि के समय का उल्लेख भी धवला में इसी रूप मे है।[3] इन उल्लेखो को देखने से ऐसी प्रतीति होती है कि कषायप्राभृतकार और महाकर्मप्रकृतिप्राभृतकार सम्भवत. समकालीन रहे होगे। धवला व जयधवला के अध्ययन से ऐसी कोई प्रतीति नही होती कि अमुक प्राभृत की रचना अमुक प्राभृत से पहले की है अथवा बाद की।

---

१. कसायपाहुड, भा० १, पृ० ४–५.
२ वही, पृ० ८५–८७.
३. षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० ६६–७१; पुस्तक ९, पृ० १३०–१३३.

अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ मे भी एतद्विषयक कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता।

कषायप्राभृत के अर्थाधिकार :

कषायप्राभृतकार ने स्वयमेव दो गाथाओ मे अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयो अर्थात् अर्थाधिकारो का निर्देश किया है। ये गाथाएँ इस प्रकार है :

(१) पेज्ज-द्दोसविहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बधगे चेय।
वेदग-उवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चेय॥१३॥
(२) सम्मत्त-देसविरयी सजम उवसामणा च खवणा च।
दसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो॥१४॥

इन गाथाओं की व्याख्या चूर्णिसूत्रकार और जयधवलाकार ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। यद्यपि ये दोनो एकमत है कि कषायप्राभृत के १५ अर्थाधिकार है तथापि उनकी गणना में एकरूपता नही है। चूर्णिसूत्रकार ने अर्थाधिकार के निम्नोक्त १५ भेद गिनाये हैं :

१. पेज्जदोस—प्रेयोद्वेष, २. ठिदि-अणु-भागविहत्ति—स्थिति-अनुभाग-विभक्ति, ३. बधग अथवा बध—बन्धक या बन्ध, ४. सकम—सक्रम, ५. वेदअ अथवा उदअ—वेदक या उदय, ६ उदीरणा, ७ उवजोग—उपयोग, ८. चउट्ठाण—चतु स्थान, ९ वजण—व्यञ्जन, १०. सम्मत अथवा दसणमोहणीय-उवसामणा—सम्यक्त्व या दर्शनमोहनीय की उपशामना, ११ दसणमोहणीयक्खवणा—दर्शनमोहनीय की क्षपणा, १२. देसावेरदि—देशविरति, १३ सजम-उवसामणा अथवा चरित्तमोहणीय-उवसामणा—सयमविषयक उपशामना या चारित्रमोहनीय की उपशामना, १४. सजमक्खवणा अथवा चरित्तमोहणीयक्खवणा—संयमविषयक क्षपणा या चारित्रमोहनीय की क्षपणा, १५. अद्धापरिमाण-णिद्देस—अद्धापरिमाणनिर्देश।[१]

जयधवलाकार ने जिन पन्द्रह अर्थाधिकारो का उल्लेख किया है[२] वे ये है

१. प्रेयोद्वेष, २ प्रकृतिविभक्ति, ३ स्थितिविभक्ति, ४. अनुभागविभक्ति, ५. प्रदेशविभक्ति-क्षीणाक्षीणप्रदेश-स्थित्यन्तिकप्रदेश, ६. बन्धक, ७. वेदक, ८ उप-

---

१. कसायपाहुड, भा० १, पृ० १८४–१९२.
२. वही, पृ० १९२–१९३.

योग, ९. चतुःस्थान, १०. व्यञ्जन, ११. सम्यक्त्व, १२ देशविरति, १३ संयम, १४ चारित्रमोहनीय की उपशामना, १५. चारित्रमोहनीय की क्षपणा।

इस स्थान पर जयधवलाकार ने यह भी निर्देश किया है कि इसी तरह अन्य प्रकारो से भी पन्द्रह अर्थाधिकारो का प्ररूपण कर लेना चाहिए।[1] इससे प्रतीत होता है कि कषायप्राभृत के अर्थाधिकारो की गणना मे एकरूपता नही रही है।

कषायप्राभृत की गाथासंख्या :

वैसे तो कषायप्राभृत में २३३ गाथाएँ मानी जाती हैं किन्तु वस्तुत. इस ग्रन्थ मे १८० गाथाएँ ही हैं। शेष ५३ गाथाएँ कषायप्राभृतकार गुणधराचार्यकृत न होकर सम्भवत आचार्य नागहस्तिकृत हैं जो व्याख्या के रूप में बाद में जोडी गई है। यह बात इन गाथाओ को तथा जयधवला टीका को देखने से स्पष्ट मालूम होती है। कषायप्राभृत के मुद्रित सस्करणो मे भी सम्पादको ने इनके पृथक्करण का पूरा ध्यान रखा है। आचार्य नागहस्ती कषायप्राभृत-चूर्णिकार आचार्य यतिवृषभ के गुरु हैं। यतिवृषभाचार्य ने यद्यपि इन गाथाओ पर भी चूर्णिसूत्र लिखे है तथापि उनके कर्तृत्व के विषय में किसी प्रकार का उल्लेख नही किया है। सम्भवत इस प्रकार का उल्लेख उन्होंने आवश्यक न समझा हो क्योंकि कषायप्राभृतकार के नाम का भी उन्होंने अपने चूर्णिसूत्रो मे कोई निर्देश नही किया है। यह भी सम्भव है कि एतद्विषयक विशेष जानकारी प्राप्त न हुई हो एव परम्परा से चली आने वाली गाथाओ पर अर्थ के स्पष्टीकरण की दृष्टि से चूर्णिसूत्र लिख दिये हो। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि कषायप्राभृत की २३३ गाथाओ मे से १८० गाथाएँ तो स्वय ग्रन्थकार की बनाई हुई हैं और शेष ५३ गाथाएँ परकृत है। जयधवलाकार ने जहाँ कही कषायप्राभृत की गाथाओ का निर्देश किया है, सर्वत्र १८० की ही सख्या दी है। यद्यपि उन्होंने एक स्थान पर २३३ गाथाओ का उल्लेख किया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये सब गाथाएँ यानी २३३ गाथाएँ गुणधराचार्यकृत हैं[2] किन्तु उनका वह समाधान सन्तोषकारक नही है।

विषय-परिचय :

कषायप्राभृतान्तर्गत २३३ गाथाओ में से प्रारम्भ की १२ गाथाएँ प्रस्तावना-रूप है। कषायप्राभृत की उत्पत्ति के विषय मे प्रथम गाथा मे कहा गया है कि

१. वही, पृ० १९३. २ वही, पृ० ९६, १८३.

पांचवें पूर्व की दसवी वस्तु में पेज्जपाहुड नामक तीसरा प्राभृत है। उससे यह कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ है :

> पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए।
> पेज्जं ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम ॥ १ ॥

दूसरी गाथा में यह बताया गया है कि इस कषायप्राभृत में १८० गाथाएँ हैं जो पन्द्रह अर्थाधिकारो मे विभक्त है। तृतीयादि गाथाओ मे यह निर्देश किया गया है कि किस-किस अर्थाधिकार मे कितनी-कितनी गाथाएँ हैं।

प्रेय, द्वेष, स्थिति, अनुभाग और बन्धक—इन पांच अर्थाधिकारो में तीन गाथाएँ हैं। वेदक में चार, उपयोग मे सात, चतु स्थान मे सोलह, व्यञ्जन में पाँच, दर्शनमोहोपशामना मे पन्द्रह, दर्शनमोहक्षपणा में पाँच, सयमासयमलब्धि और चारित्रलब्धि—इन दोनो मे एक, चारित्रमोहोपशामना में आठ, चारित्र-मोह की क्षपणा के प्रस्थापन में चार, सक्रमण मे चार, अपवर्तना में तीन, कृष्टीकरण मे ग्यारह, क्षपणा में चार, क्षीणमोह के विषय मे एक, सग्रहणी के विषय मे एक—इस प्रकार सब मिलकर चारित्रमोहक्षपणा में अट्ठाईस गाथाएँ हैं। इन सब गाथाओ का योग (३ + ४ + ७ + १६ + ५ + १५ + ५ + १ + ८ + ४ + ४ + ३ + ११ + ४ + १ + १) ९२ होता है।

कृष्टिसम्बन्धी ग्यारह गाथाओ मे से वीचारविषयक एक गाथा, सग्रहणी-सम्बन्धी एक गाथा, क्षीणमोहसम्बन्धी एक गाथा और चारित्रमोह की क्षपणा के प्रस्थापन से सम्बन्धित चार गाथाएँ—इस प्रकार चारित्रमोहक्षपणासम्बन्धी सात गाथाएँ अभाष्य-गाथाएँ है तथा शेष इक्कीस गाथाएँ सभाष्य-गाथाएँ हैं। इन इक्कीस गाथाओ की भाष्यगाथा-सख्या छियासी है। इनमें 'पेज्ज-द्दोसविहत्ती ...' और 'सम्मत्त-देसविरयी ...' इन दो (१३-१४) गाथाओ को मिलाने पर कषायप्राभृत की गाथाओ का योग (९२ + ८६ + २) १८० हो जाता है।

प्रेयोद्वेषादि अधिकारो मे सामान्यरूप से व्याप्त अद्धा-परिमाण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अनाकार दर्शनोपयोग, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वेन्द्रियसम्बन्धी अवग्रहज्ञान, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, स्पर्शनेन्द्रिय-सम्बन्धी अवग्रहज्ञान, अवायज्ञान, ईहाज्ञान, श्रुतज्ञान और उच्छ्वास—इन सब का जघन्यकाल (क्रमश बढता हुआ) सख्येय आवलीप्रमाण है। केवलदर्शन-केवलज्ञान आदि का जघन्यकाल उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। यह सब

जघन्यकाल मरणादि व्याघात से रहित अवस्था में होता है। चक्षुरिन्द्रियसम्बन्धी मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यान, मानकषाय, अवायमतिज्ञान, उपशान्तकषाय तथा उपशामक का उत्कृष्टकाल अपने से पहले के स्थान के काल से दुगुना होता है। शेष स्थानो का उत्कृष्टकाल अपने से पहले के स्थान के काल से विशेष अधिक होता है।[1]

प्रेयोद्वेषविभक्ति मे निम्नोक्त बातो का विचार करने को कहा गया है :

(२) पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स।
दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायदे को कहि वा वि॥ २१॥

अर्थात् किस कषाय में किस नय की अपेक्षा से प्रेय या द्वेष का व्यवहार होता है? कौन-सा नय किस द्रव्य में द्वेष या प्रेय को प्राप्त होता है?

चूँकि कषाय मोहनीयकर्म से उत्पन्न होता है इसलिए ग्रन्थकार ने आगे के दो अर्थाधिकारो के विषय में यह बताया है कि इनमें मोहनीयकर्म की प्रकृति-विभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक का कथन करना चाहिए।[2]

बन्धक अर्थाधिकार मे आचार्य ने निम्नलिखित प्रश्नो का समाधान कर लेने को कहा है :

यह जीव कितनी प्रकृतियो को बाँधता है, कितनी स्थिति को बाँधता है, कितने अनुभाग को बाँधता है तथा कितने जघन्य एव उत्कृष्ट परिमाणयुक्त प्रदेशों को बाँधता है? इसी प्रकार कितनी प्रकृतियो का सक्रमण करता है, कितनी स्थिति का सक्रमण करता है, कितने अनुभाग का सक्रमण करता है तथा कितने गुणहीन एवं गुणविशिष्ट जघन्य-उत्कृष्ट प्रदेशो का सक्रमण करता है?[3]

सक्रम की उपक्रम-विधि पाँच प्रकार की है, निक्षेप चार प्रकार का है, नय-विधि प्रकृत मे विवक्षित है तथा प्रकृत में निर्गम आठ प्रकार का है। सक्रम के दो भेद है प्रकृतिसक्रम और प्रकृतिस्थानसक्रम। इसी प्रकार असक्रम के भी दो भेद है। सक्रम की प्रतिग्रहविधि दो प्रकार की है प्रकृतिप्रतिग्रह और प्रकृतिस्थानप्रतिग्रह। इसी प्रकार अप्रतिग्रहविधि भी दो प्रकार की है। इस तरह निर्गम के आठ भेद होते है।[4]

---

१ गा० १५-२०. २. गा० २२. ३. गा० २३.
४. गा० २४-२६.

मोहनीय के अट्ठाईस, चौबीस, सत्रह, सोलह और पन्द्रह प्रकृतिस्थानो को छोड कर शेष का सक्रम होता है। सोलह, बारह, आठ, बीस, तेईस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतिस्थानो को छोड कर शेप का प्रतिग्रह होता है।[1]

बाईस, पन्द्रह, ग्यारह और उन्नीस—इन चार प्रकृतिस्थानो मे छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतिस्थानो का नियमत. सक्रम होता है। सत्रह और इक्कीस प्रकृतिस्थानो मे पच्चीस प्रकृतिस्थान का नियमत' सक्रम होता है। यह सक्रमस्थान नियमतः चारो गतियो तथा तीन प्रकार के दृष्टिगतो (मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यक्-मिथ्यादृष्टि) मे होता है।[2] इसी प्रकार अन्य प्रकृतिस्थानो के संक्रम के विषय में भी सामान्य निर्देश किया गया है।[3]

आगे यह प्रश्न उठाया गया है कि एक-एक प्रतिग्रहस्थान, सक्रमस्थान एवं तदुभयस्थान की दृष्टि से विचार करने पर भव्य तथा अभव्य जीव किन-किन स्थानो मे होते है, औदयिकादि पाँच प्रकार के भावो से विशिष्ट गुणस्थानो में से किस गुणस्थान मे कितने सक्रमस्थान होते है, कितने प्रतिग्रहस्थान होते है तथा किस सक्रमस्थान अथवा प्रतिग्रहस्थान की समाप्ति कितने काल से होती है ?[4]

नरकगति, देवगति और (सज्ञितिर्यञ्च) पचेन्द्रियो मे पाँच ही सक्रमस्थान होते है। मनुष्यगति मे सब सक्रमस्थान होते है। शेष असज्ञियो मे तीन संक्रमस्थान होते है। मिथ्यात्वगुणस्थान में चार, सम्यक्-मिथ्यात्वगुणस्थान मे दो, सम्यक्त्वगुणस्थानो में तेईस, विरतगुणस्थानो मे बाईस, विरताविरतगुणस्थान में पाँच, अविरतगुणस्थान मे छ, शुक्ललेश्या मे तेईस, तेजोलेश्या एव पद्मलेश्या में छ, कापोतलेश्या, नीललेश्या एव कृष्णलेश्या मे पाँच, अपगतवेद, नपुसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेद मे क्रमश. अठारह, नौ, ग्यारह और तेरह, क्रोधादि चार कषायो मे क्रमश सोलह, उन्नीस, तेईस और तेईस, त्रिविध ज्ञान (मति, श्रुत और अवधि) में तेईस, एक ज्ञान (मन पर्यय) के इक्कीस, त्रिविध अज्ञान (कुमति, कुश्रुत और विभग) मे पाँच, आहारक एव भव्य मे तेईस तथा अनाहारक में पाँच सक्रमस्थान होते है। अभव्य मे एक ही सक्रमस्थान होता है।[5] आगे यह

---

१. गा० २७–२८. २ गा० २९–३०

३ गा० ३१–३९ गा० २७–३९ शिवशर्मकृत कर्मप्रकृति के सक्रमकरण-प्रकरण की गा० १०–२२ से मिलती-जुलती हैं।

४. गा० ४०–४१. ५. गा० ४२–४८.

भी बताया गया है कि किन-किन जीवो मे कौन-कौन से सक्रमस्थान नही पाये जाते।[1]

वेदक अर्थाधिकार मे निम्नलिखित प्रश्न विचारणीय बताये गये हैं

कौन जीव कितनी कर्मप्रकृतियो को उदयावली मे प्रविष्ट करता है ? कौन जीव किस स्थिति मे प्रवेशक होता है ? कौन जीव किस अनुभाग मे प्रवेशक होता है ? इनका सान्तर व निरन्तर काल कितना होता है ? उस समय मे कौन जीव अधिक-से-अधिक तथा कौन जीव कम-से-कम कर्मो की उदीरणा करता है ? प्रतिसमय उदीरणा करता हुआ वह जीव कितने समय तक निरन्तर उदीरणा करता रहता है ? जो जीव स्थिति, अनुभाग एव प्रदेशाग्र मे जिसका सक्रमण करता है, जिसे बांधता है तथा जिसकी उदीरणा करता है वह किससे अधिक होता है ?[2]

उपयोग अर्थाधिकार में निम्नोक्त प्रश्नो का निर्देश किया गया है

किस कषाय मे कितने काल तक उपयोग होता है ? कौन-सा उपयोगकाल किससे अधिक है ? कौन किस कषाय मे निरन्तर उपयोगयुक्त रहता है ? एक भवग्रहण मे तथा एक कषाय मे कितने उपयोग होते है एव एक उपयोग मे तथा एक कषाय में कितने भव होते है ? किस कषाय मे कितनी उपयोग-वर्गणाएँ होती है तथा किस गति मे कितनी वर्गणाएँ होती है ? एक अनुभाग मे और एक कषाय मे एक काल की अपेक्षा से कौन-सी गति सदृशरूप से उपयुक्त होती है तथा कौन-सी गति विसदृशरूप से उपयुक्त होती है ? सदृश कषाय-वर्गणाओ में कितने जीव उपयुक्त है, इत्यादि ?[3]

चतु स्थान अर्थाधिकार में ग्रन्थकार ने बताया है कि क्रोध, मान, माया और लोभ के चार-चार भेद हैं। क्रोध के चार भेद नगराजि, पृथिवीराजि, वालुकाराजि और उदकराजि के समान है। मान के चार भेद शैलघन, अस्थि, दारु और लता के समान हैं। माया के चार भेद बाँस की जड, मेढे की सीग, गोमूत्र और अवलेखनी के सदृश है। लोभ के चार भेद कृमिराग, अक्षमल, पाशुलेप और हारिद्रवस्त्र के सदृश है।[4]

व्यञ्जन अर्थाधिकार में क्रोध, मान, माया और लोभ के एकार्थक पद बताये गये है। क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, सज्वलन, कलह, वृद्धि, झझा, द्वेष और

---

१ गा० ४९–५४
२. गा० ५९–६२
३. गा० ६३–६९
४ गा० ७०–७३.

विवाद एकार्थक हैं। मान, मद, दर्प, स्तम्भ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव और उत्सिक्त एकार्थक हैं। माया, सातियोग, निकृति, वचना, अनृजुता, ग्रहण, मनोज्ञमार्गण, कल्क, कुहक, गूहन और छन्न एकार्थक हैं। काम, राग, निदान, छन्द, स्वत, प्रेय, द्वेष, स्नेह, अनुराग, आशा, इच्छा, मूर्च्छा, गृद्धि, शाश्वत, प्रार्थना, लालसा, अविरति, तृष्णा, विद्या और जिह्वा—ये बीस पद लोभ के पर्यायवाची हैं।[1]

दर्शनमोहोपशामना अर्थाधिकार मे आचार्य ने निम्नोक्त प्रश्नो का समाधान किया है

दर्शनमोह के उपशामक का परिणाम कैसा होता है? किस योग, कषाय एव उपयोग मे वर्तमान, किस लेश्या से युक्त तथा कौन-से वेदवाला जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है? दर्शनमोहोपशामक के पूर्वबद्ध कर्म कौन-कौन से हैं? वह कौन-कौन-से नवीन कर्मांशो को बांधता है? किन-किन प्रकृतियो का प्रवेशक है? उपशमनकाल से पूर्व बन्ध अथवा उदय की अपेक्षा से कौन-कौन-से कर्मांश क्षीण होते हैं? कहाँ पर अन्तर होता है? कहाँ किन कर्मो का उपशमन होता है? उपशामक किस-किस स्थिति-अनुभागविशिष्ट कौन-कौन-से कर्मो का अपवर्तन करके किस स्थान को प्राप्त करता है? अवशिष्ट कर्म किस स्थिति एव अनुभाग को प्राप्त होते हैं?[2]

दर्शनमोहक्षपणा अर्थाधिकार मे आचार्य ने बताया है कि नियम से कर्मभूमि मे उत्पन्न एव मनुष्यगति मे वर्तमान जीव ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक अर्थात् प्रारम्भ करने वाला होता है किन्तु उसका निष्ठापक अर्थात् पूर्ण करने वाला चारो गतियो मे होता है। मिथ्यात्ववेदनीय कर्म के सम्यक्त्वप्रकृति मे अपवर्तित अर्थात् सक्रमित होने पर जीव दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है। वह कम-से-कम तेजोलेश्या मे विद्यमान होता है तथा अन्तर्मुहूर्त तक दर्शनमोह का नियमत क्षपण करता है। दर्शनमोह के क्षीण हो जाने पर देव एव मनुष्य सम्बन्धी नामकर्म तथा आयुकर्म का स्यात् बन्ध करता है और स्यात् नही भी करता। जीव जिस भव मे क्षपण का प्रस्थापक होता है उससे अन्य तीन भवो का नियमत उल्लघन नही करता। दर्शनमोह के क्षीण हो जाने पर तीन भवो मे

१. गा० ८६–९०.

२. गा० ९१–९४.

नियमत' मुक्त हो जाता है। मनुष्यो मे क्षीणमोह नियमत सख्येय सहस्र होते है। शेष गतियो मे क्षीणमोह नियमत असख्येय होते है।[१]

सयमासयमलब्धि और चारित्रलब्धि अर्थाधिकारो मे एक ही गाथा है जिसमे यह बताया गया है कि सयमासयम अर्थात् देशसयम तथा चारित्र अर्थात् सकलसयम की प्राप्ति, उत्तरोत्तर वृद्धि एव पूर्वबद्ध कर्मो की उपशामना का विचार करना चाहिए।[२]

चारित्रमोहोपशामना अर्थाधिकार मे निम्नोक्त प्रश्नो का समाधान कर लेने को कहा गया है:

उपशामना कितने प्रकार की होती है ? उपशम किस-किस कर्म का होता है ? कौन-कौन-सा कर्म उपशान्त रहता है ? कौन-कौन-सा कर्म अनुपशान्त रहता है ? स्थिति, अनुभाग एव प्रदेशाग्र का कितना भाग उपशमित होता है, कितना भाग सक्रमित एव उदीरित होता है तथा कितना भाग बँधता है ? कितने समय तक उपशमन होता है ? कितने समय तक सक्रमण होता है ? कितने काल तक तक उदीरणा होती है ? कौन-सा कर्म कितने समय तक उपशान्त अथवा अनुपशान्त रहता है ? कौन-सा करण व्युच्छिन्न होता है ? कौन-सा करण अव्युच्छिन्न रहता है ? कौन-सा करण उपशान्त होता है ? कौन-सा करण अनुपशान्त रहता है ? प्रतिपात कितने प्रकार का होता है ? प्रतिपात किस कषाय में होता है ? प्रतिपतित होता हुआ जीव किन कर्माशो का बन्धक होता है ?[३]

चारित्रमोहक्षपणा अर्थाधिकार मे ग्रन्थकार ने बताया है कि सक्रमण-प्रस्थापक के मोहनीय कर्म की दो स्थितियाँ होती है जिनका प्रमाण मुहूर्त से कुछ कम होता है। तत्पश्चात् नियम से अन्तर होता है। जो कर्माश क्षीण स्थिति वाले है उनका जीव दोनो ही स्थितियो मे वेदन करता है। जिनका वह वेदन नही करता उन्हे तो द्वितीय स्थिति मे ही जानना चाहिए। सक्रमण-प्रस्थापक के पूर्वबद्ध कर्म मध्यम स्थितियो मे पाये जाते है। अनुभागो मे सातावेदनीय, शुभनाम और उच्चगोत्र कर्म उत्कृष्ट रूप से पाये जाते है, इत्यादि।[४]

---

१ गा० ९१–९४ इस प्रकरण की गा० १००, १०३, १०४ व १०५ शिवशर्मकृत कर्मप्रकृति के उपशमनाकरण प्रकरण की गा० २३–२६ से मिलती-जुलती है।

२ गा० ११०–११४

३ गा० ११५

४ गा० ११६–१२०

५ गा० १२५–२३३.

अन्त मे क्षपणाधिकार-चूलिका के रूप मे उपलब्ध बारह सग्रह-गाथाओं मे क्षपकश्रेणी के सम्बन्ध मे विशेष प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन सात कर्मप्रकृतियो का क्षपकश्रेणी पर चढने से पूर्व ही क्षय करता है। क्षपकश्रेणी पर चढते हुए अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे अन्तरकरण से पूर्व आठ मध्यम कषायो का क्षय करता है। तदनन्तर नपुसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क तथा पुरुषवेद का क्षय करता है। तत्पश्चात् सज्वलनक्रोध आदि का क्षय करता है, इत्यादि।[1]

●

१. कसायपाहुड सुत्त, पृ० ८९७–८९९

पंचम प्रकरण

कषायप्राभृत की व्याख्याएँ

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार मे उल्लेख है कि आचार्य गुणधर ने कषायप्राभृत की रचना कर नागहस्ती और आर्यमक्षु को उसका व्याख्यान दिया। यतिवृषभ ने उनसे कषायप्राभृत पढकर उस पर छ हजार श्लोकप्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। यतिवृषभ ने उन चूर्णिसूत्रो का अध्ययन कर उच्चारणाचार्य (पदपरक नाम) ने उन पर बारह हजार श्लोकप्रमाण उच्चारणसूत्रो की रचना की।[1] उसके बाद बहुत काल बीतने पर आचार्य शामकुण्ड ने षट्खण्डागम और कषायप्राभृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर महाबन्ध नामक षष्ठ खण्ड के अतिरिक्त दोनो ग्रन्थो पर बारह हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत-संस्कृत-कन्नडमिश्रित पद्धतिरूप वृत्ति बनाई। उसके बाद बहुत समय व्यतीत होने पर तुम्बुलूराचार्य ने भी षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डो तथा कषायप्राभृत पर कन्नड मे चौरासी हजार श्लोकप्रमाण चूडामणि नामक बृहत्काय व्याख्या लिखी। तत्पश्चात् बहुत काल बीतने पर बप्पदेवगुरु ने षट्खण्डागम और कषायप्राभृत पर अडसठ हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत टीका लिखी। उसके बाद बहुत समय के पश्चात् वीरसेनगुरु ने षट्खण्डागम के पांच खण्डो पर बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत-संस्कृतमिश्रित धवला टीका लिखी। उसके बाद कषायप्राभृत की चार विभक्तियो पर इसी प्रकार की बीस हजार श्लोकप्रमाण जयधवला टीका लिखकर वे स्वर्गवासी हुए। इस अपूर्ण जयधवला को उन्ही के शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने चालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका और लिख कर पूर्ण किया।[2]

श्रुतावतार के इस उल्लेख से प्रकट होता है कि कषायप्राभृत पर निम्नोक्त टीकाएँ लिखी गई

१ आचार्य यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्र, २. उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणावृत्ति अथवा मूल उच्चारणा, ३. आचार्य शामकुण्डकृत पद्धतिटीका, ४. तुम्बुलूराचार्यकृत

---

१ ये दोनो प्राकृत में लिखे गये।

२ देखिए—षट्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० ४६–५३; कसायपाहुड, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ९–१०

चूडामणिव्याख्या, ५. बप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति, ६. आचार्य वीरसेन जिनसेनकृत जयधवलाटीका ।

इन छ टीकाओ में से प्रथम व अन्तिम अर्थात् चूर्णि व जयधवला ये दो टीकाएँ वर्तमान में उपलब्ध है ।

यतिवृषभकृत चूर्णि :

धवला टीका मे कषायप्राभृत एवं चूर्णिसूत्र अर्थात् कषायप्राभृतचूर्णि का यत्र-तत्र अनेक बार उल्लेख हुआ है । उसमें कहा गया है कि विपुलाचल के शिखर पर स्थित त्रिकालगोचर षड्द्रव्यो का प्रत्यक्ष करने वाले वर्धमान भट्टारक द्वारा गौतम स्थविर के लिए प्ररूपित अर्थ आचार्य-परम्परा से गुणधर भट्टारक को प्राप्त हुआ । उनसे वह आचार्यपरम्परा द्वारा आर्यमक्षु और नागहस्ती भट्टारको के पास आया । उन दोनो ने क्रमशः यतिवृषभ भट्टारक के लिए उसका व्याख्यान किया । यतिवृषभ ने शिष्यो के अनुग्रह के लिए उसे चूर्णिसूत्र मे आबद्ध किया ।[1]

यतिवृषभ का समय विभिन्न अनुमानो के आधार पर विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है ।[2] तिलोयपण्णत्ति—त्रिलोकप्रज्ञप्ति भी इन्ही की कृति है ।

अर्थाधिकार—कषायप्राभृत-चूर्णि के प्रारम्भ मे लिखा है कि ज्ञानप्रवाद पूर्व की दसवी वस्तु के तृतीय प्राभृत का उपक्रम पाँच प्रकार का है आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । आनुपूर्वी तीन प्रकार की है । नाम छ प्रकार का है । प्रमाण सात प्रकार का है । वक्तव्यता तीन प्रकार की है । अर्थाधिकार पन्द्रह प्रकार का है ।[3]

दो नाम—प्रस्तुत प्राभृत के दो नाम है पेज्जदोसपाहुड—प्रेयोद्वेषप्राभृत और कसायपाहुड—कषायप्राभृत । इनमे से प्रेयोद्वेषप्राभृत नाम अभिव्याहरण-

---

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १२, पृ० २३१–२३२.

२. कसायपाहुड, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ३८–६३; कसायपाहुड सुत्त, प्रस्तावना, पृ० ५७–५९

३ णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पचविहो उवक्कमो । त जहा—आणुपुव्वी णाणं पमाण वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । आणुपुव्वी तिविहा । णामं छव्विह । पमाण सत्तविह । वत्तव्वदा तिविहा । अत्थाहियारो पण्णारसविहो ।

—कसायपाहुड सुत्त, पृ २-४.

निष्पन्न (अर्थानुसारी) है जबकि कषायप्राभृत नाम नय-निष्पन्न (नयानुसारी) है। प्रेय का नाम, स्थापना, द्रव्य और भावपूर्वक निक्षेप करना चाहिए। नैगम-नय, सग्रहनय और व्यवहारनय सब निक्षेपो को स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापना के सिवाय सब निक्षेपो को स्वीकार करता है। नामनिक्षेप और भाव-निक्षेप शब्दनय के विषय है। द्वेष का निक्षेप भी चार प्रकार का है नामद्वेष, स्थापनाद्वेष, द्रव्यद्वेष और भावद्वेष। कषाय का निक्षेप आठ प्रकार का है नाम-कषाय, स्थापनाकषाय, द्रव्यकषाय, प्रत्ययकषाय, समुत्पत्तिकषाय, आदेशकषाय, रसकषाय और भावकषाय। प्राभृत का निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार प्रकार का है।[1] 'प्राभृत' की निरुक्ति क्या है ? जो पदो से फुड-स्फुट अर्थात् सपृक्त, आभृत या भरपूर हो उसे पाहुड—प्राभृत कहते है· पाहुडेत्ति का णिरुत्तो ? जम्हा पदेहि पुद (फुड) तम्हा पाहुड।[2]

द्वेष और प्रेय—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव चारो गतियो के जीव द्वेष के स्वामी होते हैं। इसी प्रकार प्रेय के भी स्वामी जानने चाहिये। द्वेष जघन्य एव उत्कृष्ट काल की अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इसी प्रकार प्रेय का भी काल जानना चाहिये। यह कथन ओघ अर्थात् सामान्य की दृष्टि से है। आदेश अर्थात् विशेष की दृष्टि से नारकियो में प्रेय और द्वेष जघन्य काल की अपेक्षा से एक समय तथा उत्कृष्ट काल की अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इसी प्रकार शेष अनुयोगद्वार जानने चाहिये।[3]

प्रकृतिविभक्ति—कषायप्राभृत की गाथा 'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ती ' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकार ने बताया है कि प्रकृतिविभक्ति दो प्रकार की है मूलप्रकृतिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिविभक्ति। मूलप्रकृतिविभक्ति के स्वामित्व, काल, अन्तर आदि आठ अनुयोगद्वार हैं। उत्तरप्रकृतिविभक्ति के दो भेद हैं एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति और प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति। एकैकउत्तरप्रकृति-विभक्ति के स्वामित्व आदि ग्यारह अनुयोगद्वार है। प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति के स्वामित्व आदि तेरह अनुयोगद्वार हैं।[4]

स्थितिविभक्ति—प्रकृतिविभक्ति की ही भाँति स्थितिविभक्ति भी दो प्रकार की है· मूलप्रकृतिस्थितिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिस्थितिविभक्ति। इन दोनो प्रकारो के सर्वविभक्ति, नोसर्वविभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्टविभक्ति आदि चौबीस-चौबीस अनुयोगद्वार है।[5]

---

१ वही, पृ० १६–२८ २ वही, पृ० २९. ३. वही, पृ० ४०–४१.
४. वही, पृ० ४९–५७ ५. वही, पृ० ८०–९१.

अनुभागविभक्ति और प्रदेशविभक्ति—चूर्णिकार ने प्रकृतिविभक्ति एवं स्थितिविभक्ति की ही तरह अनुभागविभक्ति तथा प्रदेशविभक्ति का भी अनुयोग-द्वारपूर्वक विवेचन किया है।

क्षीणाक्षीणाधिकार—कर्मप्रदेशो की क्षीणाक्षीणस्थितिकता का विचार करते हुए चुर्णिकार ने बताया है कि कर्मप्रदेश अपकर्षण से क्षीणस्थितिक है, उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक हैं, सक्रमण से क्षीणस्थितिक है और उदय से क्षीणस्थितिक हैं। कौन-से कर्मप्रदेश अपकर्षण से क्षीणस्थितिक है? जो कर्मप्रदेश उदयावली के भीतर स्थित है वे अपकर्षण से क्षीणस्थितिक हैं। उदयावली के बाहर स्थित कर्मप्रदेश अपकर्षण से अक्षीणस्थितिक है। दूसरे शब्दो में उदयावली के भीतर स्थित कर्मप्रदेशो की स्थिति का अपकर्षण—ह्रास नही हो सकता किन्तु जो कर्मप्रदेश उदयावली के बाहर स्थित है उनकी स्थिति को घटाया जा सकता है। कौन-से कर्मप्रदेश उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक है? जो कर्मप्रदेश उदयावली में प्रविष्ट हैं वे उत्कर्षण से क्षीणस्थितिक है, इत्यादि।[1]

स्थितिक-अधिकार—क्षीणाक्षीणाधिकार के बाद चूर्णिकार ने स्थितिक-अधिकार का तीन अनुयोगद्वारो मे विवेचन किया है। इन अनुयोगद्वारो के नाम इस प्रकार हैं समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व।[2]

बन्धक-अर्थाधिकार—बन्धक नामक अर्थाधिकार मे दो अनुयोगद्वार है बन्ध और सक्रम।[3]

सक्रम-अर्थाधिकार—सक्रम का उपक्रम पाँच प्रकार का है . आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार।[4] चूर्णिकार ने इस प्रकरण मे सक्रम की विविध दृष्टियो से विस्तारपूर्वक विवेचना की है।

वेदक-अर्थाधिकार—वेदक नामक अर्थाधिकार मे दो अनुयोगद्वार है उदय और उदीरणा। इसमे चार सूत्र-गाथाएँ हैं।[5] इनमे से पहली गाथा प्रकृति-उदीरणा और प्रकृति-उदय से सम्बन्धित है।[6]

उपयोग-अर्थाधिकार—उपयोग नामक अर्थाधिकार से सम्बन्धित सात गाथाओ की विभाषा करते हुए चूर्णिकार ने बताया है कि क्रोध, मान, माया एव लोभ का जघन्य तथा उत्कृष्ट दोनो प्रकार का काल अन्तर्मुहूर्त है। गतियो

---

१ वही, पृ० २१३–२३४
२ वही, पृ० २३५–२४७.
३ वही, पृ० २४८–२४९.
४ वही, पृ० २५०
५ वही, पृ० ४६५
६. वही, पृ० ४६७.

में निष्क्रमण और प्रवेश की अपेक्षा से इनका काल एक समय भी होता है।[1] सामान्यतया मान का जघन्य काल सबसे कम है। क्रोध का जघन्य काल मान के जघन्य काल से विशेष अधिक है। माया का जघन्य काल क्रोध के जघन्य काल से विशेष अधिक है। लोभ का जघन्य काल माया के जघन्य काल से विशेष अधिक है। मान का उत्कृष्ट काल लोभ के जघन्य काल से सख्येय गुणित है। क्रोध का उत्कृष्ट काल मान के उत्कृष्ट काल से विशेष अधिक है, इत्यादि।[2] चतुर्थ गाथा की विभाषा मे आचार्य ने दो प्रकार के उपदेशो का अनुसरण किया है प्रवाह्यमान उपदेश और अप्रवाह्यमान उपदेश।[3]

चतु स्थान-अर्थाधिकार—चतु स्थान नामक अर्थाधिकार की चूर्णि के प्रारम्भ में एकैकनिक्षेप और स्थाननिक्षेपपूर्वक 'चतु स्थान' पद की विभाषा की गई है।[4] तदनन्तर गाथाओ का व्याख्यान किया गया है।[5]

इसी प्रकार शेष अर्थाधिकारो का भी चूर्णिकार ने कही सक्षेप मे तो कही विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया है।

वीरसेन-जिनसेनकृत जयधवला :

जयधवला टीका कषायप्राभृत मूल तथा उसकी चूर्णि दोनों पर है। जयधवला के अन्त मे उपलब्ध प्रशस्ति मे उसके रचयिता, रचनाकाल आदि के सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि ग्रन्थ का पूर्वार्ध गुरु वीरसेन ने रचा तथा उत्तरार्ध शिष्य जिनसेन ने। यहाँ पूर्वार्ध से तात्पर्य पहले के हिस्से से है और उत्तरार्ध से बाद के हिस्से से। श्रुतावतार में आचार्य इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट लिखा है कि कषायप्राभृत की चार विभक्तियो पर बीस हजार श्लोकप्रमाण टीका लिख कर वीरसेन स्वामी स्वर्गवासी हुए। तत्पश्चात् उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने चालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका और लिख कर इस ग्रन्थ को समाप्त किया। इस प्रकार प्रस्तुत टीका जयधवला साठ हजार श्लोकप्रमाण वृहत्काय ग्रन्थ है। यह भी धवला के ही समान विविध विषयो से परिपूर्ण एक महत्त्वपूर्ण कृति है। आचार्य ने इसका नाम भी ग्रन्थ के गुणानुरूप ही धवला के साथ जय विशेषण लगाकर

---

१ वही, पृ० ५६०–५६१
२. वही, पृ० ५६१–५६२
३ वही, पृ० ५८०–५८१.
४. वही, पृ० ६०६–६०८.
५. वही, पृ० ६०८–६१०.

जयधवला रखा। इस नाम का उल्लेख स्वय टीकाकार ने ग्रन्थ के अन्त में किया है।

जयधवला की रचना शक सवत् ७५९ के फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन पूर्ण हुई, ऐसा इसकी प्रशस्ति में उल्लेख है। यह टीका गुर्जरार्यानुपालित वाटग्रामपुर मे राजा अमोघवर्ष के राज्यकाल मे लिखी गई।[1]

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा—जयधवला टीका के प्रारम्भ मे वीरसेनाचार्य ने चन्द्रप्रभ जिनेश्वर की स्तुति की है। तदनन्तर चौबीस तीर्थंकरो, वीर जिनेन्द्र, श्रुतदेवी, गणधरदेवो, गुणधर भट्टारक, आर्यमक्षु, नागहस्ती एव यतिवृषभ को प्रणाम करते हुए प्रस्तुत विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की है।[2]

गुणधर भट्टारक ने गाथासूत्रों के प्रारम्भ में तथा यतिवृषभ स्थविर ने चूर्णिसूत्रो के आरम्भ मे मगल क्यो नही किया, इसकी जयधवलाकार ने युक्तियुक्त चर्चा की है।[3]

पदप्रमाण—कषायप्राभृत एवं कषायप्राभृतचूर्णि की रचना का उल्लेख करते हुए जयधवलाकार ने लिखा है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् होने वाले सब आचार्य अगो एव पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता हुए। अगो व पूर्वों का एकदेश ही आचार्यपरम्परा से गुणधराचार्य को प्राप्त हुआ। ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवे पूर्व की दसवी वस्तु के तीसरे कषायप्राभृतरूपी महासमुद्र के पार को प्राप्त गुणधर भट्टारक ने ग्रन्थविच्छेद के भय से सोलह हजार पदप्रमाण[4] पेज्जदोसपाहुड (कषायप्राभृत) का केवल १८० गाथाओ द्वारा उपसहार किया। पुन. वे ही सूत्रगाथाएँ आचार्यपरम्परा से आती हुई आर्यमक्षु तथा नागहस्ती को प्राप्त हुई। इन दोनो आचार्यों के पादमूल मे उन गाथाओ के अर्थ को सम्यक्तया सुनकर प्रवचनवत्सल यतिवृषभ भट्टारक ने चूर्णिसूत्र की रचना की।[5]

इसी टीका मे अन्यत्र टीकाकार ने बताया है कि कषायप्राभृत की गुणधर के मुखकमल से निकली हुई उपसहाररूप गाथाएँ २३३ है। यतिवृषभ के मुखारविंद से निकला हुआ चूर्णिसूत्र छ हजार पदप्रमाण है।[6]

---

१ देखिए—कसायपाहुड, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ६९–७७

२. कसायपाहुड, भा० १, पृ० १–५ ३ वही, पृ० ५–९.

४. पद के स्वरूप के लिए देखिए—वही, पृ० ९०–९२.

५ वही, पृ० ८७–८८. ६. वही, पृ० ९६.

कषायप्राभृत की गाथासख्या के विषय मे उपर्युक्त दो प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए जयधवलाकार ने द्वितीय प्रकार की मान्यता का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में उन्होने लिखा है कि कुछ व्याख्यानाचार्य कहते हैं कि २३३ गाथाओ में से १८० गाथाओ को छोडकर सम्बन्ध, अद्धापरिमाण और सक्रमण का निर्देश करने वाली शेष ५३ गाथाएँ आचार्य नागहस्ती ने रची हैं अतएव 'गाहासदे असीदे' ऐसा कह कर नागहस्ती ने १८० गाथाओ का उल्लेख किया है। उनका यह कथन ठीक नही। सम्बन्ध, अद्धापरिमाण और सक्रमण का निर्देश करने वाली गाथाओ को छोडकर केवल १८० गाथाएँ गुणधर भट्टारककृत मानने पर उनकी अज्ञता का प्रसग उपस्थित होता है। अत यह मानना चाहिए कि कषायप्राभृत की सब गाथाएँ अर्थात् २३३ गाथाएँ गुणधर भट्टारक की बनाई हुई हैं।[1] जयधवलाकार का यह हेतु उपयुक्त प्रतीत नही होता।

केवलज्ञान व केवलदर्शन—जयधवला में एक स्थान पर केवलज्ञान और केवलदर्शन के यौगपद्य की सिद्धि के प्रसङ्ग से सिद्धसेनकृत सन्मतितर्क की अनेक गाथाएँ उद्धृत की गई है[2] तथा यह बताया गया है कि अन्तरग उद्योत केवलदर्शन है तथा वहिरग पदार्थों को विषय करने वाला प्रकाश केवलज्ञान है। इन दोनो उपयोगो की युगपत् प्रवृत्ति विरुद्ध नही है क्योकि उपयोगो की क्रमिक प्रवृत्ति कर्म का कार्य है। कर्म का अभाव हो जाने पर उपयोगो की क्रमिकता का भी अभाव हो जाता है। अत निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् प्रवृत्त होते हैं, क्रमश नही।[3]

बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणा—जयधवलाकार वीरसेन ने एक स्थान पर बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणावृत्ति का उल्लेख किया है एव उच्चारणाचार्यलिखित उच्चारणावृत्ति से उसका मतभेद बताया है। यह उल्लेख इस प्रकार है अनुदिश से लेकर अपराजित तक के देवो के अल्पतर विभक्तिस्थान का अन्तरकाल यहाँ उच्चारणा मे चौबीस दिन-रात कहा है जबकि बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणा में वर्षपृथक्त्व बताया है। इसलिए इन दोनो उच्चारणाओ का अर्थ समझ कर अन्तरकाल का कथन करना चाहिये। हमारे अभिप्राय से वर्षपृथक्त्व का अन्तर-काल ठीक है।[4] यहाँ बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणा से तात्पर्य उनकी कषायप्राभृत

---

१ वही, पृ० १८३ २ वही, पृ० ३५१–३६० ३ वही, पृ० ३५६–३५७.

४ अणुद्दिसादि अवराइयदताण अप्पदरस्स अतर एत्थ उच्चारणाए चउवीस अहोरत्तमेत्तमिदि भणिद। बप्पदेवाइरियलिहिद-उच्चारणाए वासपुधत्त-

की अनुपलब्ध टीका व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति से है, ऐसा प्रतीत होता है। जयधवलाकार ने आगे भी उच्चारणाचार्य के मत से अन्य व्याख्यानाचार्यों के मतो का भेद बतलाया है[1] तथा चूर्णिसूत्र, बप्पदेवाचार्यलिखित उच्चारणा एव स्वलिखित उच्चारणा के मतभेदो का उल्लेख किया है।[2] वीरसेन की स्वलिखित उच्चारणा जयधवला से अतिरिक्त कोई सक्षिप्त व्याख्या है, ऐसा मालूम होता है।

जयधवला भाषा, शैली, सामग्री आदि दृष्टियो से धवला के ही समकक्ष है। अभी तक यह विशालकाय टीका पूरी प्रकाशित नही हुई है।

●

मिदि परूविद। एदासि दोण्हमुच्चारणाणमत्थो जाणिय वत्तव्वो। अम्हाण पुण वासपुधत्ततर सोहणमिदि अहिप्पाओ।

—कसायपाहुड, भा० २, पृ० ४२०-४२१.

१. कसायपाहुड, भा० ३, पृ० २१३-२१४, ५३२

२. वही, पृ० ३९८.

षष्ठ प्रकरण

अन्य कर्मसाहित्य

भारतीय तत्त्वचिन्तन की तीनो मुख्य शाखाओ—वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा के साहित्य मे कर्मवाद का विचार किया गया है। वैदिक एव बौद्ध साहित्य में कर्मसम्बन्धी विचार इतना अल्प है कि उसमे कर्मविषयक कोई खास ग्रन्थ दृष्टिगोचर नही होता। इसके विपरीत जैन साहित्य में कर्मसम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैन परम्परा मे कर्मवाद का बहुत सूक्ष्म, सुव्यवस्थि एवं अति विस्तृत विवेचन किया गया है। कर्मविषयक साहित्य का जैन साहित्य में नि सन्देह एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह साहित्य 'कर्मशास्त्र' अथवा 'कर्मग्रन्थ' के रूप में प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र कर्मग्रन्थो के अतिरिक्त आगमादि अन्य जैन ग्रन्थो मे भी यत्र-तत्र कर्मविषयक चर्चा देखने को मिलती है।

भगवान् महावीर के समय से लेकर वर्तमान समय तक कर्मशास्त्र का जो सकलन हुआ है उसके स्थूलरूप में तीन विभाग किये जा सकते हैं. पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र और प्राकरणिक कर्मशास्त्र।[1] जैन परम्पराभिमत चौदह पूर्वों में से आठवाँ पूर्व जिसे 'कर्मप्रवाद' कहते हैं, कर्मविषयक ही था। इसके अतिरिक्त द्वितीय पूर्व के एक विभाग का नाम 'कर्मप्राभृत' एव पञ्चम पूर्व के एक विभाग का नाम 'कषायप्राभृत' था। इन दोनो में भी कर्मविषयक वर्णन था। इस समय श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो में उक्त पूर्वात्मक कर्मशास्त्र अपने असली रूप मे विद्यमान नही है। पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र साक्षात् पूर्वसाहित्य से उद्धृत किया गया है, ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो के ग्रथो में पाया जाता है। यह साहित्य दोनो सम्प्रदायो में आज भी उपलब्ध है। सम्प्रदायभेद के कारण इसके नामो में विभिन्नता पाई जाती है। दिगम्बर सम्प्रदाय में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषाय-प्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार कर्मप्रकृति, शतक, पञ्चसग्रह और सप्ततिका ये चार ग्रन्थ पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र के अन्तर्गत है। प्राकरणिक कर्मशास्त्र मे कर्मविषयक अनेक छोटे-बडे

---

१. देखिये—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग (प० सुखलालजीकृत हिन्दी अनुवाद), प्रस्तावना, पृ० १५-१६.

ग्रन्थो का समावेश है। इन ग्रन्थो का आधार पूर्वोद्धृत कर्मसाहित्य है। इस समय विशेषतया इन्ही प्रकरण-ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित है। ये ग्रन्थ अपेक्षाकृत सरल एव लघुकाय है। इनके अपेक्षित अवलोकन के अनन्तर पूर्वोद्धृत कर्मग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन विशेष फलदायी होता है। प्राकरणिक कर्मग्रन्थो का लेखन-कार्य विक्रम की आठवी-नवी शती से लेकर सोलहवी-सत्रहवी शती तक हुआ है। आधुनिक विद्वानो ने भी हिन्दी, गुजराती, अग्रेजी आदि भाषाओ मे कर्मविषयक साहित्य का निर्माण किया है जो मुख्यतया कर्मग्रन्थो के विवेचन एवं व्याख्यान के रूप में है।

भाषा की दृष्टि से कर्मसाहित्य को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है प्राकृत मे लिखित कर्मशास्त्र, सस्कृत मे लिखित कर्मशास्त्र और प्रादेशिक भाषाओ मे लिखित कर्मशास्त्र। पूर्वात्मक एव पूर्वोद्धृत कर्मग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। प्राकरणिक कर्मसाहित्य का भी बहुत बडा अश प्राकृत मे ही है। मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त उन पर लिखी गई कुछ टीका-टिप्पणियाँ भी प्राकृत मे है। सस्कृत मे पीछे से कुछ कर्मग्रन्थ बने है। अधिकतर सस्कृत मे कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पणियाँ ही लिखी गई हैं। सस्कृत मे लिखित मूल कर्मग्रन्थ प्राकरणिक कर्मशास्त्र में समाविष्ट हैं। प्रादेशिक भाषाओ मे लिखित कर्मसाहित्य कन्नड, गुजराती और हिन्दी मे हैं। इनमे मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के है। मुख्यतया इनमे मूल ग्रन्थों तथा टीकाओ का अनुवाद अथवा विवेचन किया गया है। ये अनुवाद अथवा विवेचन विशेषतया प्राकरणिक कर्मशास्त्र से सम्बन्वित है। कन्नड एव हिन्दी मे मुख्यतया दिगम्बर साहित्य लिखा गया है जबकि गुजराती मे विशेषकर श्वेताम्बर साहित्य की रचना हुई है।

जो इस समय उपलब्ध है अथवा जिनके होने का पता अन्य ग्रन्थो में उल्लिखित उल्लेखो से लगता है उन महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थो एव टीकाओ की सूची[1] नीचे दी जाती है जिससे कर्मविषयक साहित्य की समृद्धि की कल्पना करने में सरलता होगी। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो के इस विपुल साहित्य

---

१ सटीकाश्चत्वार कर्मग्रन्था (मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित), षष्ठ परिशिष्ट, पृ० १७-२० (आवश्यक परिवर्तन एव परिवर्धन के साथ).
प्रो० हीरालाल रसिकदास कापडिया का 'कर्मसिद्धान्तसम्बन्वी साहित्य' ग्रन्थ भी दृष्टव्य है।

को देखकर सहज ही इस बात का अनुमान हो सकेगा कि कर्मवाद का जैन परम्परा मे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है एवं कर्मसम्बन्धी साहित्य उसकी कितनी विपुल निधि है—

दिगम्बरीय कर्मसाहित्य

ग्रन्थ का नाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल
१. महाकर्मप्रकृतिप्राभृत* अथवा कर्मप्राभृत (षट्खण्डशास्त्र)	पुष्पदन्त तथा भूतवलि	३६०००	अनुमानत विक्रम की २–३ री शती
,, प्राकृत टीका	कुन्दकुन्दाचार्य	१२०००	....
,, प्राकृत-संस्कृत-कन्नडमिश्रित टीका	शामकुण्डाचार्य	६०००	.
,, कन्नड टीका	तुम्बुलूराचार्य	५४०००	
,, संस्कृत टीका	समन्तभद्र	४८०००	. .
,, प्राकृत टीका	वप्पदेवगुरु	३८०००	
,, धवला टीका*	वीरसेन	७२०००	लगभग वि०स०९०५
२. कषायप्राभृत*	गुणधर	गा० २३६	अनुमानत विक्रम की ३ री शती
,, चूर्णि*	यतिवृषभ	६०००	अनुमानत विक्रम की छठी शती
,, वृत्ति	उच्चारणाचार्य	१२०००	...
,, टीका	शामकुण्डाचार्य	६०००	
,, व्याख्या	तुम्बुलूराचार्य	३००००	
,, प्रा० टीका	वप्पदेवगुरु	३००००	
,, जयधवला टीका*	वीरसेन तथा जिनसेन	६००००	विक्रम की ९-१० वी शती
३. गोम्मटसार*	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० १७०५	विक्रम की ११ वी शती
,, कन्नड टीका	चामुण्डराय	...	,,

* प्रकाशित ग्रन्थ

,, सं० टीका*	केशववर्णी	....	....
,, स० टीका*	अभयचन्द्र	....	....
,, हिन्दी टीका*	टोडरमल्ल	...	विक्रम की १९ वीं शती
४. लब्धिसार* (क्षपणासारगर्भित)	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० ६५०	विक्रम की ११ वी शती
,, सस्कृत टीका*	केशववर्णी	....	..
,, हिन्दी टीका*	टोडरमल्ल	..	विक्रम की १९ वी शती
५. क्षपणासार	माधवचन्द्र	....	विक्रम की ११ वी शती
६. पञ्चसंग्रह* (सस्कृत)	अमितगति	श्लो० १४५६	वि० सं० १०७३
७. पञ्चसग्रह* (प्राकृत)	....	गा० १३२४	...
८. पञ्चसग्रह* (सस्कृत)	श्रीपालसुत डड्ढ	श्लो० १२४३	विक्रम की १७ वी शती

श्वेताम्बरीय कर्मसाहित्य

ग्रन्थ का नाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल
१. कर्मप्रकृति*	शिवशर्मसूरि	गा० ४७५	सम्भवत विक्रम की ५ वी शती
,, चूर्णि*	....	७०००	विक्रम की १२ वी शती से पूर्व
,, चूर्णिटिप्पण	मुनिचन्द्रसूरि	१९२०	विक्रम की १२ वी शती
,, वृत्ति*	मलयगिरि	८०००	विक्रम की १२-१३ वी शती
,, वृत्ति*	यशोविजय	१३०००	विक्रम की १८ वी शती
२. पञ्चसग्रह*	चन्द्रर्षिमहत्तर	गा० ९६३	....
,, स्वोपज्ञवृत्ति*	,,	९०००	....

,, बृहद्वृत्ति*	मलयगिरि	१८८५०	विक्रम की १२-१३ वी शती
,, दीपक	वामदेव	२५००	सम्भवत. विक्रम की १२ वी शती
३ प्राचीन षट् कर्मग्रथ*	...	गा० ५४७, ५५१ अथवा ५६७	...
(१) कर्मविपाक	गर्गर्षि	गा० १६८	सम्भवत विक्रम की १० वी शती
,, वृत्ति*	परमानन्दसूरि	९२२	विक्रम की १२-१३ वी शती
,, व्याख्या*	....	१०००	....
,, टिप्पन	उभयप्रभसूरि	४२०	(सभवत) सम्भवत विक्रम की १३ वी शती
(२) कर्मस्तव	....	गा० ५७	....
,, भाष्य*	. .	गा० २४	....
,, भाष्य*	....	गा० ३२	....
,, वृत्ति*	गोविन्दार्य	१०९०	सम्भवत वि० स० १२८८ से पूर्व
,, टिप्पन	उदयप्रभसूरि	२९२	सम्भवत विक्रम की १३ वी शती
(३) बन्धस्वामित्व	..	गा० ५४	....
,, वृत्ति*	हरिभद्रसूरि	५६०	वि० स० ११७२
(४) षडशीति	जिनवल्लभगणि	गा० ८६	विक्रम की १२ वी शती
,, भाष्य	...	गा० २३	
,, भाष्य*	....	गा० ३८	....
,, वृत्ति*	हरिभद्रसूरि	८५०	विक्रम की १२ वी शती

,, वृत्ति*	मलयगिरि	२१४०	विक्रम की १२-१३ वी शती
,, वृत्ति	यशोभद्रसूरि	१६३०	विक्रम की १२ वी शती
,, प्राकृ वृत्ति	रामदेव	७५०	,,
,, विवरण	मेरुवाचक	पत्र० ३२	....
,, उद्धार	..	१६००	...
,, अवचूरि	....	७००	....
(५) शतक	शिवशर्मसूरि	गा० १११	सम्भवत विक्रम की ५ वी शती
,, भाष्य*	....	गा० २४	....
,, भाष्य	..	गा० २४	....
,, बृहद्भाष्य*	चक्रेश्वरसूरि	१४१३	वि० स० ११७९
,, चूर्णि*	.	२३२२	.
,, वृत्ति	मलधारी हेमचन्द्रसूरि	३७४०	विक्रम की १२ वी शती
,, टिप्पन	उभयप्रभसूरि	९७४	सम्भवत विक्रम की १३ वी शती
,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि	पत्र० २५	विक्रम की १५ वी शती
(६) सप्ततिका	शिवशर्मसूरि अथवा चन्द्रर्षिमहत्तर	गा० ७५	...
,, भाष्य*	अभयदेवसूरि	गा० १९१	विक्रम की ११-१२ वी शती
,, चूर्णि	....	पत्र० १३२	..
,, प्राकृत वृत्ति	चन्द्रर्षिमहत्तर	२३००	...
,, वृत्ति*	मलयगिरि	३७८०	विक्रम की १२-१३ वी शती
,, भाष्यवृत्ति*	मेरुतुंगसूरि	४१५०	वि० स० १४४९
,, टिप्पन	रामदेव	५७४	विक्रम की १२ वी शती

,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि	....	विक्रम की १५ वी शती
४ सार्द्धशतक*	जिनवल्लभगणि	गा० १५५	विक्रम की १२ वी शती
,, भाष्य	...	गा० ११०	...
,, चूर्णि	मुनिचन्द्रसूरि	२२००	वि० स० ११७०
,, वृत्ति*	धनेश्वरसूरि	३७००	वि० स० ११७१
,, प्रा० वृत्ति	चक्रेश्वरसूरि	ताड० प० १५१	.
,, वृत्तिटिप्पन	....	१४००	...
५. नवीन पंच कर्मग्रथ*	देवेन्द्रसूरि	गा० ३०४	विक्रम की १३-१४ वी शती
,, स्वो० टीका* (वन्धस्वामित्व को छोड कर)	,,	१०१३१	,,
,, अवचूरि	मुनिशेखरसूरि	२९५८	...
,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि	५४०७	विक्रम की १५ वी शती
वन्धस्वामित्व-अवचूरि*		४२६	..
कर्मस्तव-विवरण	कमलसयम उपाध्याय	१५०	वि० स० १५५९
पट्कर्मग्रन्थ-वालाववोध*	जयसोम	१७०००	विक्रम की १७ वी शती
,, ,,	मतिचन्द्र	१२०००	
,, ,,	जीवविजय	१००००	वि० स० १८०३
६ मन स्थिरीकरण-प्रकरण	महेन्द्रसूरि	गा० १६७	वि० स० १२८४
,, स्वो० वृत्ति	,,	२३००	,,
७ सस्कृत कर्मग्रंथ (चार)	जयतिलकसूरि	५६९	विक्रम की १५ वी शती का आरम्भ
८ कर्मप्रकृतिद्वात्रिंशिका	....	गा० ३२	.

९. भावप्रकरण*	विजयविमलगणि	गा. ३०	वि. स १६२३
,, स्वो वृत्ति*	,,	३२५	,,
१० बन्धहेतूदयत्रिभङ्गी*	हर्षकुलगणि	गा. ६५	विक्रम की १६ वी शती
,, वृत्ति*	वानरर्षिगणि	११५०	वि स १६०२
११ बन्धोदयसत्ताप्रकरण*	विजयविमलगणि	गा. २४	विक्रम की १७ वी शती का प्रारम्भ
,, स्वो अवचूरि*	,,	३००	,,
१२ कर्मसंवेद्यभङ्गप्रकरण*	देवचन्द्र	४००	
१३ भूयस्कारादिविचार-प्रकरण	लक्ष्मीविजय	गा ६०	विक्रम की १७ वी शती
१४ सक्रमकरण*	प्रेमविजयगणि		वि. स. १९८५

प्रस्तुत सूची मे निर्दिष्ट कर्मसाहित्य का ग्रन्थमान लगभग सात लाख श्लोक है। इसमे से केवल दिगम्बरीय कर्मसाहित्य का प्रमाण लगभग पाँच लाख श्लोक है। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृत जोकि दिगम्बर सम्प्रदाय के आगम-ग्रन्थ है और जिनसे सम्बन्धित टीकाएँ भी आगमिक साहित्य के अन्तर्गत ही गिनी जाती है, दिगम्बरीय साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अश है। इस साहित्य पर तत्सम्बन्धी पिछले प्रकरणो मे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है अत प्रस्तुत प्रकरण मे शेष दिगम्बरीय कर्मसाहित्य का ही परिचय प्रस्तुत किया जाएगा।

ग्रन्थ-बाहुल्य को दृष्टि मे रखते हुए पहले श्वेताम्बराचार्यकृत कर्मसाहित्य के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का परिचय देना अनुचित न होगा। श्वेताम्बरीय कर्म-साहित्य का प्राचीनतम स्वतन्त्र ग्रन्थ शिवशर्मसूरिकृत कर्मप्रकृति है। यहाँ सर्व-प्रथम इसी का परिचय दिया जाता है।

शिवशर्मसूरिकृत कर्मप्रकृति :

कर्मप्रकृति[1] के प्रणेता शिवशर्मसूरि[2] का समय अनुमानत विक्रम की पाँचवी शताब्दी माना जाता है। कदाचित् ये आगमोद्धारक देवर्द्धिगणिक्षमा-

---

१ (अ) मलयगिरि एव यशोविजयविहित वृत्तियो सहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन १९१७

(आ) मलयगिरिकृत वृत्तिसहित—देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१२

श्रमण के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन रहे हो। सम्भवत ये दशपूर्वधर भी हो। इन सब सम्भावनाओ पर निश्चित प्रकाश डालने वाली प्रामाणिक सामग्री का हमारे पास अभाव है। इतना निश्चित है कि शिवशर्मसूरि एक प्रतिभासम्पन्न एव बहुश्रुत विद्वान् थे। उनका कर्मविषयक ज्ञान बहुत गहरा था। कर्मप्रकृति के अतिरिक्त शतक (प्राचीन पचम कर्मग्रन्थ) भी शिवशर्मसूरि की ही कृति मानी जाती है। एक मान्यता ऐसी भी है कि सप्ततिका (प्राचीन षष्ठ कर्मग्रन्थ) भी इन्ही की कृति है। दूसरी मान्यता के अनुसार सप्ततिका चन्द्रर्षिमहत्तर की कृति कही जाती है।

कर्मप्रकृति मे ४७५ गाथाएँ हैं। ये अग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के आधार पर सकलित की गई है। इस ग्रन्थ मे आचार्य ने कर्मसम्बन्धी बन्धनकरण, सक्रमकरण, उद्वर्तनाकरण, अपवर्तनाकरण, उदीरणाकरण, उपशमनाकरण, निधत्तिकरण और निकाचनाकरण इन आठ करणो एवं उदय और सत्ता इन दो अवस्थाओ का वर्णन किया है। करण का अर्थ है आत्मा का परिणामविशेष अथवा वीर्यविशेष।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे आचार्य ने मगलाचरण के रूप में भगवान् महावीर को नमस्कार किया है एव कर्माष्टक के आठ करण, उदय और सत्ता इन दस विषयो का वर्णन करने का सकल्प किया है .

सिद्ध सिद्धत्थसुय वदिय निद्धोयसव्वकम्ममल।
कम्मट्ठगस्स करणट्ठमुदयसंताणि वोच्छामि ॥ १ ॥

द्वितीय गाथा में आठ करण के नाम बताये गये हैं जो इस प्रकार है

(ङ) चूर्णि तथा मलयगिरि एव यशोविजयविहित वृत्तियो सहित—मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर, खूबचच पानाचद, डभोई (गुजरात), सन् १९३७

(ई) प० चदुलाल नानचद्रकृत गुज. अनु सहित—माणेकलाल चुनीलाल, राजनगर (अहमदाबाद माण्डवी पोलान्तर्गत नागजीभूधर की पोल), सन् १९३८.

२. यशोविजय की वृत्ति में उल्लिखित, पृ० २.

१. बन्धन, २. सक्रमण, ३. उद्वर्तना, ४ अपवर्तना, ५. उदीरणा, ६. उपशमना, ७. निधत्ति और ८. निकाचना। गाथा इस प्रकार है

> बंधण सकमणुव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया।
> उवसामणा निहत्ती निकायणा च त्ति करणाइ ॥ २ ॥

१ बन्धनकरण—करण का अर्थ वीर्यविशेष होता है इस बात को दृष्टि में रखते हुए ग्रन्थकार ने आगे की गाथा में वीर्य का स्वरूप बताया है। वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय (क्षयोपशम) अथवा सर्वक्षय से वीर्यलब्धि उत्पन्न होती है। उससे उत्पन्न होने वाला सलेश्य (लेश्यायुक्त) प्राणी का वीर्य (शक्ति) अभिसंधिज अर्थात् बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिवाला अथवा अनभिसंधिज अर्थात् अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिवाला होता है। वीर्य की हीनाधिकता का विचार करते हुए आचार्य ने योग अर्थात् प्रवृत्ति का निम्नलिखित दस द्वारो से वर्णन किया है १. अविभाग, २. वर्गणा, ३. स्पर्धक, ४ अन्तर, ५. स्थान, ६. अनन्तरोपनिधा, ७. परम्परोपनिधा, ८. वृद्धि, ९ समय और १०. जीवाल्पबहुत्व।[1]

योग का प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार कहते है कि योग से प्राणी शरीरादि के योग्य पुद्गलो को ग्रहण कर औदारिकादि पाँच प्रकार के शरीर के रूप मे परिणत करता है। इसी प्रकार योग से भाषा, श्वासोच्छ्वास तथा मनोरूप पुद्गलो का भी ग्रहण करता है एव उन्हें तद्रूप से परिणत करता हुआ उनका विसर्जन करता है।[2] परमाणुवर्गणा, सख्यातप्रदेशी वर्गणा, असख्यातप्रदेशी वर्गणा और अनन्तप्रदेशी वर्गणा ये सब वर्गणाएँ (पुद्गल-परमाणुओ की श्रेणियाँ अथवा दलविशेष) अग्रहणीय है। इनके बाद की अभव्यो के अनन्तगुण अथवा सिद्धो के अनन्तभाग जितने प्रदेश वाली पुद्गल-वर्गणाएँ त्रितनु अर्थात् तीन शरीररूप से ग्रहण करने योग्य हैं। तदुपरान्त अग्रहणान्तरित तजस, भाषा, मन और कर्मरूप से ग्रहण करने योग्य वर्गणाएँ है। तदुपरान्त ध्रुवाचित्त और अध्रुवाचित्त वर्गणाएँ है। इनके बाद बीच-बीच में चार शून्य वर्गणाएँ है और प्रत्येक शून्यवर्गणा के ऊपर प्रत्येकशरीर-वर्गणा, बादरनिगोद-वर्गणा, सूक्ष्मनिगोद-वर्गणा तथा अचित्तमहास्कन्ध-वर्गणा है। ये वर्गणाएँ गुणनिष्पन्न स्वनामयुक्त है अर्थात् नाम के अनुसार अर्थवाली है एव अगुल के असख्यातवें भाग के

---

१ गा ५–१६   २ गा. १७

बराबर अवगाहना वाली है।[1] एक जीवप्रदेशावगाही अर्थात् जीव के एक प्रदेश मे रहे हुए एक गहणयोग्य द्रव्य अर्थात् पुद्गल-परमाणु को भी जीव अपने सब प्रदेशो से ग्रहण करता है। इसी प्रकार सर्व जीवप्रदेशो मे अवगाहित ग्रहणयोग्य सर्व पुद्गल-स्कन्धो को भी जीव अपने समस्त प्रदेशो से ग्रहण करता है।[2] यहाँ तक योग का अधिकार है।

पुद्गलद्रव्यो का परस्पर सम्बन्ध स्नेह अर्थात् स्निग्धस्पर्श और रूक्षस्पर्श से होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे तीन प्रकार की स्नेह-प्ररूपणा की गई है १ स्नेह-प्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा, २ नामप्रत्ययस्नेहस्पर्धक प्ररूपणा और ३ योगप्रत्यय-स्नेहस्पर्धक प्ररूपणा। स्नेहप्रत्ययस्पर्धक एक है। उसमे स्नेहाविभाग वर्गणाएँ अनन्त है। इसमे अल्प स्नेहवाले पुद्गल अधिक और अधिक-अधिक स्नेहवाले पुद्गल अल्प-अल्प होते है। स्नेहप्रत्ययस्पर्धक की ही भाँति नामप्रत्यय एव योग-प्रत्ययस्नेहस्पर्धक मे भी अविभाग वर्गणाएँ अनन्त है।[3]

कर्म की मूलप्रकृतियो और उत्तरप्रकृतियो का भेद अनुभागविशेष अर्थात् रसविशेष से होता है। अनुभागविशेष का कारण स्वभावभेद है। अविशेषित रसप्रकृतिवाला वन्ध प्रकृतिवन्ध कहलाता है।[4] मूलप्रकृति के कर्मप्रदेश उत्तर-प्रकृतियो मे किस प्रकार विभक्त होते है, इसका सक्षेप मे वर्णन करने के बाद आचार्य ने प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध की चर्चा समाप्त की है।[5] तदनन्तर अनुभागवन्ध (रसवन्ध) और स्थितिवन्ध का वर्णन किया गया है।

जीव जिन कर्मस्कन्धो को ग्रहण करता है उनमे एक सरीखा रस उत्पन्न नही करता अपितु भिन्न-भिन्न प्रकार का रस उत्पन्न करता है। इसी का नाम अनुभागवन्ध है। रसविभाग की विषमता का कारण राग-द्वेष की न्यूनाधिकता है। सबसे अल्प रसविभाग वाले कर्मप्रदेश प्रथम वर्गणा—जघन्य रसवर्गणा के अन्तर्गत समाविष्ट होते है। ये वर्गणाएँ एक-एक रसविभाग से क्रमश बढती

---

१ परमाणुसखऽसखाणतपएसा अभव्वणतगुणा।
सिद्धाणणतभागो आहारगवग्गणा तितणू॥ १८॥
अग्गहणतरियाओ तेयगभासामणे य कम्मे य।
धुवअधुवअच्चित्ता सुन्नाचउअतरेसुप्पि॥ १९॥
पत्तेयगतणुसुबायरसुहुमनिगोए तहा महाखधे।
गुणनिप्फन्नसनामा असखभागगुलवगाहो॥ २०॥

२ गा. २१ ३ गा. २२–३ ४. गा २४ ५. गा. २५–८.

देता है। सक्रम के विषय में कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरण के लिए तीन प्रकार के दर्शनमोहनीय का सक्रम बध के बिना भी होता है। दर्शनमोहनीय मे चारित्र-मोहनीय का सक्रम नही होता और चारित्रमोहनीय मे दर्शनमोहनीय का सक्रम नही होता। आयु की चार प्रकृतियो का एक-दूसरे मे सक्रमण नही होता। आठ मूलप्रकृतियो मे भी परस्पर सक्रम नही होता। सक्रमावलिका, बधावलिका, उदयावलिका, उद्वर्तनावलिका आदि में प्राप्त कर्मदलिक सक्रमण के योग्य नही होते।[1] जिस दर्शनमोहनीय का उदय हो उस दर्शनमोहनीय का किसी में सक्रमण नही होता। सास्वादनी और मिश्रदृष्टि जीव किसी भी दर्शनमोहनीय का किसी मे भी सक्रमण नही कर सकता।

स्थितिसक्रम का भेद, विशेष लक्षण, उत्कृष्ट स्थितिसक्रम-प्रमाण, जघन्य स्थितिसक्रम-प्रमाण, साद्यादि-प्ररूपणा और स्वामित्व-प्ररूपणा इन छ अधिकारो के साथ विचार किया गया है।[2]

अनुभागसक्रम (रससक्रम) का भेद, स्पर्धक, विशेष लक्षण, उत्कृष्ट अनु-भागसक्रम, जघन्य अनुभागसक्रम, सादि-अनादि और स्वामित्व इन सात दृष्टियो से व्याख्यान किया गया है।[3]

प्रदेशसक्रम के पाँच द्वार हैं सामान्य लक्षण, भेद, साद्यादि प्ररूपणा, उत्कृष्ट प्रदेशसक्रम और जघन्य प्रदेशसक्रम। प्रस्तुत प्रकरण मे इन्ही पाँच द्वारो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।[4] यहाँ तक सक्रमकरण का अधिकार है। इस प्रकरण की कुछ गाथाएँ (क्रमाक १० से २२) कषायप्राभृत की गाथाओ (क्रमाक २७ से ३९) मे मिलती-जुलती है।

३-४ उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण—उद्वर्तना और अपवर्तना अर्थात् वृद्धि और हानि स्थिति और रस की होती है, प्रकृति और प्रदेश की नही। विवक्षित स्थिति अथवा रस वाले कर्मप्रदेशो की स्थिति अथवा रस मे वृद्धि-हानि करना उद्वर्तना-अपवर्तना कहलाता है। प्रस्तुत प्रकरण मे कर्मस्थिति एव कर्मरस की उद्वर्तना व अपवर्तना का विचार किया गया है। उद्वर्तना दो प्रकार की होती है निर्व्याघाती और व्याघाती। अपवर्तना भी निर्व्याघात और व्याघात के भेद से दो प्रकार की है।[5]

---

१ गा १–३ २ गा. २८–४३ ३ गा ४४–५९.
४ गा ६०–१११ ५ गा. १–१०.

५ उदीरणाकरण—उदीरणा का अर्थ है योगविशेष से कर्मप्रदेशो को उदय मे लाना। इसका आचार्य ने लक्षण, भेद, साद्यादि, स्वामित्व, प्रकृतिस्थान और प्रकृतिस्थान-स्वामी इन छ द्वारो से विवेचन किया है। उदीरणा के विविध दृष्टियो से दो, चार, आठ एव एक सौ अठावन भेद किये गये है। इनमे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार भेदो को प्रधानता दी गई है।[1]

६ उपशमनाकरण—इस प्रकरण मे ग्रन्थकार ने कर्मों की उपशमना अर्थात् उपशान्ति का विचार किया है। उपशम की स्थिति मे कर्म थोडे समय के लिए दबे रहते है, नष्ट नही होते। उपशमनाकरण के निम्नोक्त आठ द्वार है १ सम्यक्त्व की उत्पत्ति, २. देशविरति की प्राप्ति, ३ सर्वविरति की प्राप्ति, ४ अनन्तानुबन्धी कषाय की वियोजना—विनाश, ५ दर्शनमोहनीय की क्षपणा, ६ दर्शनमोहनीय की उपशमना, ७. चारित्रमोहनीय की उपशमना, ८ देशोपशमना।[2] प्रस्तुत प्रकरण आध्यात्मिक विकास की विविध भूमिकाओ—गुणस्थानो की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। उपशमनाकरण की चार गाथाएँ (क्रमाक २३ से २६) कषायप्राभृत की चार गाथाओ (क्रमाक १००, १०३, १०४, १०५) से मिलती-जुलती है।

७–८ निधत्तिकरण और निकाचनाकरण—भेद और स्वामी की दृष्टि से निधत्तिकरण और निकाचनाकरण देशोपशमना (आंशिक उपशमना) के तुल्य है। इनमे भेद यह है कि निधत्ति मे सक्रमकरण नही होता जबकि निकाचना मे सक्रम के साथ ही साथ उद्वर्तना एव अपवर्तना की भी प्रवृत्ति नही होती

देसोवसमणतुल्ला होइ निहत्ती निकाइया नवर।
सकमण पि निहत्तीइ नत्थि सेसाणवियरस्स ॥ १ ॥

९ उदयावस्था—उदय और उदीरणा सामान्यतया समान है किन्तु ज्ञानावरणादि ४१ प्रकृतियो की दृष्टि से इन दोनो मे कुछ विशेषता है। ये प्रकृतियाँ इस प्रकार है ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, १ सज्वलनलोभ, ३ वेद, २ सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि, ४ आयु, २ वेदनाएँ, ५ निद्राएँ, १० नामकर्म की प्रकृतियाँ—मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और तीर्थंकर। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की दृष्टि से भी दोनो मे कुछ अन्तर है।[3]

---

१. गा० १–८९ २ गा० १–७१. ३. गा० १–३२.

१० सत्तावस्था—सत्ता का भेद, साद्यादि और स्वामी इन तीन दृष्टियों से विचार किया गया है। सत्ता का अर्थ है कर्मों का निधि के रूप मे पडे रहना। सत्ता विवक्षाभेद से दो, आठ एव एक सौ अठावन प्रकार की होती है। आचार्य ने विविध गुणस्थानो की दृष्टि से सत्ता मे स्थित कर्मप्रकृतियों का विशद विवेचन किया है। नारक और देवो की दृष्टि से भी सत्ता का निरूपण किया गया है।[1]

उपसहार के रूप मे ग्रथकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ के ज्ञान का विशिष्ट फल बताया है। यह फल अष्टकर्म की निर्जरा से प्राप्त होने वाले अलौकिक सुख के अतिरिक्त और कुछ नही है।[2] प्रस्तुत परिचय से स्पष्ट है कि कर्मप्रकृति जैन कर्मवाद-सम्मत कर्म की विविध अवस्थाओ का विवेचन करने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। इसकी निरूपण-शैली कुछ कठिन है। मलयगिरि आदि की टीकाएँ इसके अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए विशेष उपयोगी हैं।

कर्मप्रकृति की व्याख्याएँ :

कर्मप्रकृति की तीन व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमे से एक-प्राकृत चूर्णि है एव दो सस्कृत टीकाएँ। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। सम्भवत प्रस्तुत चूर्णि सुप्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर[3] की ही कृति हो। इस विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। सस्कृत टीकाओ मे एक सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरिकृत[4] वृत्ति है एव दूसरी न्यायाचार्य यशोविजयगणि-विरचित टीका। यशोविजयगणि का समय विक्रम की अठारहवी शताब्दी है। इनके गुरुतत्त्वविनिश्चय, उपदेशरहस्य, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि अनेक मौलिक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। इन तीनो व्याख्याओ में से चूर्णि का ग्रन्थमान सात हजार श्लोकप्रमाण, मलयगिरिकृत वृत्ति का ग्रन्थमान आठ हजार श्लोकप्रमाण एवं यशोविजयविहित टीका का ग्रन्थमान तेरह हजार श्लोकप्रमाण है।

चूर्णि—चूर्णि के प्रारम्भ में निम्न मगल-गाथा है

---

१ गा० १–४९ २ गा० ५५

३ जिनदासगणि महत्तर का परिचय आगमिक चूर्णियो से सम्बन्धित प्रकरण में दिया जा चुका है। देखिए—इसी इतिहास का भा० ३, पृ० २९०–२९३

४. मलयगिरि का परिचय आगमिक टीकाओ से सम्बन्धित प्रकरण मे दिया जा चुका है। देखिए—भा० ३, पृ० ४१५–४१८

जयइ जगहितदमवितहममियगभीरत्थमणुपम णिउण ।
जिणवयणमजियममियं भव्वजणसुहावहं जयइ ॥ १ ॥

अन्त मे 'जस्स वरसासणा' ··· ' गाथा का व्याख्यान किया गया है ।

मलयगिरिविहित वृत्ति—इस वृत्ति के प्रारम्भ मे आचार्य ने अरिष्टनेमि को प्रणाम किया है एव चूर्णिकार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है '

प्रणम्य कर्मद्रुमचक्रनेमिं, नमत्सुराधीशमरिष्टनेमिम् ।
कर्मप्रकृत्याः कियता पदाना, सुखावबोधाय करोमि टीकाम् ॥ १ ॥
अयं गुणश्चूर्णिकृत समग्रो, यदस्मदादिर्वदतीह किञ्चित् ।
उपाधिसम्पर्कवशाद्विशेषो, लोकेऽपि दृष्टः स्फटिकोपलस्य ॥ २ ॥

अन्त मे वृत्तिकार ने कर्मप्रकृति के मूल आधार का निर्देश करते हुए जैन सिद्धान्त एव चूर्णिकार को नमस्कार किया है एव प्रस्तुत वृत्ति से प्राप्त फल को लोककल्याण के लिए समर्पित किया है

कर्मप्रपञ्च जगतोऽनुबन्धक्लेशावह वीक्ष्य कृपापरीतः ।
क्षयाय तस्योपदिदेश रत्नत्रय स जीयाज्जिनवर्धमानः ॥ १ ॥
निरस्तकुमतध्वान्त सत्पदार्थप्रकाशकम् ।
नित्योदयं नमस्कुर्मो जैनसिद्धान्तभास्करम् ॥ २ ॥
पूर्वान्तर्गतकर्मप्रकृतिप्राभृतसमुद्धृता येन ।
कर्मप्रकृतिरियमतः श्रुतकेवलिगम्यभावार्था ॥ ३ ॥
तत. क्व चैषा विषमार्थयुक्ता,
क्व चाल्पशास्त्रार्थकृतश्रमोऽहम् ।
तथापि सम्यग्गुरुसम्प्रदायात्,
किञ्चित्स्फुटार्था विवृता मयैषा ॥ ४ ॥
कर्मप्रकृतिनिधान बह्वर्थं येन मादृशा योग्यम् ।
चक्रे परोपकृतये श्रीचूर्णिकृते नमस्तस्मै ॥ ५ ॥
एनामतिगभीरा कर्मप्रकृतिं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धिं तेनाश्नुता लोक ॥ ६ ॥
अर्हन्तो मङ्गल मे स्युः सिद्धाश्च मम मङ्गलम् ।
मङ्गल साधव· सम्यग् जैनो धर्मश्च मङ्गलम् ॥ ७ ॥

यशोविजयकृत टीका—इस टीका के प्रारम्भ मे आचार्य ने पार्श्वनाथ को प्रणाम किया है एव चूर्णिकार तथा मलयगिरि का उपकार मानते हुए प्रस्तुत टीका के निर्माण का सकल्प किया है

ऐन्द्रो समृद्धियंदुपास्तिलभ्या, त पार्श्वनाथ प्रणिपत्य भक्त्या ।
व्याख्यातुमीहे सुगुरुप्रसादमासाद्य कर्मप्रकृतिगभीराम् ॥ १ ॥

मलयगिरिगिरा या व्यक्तिरत्रास्ति तस्या',
किमधिकमिति भक्तिमेंऽधिगन्तु न दत्ते ।
वद वदन पवित्रीभावमुद्भाव्य भाव्य,
श्रम इह सफलस्ते नित्यमित्येव वक्ति ॥ २ ॥

इह चूर्णिकृदध्वदर्शकोऽभून्मलयगिरिर्व्यतनोदकण्टक तम् ।
इति तत्र पदप्रचारमात्रात्, पथिकस्येव ममास्त्वभीष्टसिद्धि ॥ ३ ॥

इसके बाद टीकाकार ने कर्मप्रकृतिकार के रूप मे शिवशर्मसूरि का नामोल्लेख किया है। उपर्युक्त चूर्णिकार तथा वृत्तिकार मलयगिरि ने कर्म-प्रकृतिकार के नाम का कोई उल्लेख नही किया है। टीकाकार यशोविजयगणि ने शिवशर्मसूरि का नामोल्लेख इस प्रकार किया है इह हि भगवान् शिव-शर्मसूरि कर्मप्रकृत्याख्य प्रकरणमारिप्सुर्ग्रन्थादौ विघ्नविघाताय शिष्टाचारपरिपालनाय च मङ्गलमाचरन् प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽभिधेयप्रयोजनादि प्रतिपादयति ।

अन्त मे टीकाकार ने ग्रन्थरचना के समय एव अपनी गुरुपरम्परा के आचार्यों का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत टीका समाप्त की है

ज्ञात्वा कर्मप्रपञ्च निखिलतनुभृता दु खसन्दोहबीज,
तद्विध्वसाय रत्नत्रयमयसमयं यो हितार्थी दिदेश ।
अन्त सक्रान्तविश्वव्यतिकरविलसत्कैवलैकात्मदर्श,
स श्रीमान् विश्वरूप प्रतिहतकुमतः पातु वो वर्द्धमान. ॥ १ ॥

सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरो पट्टाम्बराहर्मणौ,
सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासने भेजुषि ।
सूरिश्रीविजयप्रभे श्रितवति प्राज्य च राज्य कृतो,
ग्रन्थोऽय वितनोतु कोविदकुले मोद विनोद तथा ॥ २ ॥

सूरिश्रीगुरुहीरशिष्यपरिषत्कोटीरहीरप्रभा,
कल्याणाद्विजयाभिधा समभवँस्तेजस्विनो वाचका' ।
तेषामन्तिषदश्च लाभविजयप्राज्ञोत्तमाः शाब्दिक-
श्रेणिकीर्त्तितकार्तिकीविधुरुचिप्रस्पर्द्धिकीर्त्तिप्रथा. ॥ ३ ॥

तच्छिष्या स्म भवन्ति जीतविजया. सौभाग्यभाजो बुधाः,
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयास्तेषा सतर्थ्याबुधाः।
तत्पादाम्बुजभृङ्गपद्मविजयप्राज्ञानुजन्मा बुध-
स्तत्त्व किञ्चिदिद यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान्॥ ४॥

इद हि शास्त्र श्रुतकेवलिस्फुटाधिगम्यपूर्वोद्धृतभावपावनम्।
ममेह धीर्वामनयष्टिवद्ययौ तथापि शक्त्यैव विभोरियद्भुवम्॥ ५॥

प्राक्तनार्थलिखनाद्वितन्वतो नेह कश्चिदधिको मम श्रम।
वीतरागवचनानुरागत पुष्टमेव सुकृत तथाप्यत॥ ६॥

चन्द्रर्षिमहत्तरकृत पंचसग्रह

पंचसग्रह[1] आचार्य चन्द्रर्षिमहत्तरविरचित कर्मवाद विषयक एक महान् ग्रन्थ है। इसमे शतक आदि पाँच ग्रन्थो का पाँच द्वारो मे सक्षेप मे समावेश किया गया है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ मे योगोपयोगमार्गणा आदि पाँच द्वारो के नाम दिये है। इन द्वारो के आधारभूत शतक आदि पाँच ग्रन्थ कौन-से हैं, इसका मूल ग्रन्थ अथवा स्वोपज्ञ वृत्ति मे कोई स्पष्टीकरण नही है। आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की अपनी टीका मे स्पष्ट उल्लेख किया है कि इसमें ग्रन्थकार ने शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थो का समावेश किया है। इन पाँच ग्रन्थो मे से कषायप्राभृत के सिवाय शेष चार ग्रन्थो का आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका मे प्रमाणरूप से उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि मलयगिरि के समय मे कषायप्राभृत को छोड कर शेष चार ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे। इन चार ग्रन्थो मे से सत्कर्म आज अनुपलब्ध

---

१ (अ) स्वोपज्ञ वृत्तिसहित—आगमोदयसमिति, बम्बई, सन् १९२७
(आ) मलयगिरिकृत वृत्तिसहित—हीरालाल हसराज, जामनगर, सन् १९०९
(इ) मूल—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९१९.
(ई) स्वोपज्ञ एव मलयगिरिकृत वृत्तिसहित—मुक्ताबाई ज्ञानमदिर, खूबचद पानाचद, डभोई (गुजरात), सन् १९३७-३८.
(उ) मलयगिरिकृत वृत्ति के हीरालाल देवचदकृत गुज० अनु० सहित—जैन सोसायटी, १५, अहमदाबाद, प्रथम खड, सन् १९३५, द्वितीय खड, सन् १९४१.

है। शेष तीन ग्रन्थ अर्थात् शतक, सप्ततिका एवं कर्मप्रकृति इस समय भी उपलब्ध है।

पचसग्रहकार आचार्य चंद्रर्षिमहत्तर के समय, गच्छ आदि का किसी प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नही है। इनकी स्वोपज्ञ वृत्ति के अन्त मे केवल इतना-सा उल्लेख है कि ये पार्श्वर्षि के शिष्य हैं। इसी प्रकार इनके महत्तर-पद के विषय में भी इनकी स्वोपज्ञ वृत्ति में किसी प्रकार का उल्लेख नही है। आचार्य मलय-गिरि ने भी इन्हें 'मया चन्द्रर्षिनाम्ना साधुना' ऐसा कहते हुए महत्तर-पद से विभूषित नही किया है। सामान्य प्रचलित उल्लेखो के आधार पर ही इन्हे यहाँ महत्तर कहा गया है।

आचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर के समय के विषय में यही कहा जा सकता है कि गर्गर्षि, सिद्धर्षि, पार्श्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि ऋषिशब्दान्त नाम विशेषकर नवी-दसवी शती मे अधिक प्रचलित थे अत पचसग्रहकार चन्द्रर्षिमहत्तर भी सम्भवत विक्रम की नवी-दसवी शताब्दी में विद्यमान रहे हो। पचसग्रह और उसकी स्वोपज्ञ टीका के सिवाय चन्द्रर्षिमहत्तर की कोई अन्य कृति उपलब्ध नही हुई है।

पचसग्रह में लगभग एक हजार गाथाएँ हैं जिनमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बधनादि आठ करण एव इसी प्रकार के अन्य विषयो का विवेचन किया गया है। प्रारम्भ में आठ कर्मों का नाश करने वाले वीर जिनेश्वर को नमस्कार किया गया है तथा महान् अर्थ वाले पचसग्रह नामक ग्रन्थ की रचना का सकल्प किया गया है

नमिऊण जिणं वीर सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवग।
वोच्छामि पंचसंगहमेयमहत्थं जहत्थ च॥ १॥

इसके बाद ग्रन्थकार ने 'पचसग्रह' नाम की दो प्रकार से सार्थकता बताते हुए लिखा है कि चूँकि इसमें शतकादि पाँच ग्रन्थो को सक्षेप मे समाविष्ट किया गया है अथवा पाँच द्वारो का सक्षिप्त परिचय दिया गया है अत इसका पंचसग्रह नाम सार्थक है

सयगाइ पच गथा जहारिह जेण एत्थ सखित्ता।
दाराणि पच अहवा तेण जहत्थाभिहाणमिण॥ २॥

इस ग्रन्थ में निम्नोक्त पांच द्वारो का परिचय है १ योगोपयोग-मार्गणा, २ बधक, ३ बधव्य, ४ बधहेतु, ५ बधविधि। एतद्विषयक गाथा निम्न-लिखित है .

एत्थ य जोगुवयोगाणमग्गणा बंधगा य वत्तव्वा।
तह बधियव्व य बंधहेयवो बधविहिणो य॥ ३॥

ग्रन्थ के अन्त में निम्न गाथा है :

सुयदेविपसायाओ पगरणमेय समासओ भणिय।
समयाओ चंदरिसिणा समइविभवाणुसारेण॥

अर्थात् श्रुतदेवी की कृपा से चन्द्रर्षि ने अपनी बुद्धि के वैभव के अनुसार सिद्धान्त मे से यह प्रकरण सक्षेप में कहा है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में अपना नाम-निर्देश किया है।

पंचसंग्रह की व्याख्याएँ :

पचसग्रह की दो महत्त्वपूर्ण टीकाएँ प्रकाशित है स्वोपज्ञ वृत्ति एवं मलय-गिरिकृत टीका। स्वोपज्ञ वृत्ति नौ हजार श्लोकप्रमाण तथा मलयगिरिकृत टीका अठारह हजार श्लोकप्रमाण है।

स्वोपज्ञ वृत्ति के अन्त में आचार्य ने अपने को पार्श्वर्षि का पादसेवक अर्थात् शिष्य बताया है :

माधुर्यस्थैर्ययुक्तस्य दारिद्र्याद्रिमहास्वरोः।
पार्श्वर्षे पादसेवातः कृत शास्त्रमिद मया॥ ५॥

मलयगिरिकृत टीका का अन्त इस प्रकार है :

जयति सकलकर्मक्लेशसंपर्कमुक्त-
स्फुरितविततविमलज्ञानसंभारलक्ष्मीः।
प्रतिनिहतकुतीर्थाशेषमार्गप्रवाद',
शिवपदमधिरूढो वर्धमानो जिनेन्द्र॥ १॥
गणधरदृब्ध जिनभाषितार्थमखिलगमभङ्गनयकलितम्।
परतीर्थानुमतमादृतिमभिगन्तु शासन जैनम्॥ २॥
बह्वर्थमल्पशब्द प्रकरणमेतद्विवृण्वतामखिलम्।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धि तेनाश्नुता लोकः॥ ३॥
अर्हन्तो मगल सिद्धा मंगल मम साधवः।
मगल मगल धर्मस्तन्मगलमशिश्रियम्॥ ४॥

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ

देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थ नव्य कर्मग्रन्थो के रूप मे प्रसिद्ध है जबकि तदा-धारभूत पुराने कर्मग्रन्थ प्राचीन कर्मग्रन्थ कहे जाते है। इस प्रकार के प्राचीन

कर्मग्रन्थों[1] की संख्या छः है। ये शिवशर्मसूरि आदि भिन्न-भिन्न आचार्यों की कृतियाँ हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं : १ कर्मविपाक, २ कर्मस्तव, ३ बन्धस्वामित्व, ४, षडशीति, ५ शतक, ६ सप्ततिका।

कर्मविपाक के कर्ता गर्गर्षि हैं। ये सम्भवतः विक्रम की दसवीं सदी में विद्यमान थे। कर्मविपाक पर तीन टीकाएँ हैं : परमानन्दसूरिकृत वृत्ति, उदयप्रभसूरिकृत टिप्पन और एक अज्ञातकर्तृक व्याख्या। ये तीनों टीकाएँ विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं सदी की रचनाएँ हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

कर्मस्तव के कर्ता अज्ञात हैं। इस पर दो भाष्य तथा दो टीकाएँ हैं। भाष्यकारों के नाम अज्ञात हैं। दो टीकाओं में से एक गोविन्दाचार्यकृत वृत्ति है। दूसरी टीका उदयप्रभसूरिकृत टिप्पन के रूप में है। इन दोनों का रचनाकाल सम्भवतः विक्रम की तेरहवीं सदी है। कर्मस्तव का नाम बन्धोदयसद्युक्तस्तव भी है।

बन्धस्वामित्व के कर्ता भी अज्ञात हैं। इस पर एक हरिभद्रसूरिकृत वृत्ति है। यह वृत्ति वि० सं० ११७२ में लिखी गई।

षडशीति अथवा आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरण जिनवल्लभगणि की कृति है। इसकी रचना विक्रम की बारहवीं सदी में हुई। इस पर दो अज्ञातकर्तृक भाष्य तथा अनेक टीकाएँ हैं। टीकाकारों में हरिभद्रसूरि व मलयगिरि मुख्य हैं।

शतक अथवा बन्धशतक प्रकरण के कर्ता शिवशर्मसूरि हैं। इसपर तीन भाष्य, एक चूर्णि व तीन टीकाएँ हैं। तीन भाष्यों में से दो लघुभाष्य हैं जो अज्ञातकर्तृक हैं। बृहद्भाष्य के कर्ता चक्रेश्वरसूरि हैं। यह भाष्य विक्रम सं० ११७९ में लिखा गया। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। तीन टीकाओं में से एक के कर्ता मलधारी

---

१ प्रथम चार कर्मग्रन्थ सटीक—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७२

पंचम कर्मग्रन्थ सटीक—

(अ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९४०

(आ) वीरसमाज ग्रन्थरत्नमाला, अहमदाबाद, सन् १९२२ व १९२३

षष्ठ कर्मग्रन्थ सटीक—

(अ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९१९

(आ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९४०

हेमचन्द्र (विक्रम की १२ वी सदी), दूसरी के उदयप्रभसूरि (सम्भवत विक्रम की १३ वी सदी) तथा तीसरी के गुणरत्नसूरि (विक्रम की १५ वी सदी) है।

सप्ततिका के कर्ता के विषय मे निश्चितरूप से कुछ नही कहा जा सकता। सामान्य प्रचलित मान्यता के अनुसार चन्द्रर्षिमहत्तर इसके कर्ता कहे जाते हैं। ऐसी भी सम्भावना है कि शिवशर्मसूरि ही इसके कर्ता हो। इस पर अभयदेवसूरिकृत भाष्य, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, चन्द्रर्षिमहत्तरकृत प्राकृत वृत्ति, मलयगिरिकृत टीका, मेरुतुगसूरिकृत भाष्यवृत्ति, रामदेवकृत टिप्पन व गुणरत्नसूरिकृत अवचूरि हैं।

इन छ कर्मग्रन्थो मे से प्रथम पाँच मे उन्ही विषयो का प्रतिपादन है जो देवेन्द्रसूरिकृत पाँच नव्य कर्मग्रन्थो मे साररूप से है। सप्ततिकारूप षष्ठ कर्मग्रन्थ मे निम्न विषयो का विवेचन है

बन्ध, उदय, सत्ता व प्रकृतिस्थान, ज्ञानावरणीय आदि कर्मो की उत्तरप्रकृतियाँ एव बन्धादिस्थान, आठ कर्मों के उदीरणास्थान, गुणस्थान एव प्रकृतिबन्ध, गतियाँ एव प्रकृतियाँ, उपशमश्रेणि व क्षपकश्रेणि तथा क्षपकश्रेणि-आरोहण का अन्तिम फल।

जिनवल्लभकृत सार्धशतक :

अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभगणि (विक्रम की १२ वी सदी) की कर्मविषयक यह कृति[1] १५५ गाथाओ मे हैं। इस पर अज्ञातकर्तृक भाष्य, मुनिचन्द्रसूरिकृत चूर्णि (वि० स० ११७०), चक्रेश्वरसूरिकृत प्राकृत वृत्ति, धनेश्वरसूरिकृत टीका (वि० स० ११७१) एव अज्ञातकर्तृक वृत्ति-टिप्पन है।

देवेन्द्रसूरिकृत नव्य कर्मग्रन्थ

स्वोपज्ञवृत्तियुक्त पाँच नव्य कर्मग्रन्थो[2] की रचना करने वाले देवेन्द्रसूरि जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य थे। देवेन्द्रसूरि का स्वर्गवास वि० स० १३२७ मे हुआ

---

१ धनेश्वरसूरिकृत टीकासहित—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९१५

२ (क) प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ स्वोपज्ञविवरणोपेत तथा तृतीय अन्याचार्यविरचित अवचूरिसहित—
(अ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० स० १९६६–१९६८
(आ) मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बडौदा, वि० सं० २४४७

था। इन्होने सटीक पाँच कर्मग्रन्थो के अतिरिक्त श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति, सिद्धपचाशिकासूत्रवृत्ति, सुदर्शनाचरित्र, वन्दारुवृत्ति, सिद्धदण्डिका आदि ग्रन्थो की भी रचना की। ये प्राकृत एव सस्कृत के साथ-ही-साथ जैनसिद्धान्त एव दर्शनशास्त्र के भी पारगत विद्वान् थे।[1]

आचार्य देवेन्द्रसूरि ने जिन पाँच कर्मग्रन्थो की रचना की है उनका आधार शिवशर्मसूरि, चन्द्रर्पिमहत्तर आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा बनाये गये कर्मग्रन्थ है। देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थो मे केवल प्राचीन कर्मग्रन्थो का भावार्थ अथवा सार ही नही दिया है, अपितु नाम, विपय, वर्णनक्रम आदि बाते भी उसी रूप मे रखी है। कही-कही नवीन विपयो का भी समावेश किया है। प्राचीन पट् कर्मग्रन्थो मे से पाँच कर्मग्रन्थो के आधार पर आचार्य देवेन्द्रसूरि ने जिन पाँच कर्मगन्थो की रचना की है वे नव्य-कर्मग्रन्थ कहे जाते है। इन कर्मग्रन्थो के नाम भी वही है कमविपाक, कर्मस्तव, वन्ध-स्वामित्व, पडशीति और शतक। ये पाँचो कमग्रन्थ क्रमश प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पचम कर्मग्रन्थ के नाम से भी प्रसिद्ध है। उपर्युक्त पाँच नामो मे से भी प्रथम तीन नाम विपय को दृष्टि में रखते हुए रखे गये है, जवकि अन्तिम दो नाम गाथा सख्या को दृष्टि मे रखकर रखे गये है। इन कर्मग्रन्थो की भाषा भी प्राचीन कर्मग्रन्थो की ही भाँति प्राकृत ही है। जिस छन्द में इनकी रचना हुई है उसका नाम आर्या है।

कर्मविपाक—ग्रन्थकार ने प्रथम कर्मग्रन्थ के लिए आदि एव अन्त मे 'कर्मविपाक' (कम्मविवाग) नाम का प्रयोग किया है। कर्मविपाक का विपय सामान्यतया कर्मतत्त्व होते हुए भी इसमे कर्मसम्बन्धी अन्य बातो पर विशेष विचार न किया जाकर उसके प्रकृति-धर्म पर ही प्रधानतया विचार किया गया है। दूसरे शब्दो में प्रस्तुत कर्मग्रन्थ मे कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियो के विपाक—परिपाक—फल का ही मुख्यतया वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से इसका 'कर्मविपाक' नाम सार्थक है।

(इ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३४

(ख) स्वोपज्ञटीकासहित पचम कर्मग्रन्थ (सप्ततिका सटीकसहित)—

(अ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९१९

(आ) जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९४०

१ देखिए—मुनि चतुरविजयसम्पादित 'चत्वार कर्मग्रन्था', प्रस्तावना, पृ० १६-२० (जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३४).

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे आचार्य ने बताया है कि कर्मबन्ध सहेतुक अर्थात् सकारण है। इसके बाद कर्म के स्वरूप का परिचय देने के लिए ग्रन्थकार ने कर्म का चार दृष्टियो से विचार किया है प्रकृति, स्थिति, अनुभाग अथवा रस एव प्रदेश। प्रकृति के मुख्य आठ भेद है ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ मूल प्रकृतियो के विविध उत्तरभेद होते हैं जिनकी सख्या १५८ तक होती है। इन भेदो का स्वरूप बताने के लिए आचार्य ने प्रारम्भ मे ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पाँच भेदो का सक्षेप मे निरूपण करते हुए तदावरणभूत कर्म का सदृष्टान्त निरूपण किया है। दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेदो मे पाँच प्रकार की निद्राएँ भी समाविष्ट है, इसे बताते हुए आचार्य ने इन निद्राओ का सुन्दर वर्णन किया है। इसके बाद सुख और दु ख के जनक वेदनीय कर्म, श्रद्धा और चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीय कर्म, जीवन की मर्यादा के कारणभूत आयु कर्म, जाति आदि विविध अवस्थाओ के जनक नाम कर्म, उच्च और नीच गोत्र के हेतुभूत गोत्र कर्म एव प्राप्ति आदि मे बाधा पहुँचाने वाले अन्तराय कर्म का संक्षेप मे वर्णन किया है। अन्त मे प्रत्येक प्रकार के कर्म के कारण पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत कर्मग्रन्थ मे ६० गाथाएँ है।

कर्मस्तव—प्रस्तुत कर्मग्रन्थ मे कर्म की चार अवस्थाओ का विशेष विवेचन किया गया है। ये अवस्थाएँ हैं—बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता। इन अवस्थाओ के वर्णन मे गुणस्थान की दृष्टि प्रधान रखी गयी है। बन्धाधिकार मे आचार्य ने चौदह गुणस्थानो के क्रम को लेते हुए प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव की कर्मबन्ध की योग्यता-अयोग्यता का विचार किया है। इसी प्रकार उदयादि अवस्थाओ के विषय मे भी समझना चाहिए। गुणस्थान का अर्थ है आत्मा के विकास की विविध अवस्थाएँ। इन अवस्थाओ को हम आध्यात्मिक विकासक्रम कह सकते है। जैन परम्परा मे इस प्रकार की चौदह अवस्थाएँ मानी गई हैं। इनमे आत्मा क्रमश कर्म-मल से विशुद्ध होता हुआ अन्त मे मुक्ति प्राप्त करता है। कर्म-पुज का सर्वथा क्षय कर मुक्ति प्राप्त करनेवाले प्रभु महावीर की स्तुति के बहाने से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करने के कारण इसका नाम 'कर्मस्तव' रखा गया है। इसकी गाथा-सख्या ३४ है।

बन्ध-स्वामित्व—प्रस्तुत कर्मग्रन्थ मे मार्गणाओ की दृष्टि से गुणस्थानो का वर्णन किया गया है एव यह बताया गया है कि मार्गणास्थित जोवो की सामान्यतया कर्मबन्ध-सम्बन्धी कितनी योग्यता है व गुणस्थान के विभाग के अनुसार कर्म के

बन्ध की योग्यता क्या है ? इस प्रकार इस ग्रन्थ मे आचार्य ने मार्गणा एव गुणस्थान दोनो दृष्टियो से कर्मबन्ध का विचार किया है। ससार के प्राणियो मे जो भिन्नताएँ अर्थात् विविधताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनको जैन कर्मशास्त्रियों ने चौदह विभागो मे विभाजित किया है। इन चौदह विभागो के ६२ उपभेद है। वैविध्य के इसी वर्गीकरण को 'मार्गणा' कहा जाता है। गुणस्थानो का आधार कर्मपटल का तरतमभाव एव प्राणी की प्रवृत्ति-निवृत्ति है, जबकि मार्गणाओं का आधार प्राणी की शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक विभिन्नताएँ है। मार्गणाएँ जीव के विकास की सूचक नही है अपितु उसके स्वाभाविक-वैभाविक रूपो के पृथक्करण की सूचक है, जबकि गुणस्थानो में जीव के विकास की क्रमिक अवस्थाओ का विचार किया जाता है। इस प्रकार मार्गणाओ का आधार प्राणियो की विविधताओ का साधारण वर्गीकरण है जबकि गुणस्थानो का आधार जीवो का आध्यात्मिक विकास-क्रम है। प्रस्तुत कर्मग्रन्थ की गाथा-सख्या २४ है।

षडशीति—प्रस्तुत कर्मग्रन्थ को 'षडशीति' इसलिए कहते हैं कि इसमे ८६ गाथाएँ है। इसका एक नाम 'सूक्ष्मार्थ-विचार' भी है और वह इसलिए कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त मे 'सुहुमत्थवियारो' (सूक्ष्मार्थविचार) शब्द का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ मे मुख्यतया तीन विषयो की चर्चा है जीवस्थान, मार्गणा-स्थान और गुणस्थान। जीवस्थान में गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयो का वर्णन किया गया है। मार्गणास्थान मे जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्प-बहुत्व इन छ विषयो का वर्णन है। गुणस्थान मे जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता और अल्प-बहुत्व इन दस विषयो का समावेश किया गया है। अन्त मे भाव तथा सख्या का स्वरूप बताया गया है। जीवस्थान के वर्णन से यह मालूम होता है कि जीव किन-किन अवस्थाओ में भ्रमण करता है। मार्गणास्थान के वर्णन से यह विदित होता है कि जीव के कर्मकृत व स्वाभाविक कितने भेद है। गुणस्थान के परिज्ञान से आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति का आभास होता है। इस जीवस्थान, मार्गणास्थान एव गुणस्थान के ज्ञान से आत्मा का स्वरूप एव कर्मजन्य रूप जाना जा सकता है।

शतक—शतक नामक पंचम कर्मग्रन्थ मे १०० गाथाएँ है। यही कारण है कि इसका नाम शतक रखा गया है। इसमे सर्वप्रथम बताया गया है कि प्रथम कर्मग्रन्थ मे वर्णित प्रकृतियो में से कौन-कौन प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुव-बन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्वघाती, देशघाती,

अघाती, पुण्यधर्मा, पापधर्मा, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना है। तदनन्तर इस बात का विचार किया गया है कि इन्ही प्रकृतियो मे से कौन-कौन प्रकृतियाँ क्षेत्र-विपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी एव पुद्गलविपाकी है। इसके बाद ग्रन्थकार ने प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, (रसबन्ध) एव प्रदेशबन्ध इन चार प्रकार के बन्धो का स्वरूप बताया है। इनका सामान्य परिचय तो प्रथम कर्मग्रन्थ में दे दिया गया है, किन्तु विशेष विवेचन के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का आधार लिया गया है। प्रकृतिबन्ध का वर्णन करते हुए आचार्य ने मूल तथा उत्तरप्रकृतियो से सम्बन्धित भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित एव अवक्तव्य बन्धो पर प्रकाश डाला है। स्थितिबन्ध का विवेचन करते हुए जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति एव इस प्रकार की स्थिति का बन्ध करने वाले प्राणियो का वर्णन किया है। अनुभागबन्ध के वर्णन मे शुभाशुभ प्रकृतियो मे तीव्र अथवा मन्द रस पडने के कारण, उत्कृष्ट व जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी इत्यादि का समावेश किया गया है। प्रदेशबन्ध के वर्णन मे वर्गणाओ का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है एव अन्त में उपशमश्रेणि एव क्षपकश्रेणि का स्वरूप बताया गया है।

नव्य कर्मग्रन्थो की व्याख्याएँ

आचार्य देवेन्द्रसूरि ने अपने पाँचो कर्मग्रन्थो पर स्वोपज्ञ टीका लिखी थी किन्तु किसी कारण से तृतीय कर्मग्रन्थ की टीका नष्ट हो गई। इसकी पूर्ति के लिए बाद के किसी आचार्य ने अवचूरिरूप नई टीका लिखी। गुणरत्नसूरि व मुनिशेखर-सूरि ने पाँचो कर्मग्रन्थो पर अवचूरियाँ लिखी। इनके अतिरिक्त कमलसयम उपाध्याय आदि ने भी इन कर्मग्रन्थो पर छोटी-छोटी टीकाएँ लिखी है। हिन्दी व गुजराती मे भी इन पर पर्याप्त विवेचन लिखा गया है।[1]

---

१ (अ) हिन्दी विवेचन (सप्ततिकासहित)—आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मडल, आगरा

(आ) गुजराती विवेचन (सप्ततिकासहित)—

(क) जैन श्रेयस्कर मडल, मेहसाना.

(ख) प्रथम तीन—हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थमाला, अहमदाबाद.

(ग) शतक (पचम)—मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बडौदा.

(घ) टबार्थसहित (छ)—जैन विद्याशाला, अहमदाबाद

(ङ) यन्त्रपूर्वक कर्मादिविचार—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० स० १९७२.

भावप्रकरण :

विजयविमलगणि ने वि० सं० १६२३ में भावप्रकरण[1] की रचना की। इसमें ३० गाथाएँ हैं जिनमें औपशमिकादि भावों का वर्णन है। इस पर ३२५ श्लोक-प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति है।

बन्धहेतूदयत्रिभंगी

हर्षकुलगणिकृत बन्धहेतूदयत्रिभंगी[2] में ६५ गाथाएँ हैं। यह विक्रम की १६ वीं सदी की रचना है। इस पर वानरर्षि ने वि० सं० १६०२ में टीका लिखी है। यह टीका ११५० श्लोकप्रमाण है।

बन्धोदयसत्ताप्रकरण :

विजयविमलगणि ने विक्रम की १७ वीं सदी के प्रारम्भ में बन्धोदयसत्ता-प्रकरण[3] की रचना की। इसमें २४ गाथाएँ हैं। इन पर ३०० श्लोकप्रमाण स्वोपज्ञ अवचूरि है।

दिगम्बरीय कर्मसाहित्य में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत एवं कषायप्राभृत के बाद गोम्मटसार का स्थान है। यह नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की कृति है।

नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार :

गोम्मटसार[4] के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विक्रम की ११ वीं शताब्दी में विद्यमान थे। ये चामुण्डराय के समकालीन थे। चामुण्डराय गोम्मटराय

---

१ स्वोपज्ञ वृत्तिसहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९६८

२. टीकासहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७४.

३. अवचूरिसहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७४

४ (अ) प्रथम काण्ड पर अभयचन्द्रकृत टीका एवं द्वितीय काण्ड पर केशव-वर्णीकृत टीका के साथ—हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९२१.

(आ) अंग्रेजी अनुवाद आदि के साथ—अजिताश्रम, लखनऊ, सन् १९२७–१९३७.

(इ) हिन्दी अनुवाद आदि के साथ—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, सन् १९२७–१९२८

(ई) टोडरमल्लकृत हिन्दी टीका के साथ—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता

भी कहलाते थे क्योकि उन्होंने श्रवणबेलगुल की प्रख्यात बाहुबली गोम्मटेश्वर की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। नेमिचन्द्र सिद्धान्तशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे—प्रकाण्ड पडित थे अतएव वे सिद्धान्तचक्रवर्ती कहलाते थे। गोम्मटसार के अतिरिक्त निम्नलिखित कृतियाँ भी नेमिचन्द्र की ही हैं लब्धिसार, क्षपणासार (लब्धिसारान्तर्गत), त्रिलोकसार और द्रव्यसग्रह। ये सब ग्रथ धवलादि महासिद्धान्त-ग्रन्थो के आधार से बनाये गये है।

गोम्मटसार की रचना चामुण्डराय जिनका कि दूसरा नाम गोम्मटराय था, के प्रश्न के अनुसार सिद्धान्तग्रन्थो के सार के रूप में हुई अत इस ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार रखा गया। इस ग्रन्थ का एक नाम पचसग्रह भी है क्योकि इसमें बन्ध, बध्यमान, बन्धस्वामी, बन्धहेतु व बन्धभेद इन पाँच विषयो का वर्णन है। इसे गोम्मटसग्रह अथवा गोम्मटसग्रहसूत्र भी कहा जाता है। प्रथम सिद्धान्तग्रन्थ अथवा प्रथम श्रुतस्कन्ध के रूप मे भी इसकी प्रसिद्धि है।[1]

गोम्मटसार मे १७०५ गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ दो भागो मे विभक्त है . जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड में ७३३ व कर्मकाण्ड मे ९७२ गाथाएँ है।

जीवकाण्ड—गोम्मटसार के प्रथम भाग जीवकाण्ड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्तसम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड इन पाँच विषयो का विवेचन है। इसमे गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, १४ मार्गणाएँ और उपयोग इन बीस अधिकारो मे जीव की विविध अवस्थाओ का वर्णन किया गया है।

प्रारम्भ मे निम्नलिखित मगलगाथा है जिसमे तीर्थंकर नेमि को नमस्कार कर जीव की प्ररूपणा करने का सकल्प किया गया है

सिद्ध सुद्ध पणमिय जिणिदवरणेमिचंदमकलक।
गुणरयणभूसणुदय जीवस्स परूवण वोच्छं॥ १॥

---

१ देखिये—प० खूबचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित गोम्मटसार (जीवकाण्ड), प्रस्तावना, पृ० ३–६ (परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९२७), एस सी. घोसाल द्वारा सम्पादित द्रव्यसग्रह, प्रस्तावना (अग्रेजी), पृ० ३९–४० (सेंट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा, सन् १९१७), डा० जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३१२–३१३ (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६१).

दूसरी गाथा मे जीवकाण्ड के गुणस्थानादि बीस अधिकारो—प्ररूपणाओ—प्रकरणो का नामोल्लेख है

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ॥ २ ॥

इसके बाद आचार्य ने यह बताया है कि अभेद की विवक्षा से गुणस्थान और मार्गणा ये दो ही प्ररूपणाएँ है तथा भेद की विवक्षा से उपर्युक्त बीस प्ररूपणाएँ है।

गुणस्थान प्रकरण मे गुणस्थान का लक्षण बताते हुए चौदह गुणस्थानो का स्वरूप स्पष्ट किया गया है एव संक्षेप मे सिद्धो का स्वरूप बताया गया है।

जीवसमास प्रकरण मे निम्नोक्त विषयों का विचार है जीवसमास का लक्षण, जीवसमास के १४ भेद, जीवसमास के ५७ भेद, जीवसमास के स्थान, योनि, अवगाहना व कुल ये चार अधिकार।

पर्याप्ति प्रकरण में दृष्टान्त द्वारा पर्याप्त व अपर्याप्त का स्वरूप समझाया गया है तथा पर्याप्ति के छ भेदो पर प्रकाश डाला गया है।

प्राण प्रकरण मे प्राण के लक्षण, प्राण के भेद, प्राणो की उत्पत्ति एव प्राणो के स्वामी का विचार किया गया है।

सज्ञा प्रकरण मे सज्ञा के स्वरूप, सज्ञा के भेद एव सज्ञाओ के स्वामी का विचार है।

मार्गणा प्रकरण मे निम्नोक्त १४ मार्गणाओ का विवेचन किया गया है . १ गतिमार्गणा, २ इन्द्रियमार्गणा, ३. कायमार्गणा, ४ योगमार्गणा, ५. वेद-मार्गणा, ६ कषायमार्गणा, ७ ज्ञानमार्गणा, ८ सयममार्गणा, ९. दर्शनमार्गणा, १० लेश्यामार्गणा, ११ भव्यमार्गणा, १२ सम्यक्त्वमार्गणा, १३. सज्ञिमार्गणा, १४ आहारमार्गणा। गतिमार्गणा मे निम्न विषय है गति शब्द की निरुक्ति, गति के नारकादि चार भेद, सिद्धगति का स्वरूप, गतिमार्गणा मे जीवसख्या। इन्द्रियमार्गणा में निम्न बातो का विचार है इन्द्रिय का निरुक्तिसिद्ध अर्थ, इन्द्रिय के द्रव्य व भावरूप दो भेद, इन्द्रिय की अपेक्षा से जीवो के भेद, इन्द्रियो का विषयक्षेत्र, इन्द्रियो का आकार, इन्द्रियगत आत्मप्रदेशो का अव-गाहनप्रमाण, अतीन्द्रिय ज्ञानियो का स्वरूप, एकेन्द्रियादि जीवो की सख्या। कायमार्गणा मे निम्न विषय समाविष्ट है . काय का लक्षण, काय के भेद, काय

का प्रमाण, स्थावर और त्रसकायिकों का आकार, काय का कार्य, कायरहितों अर्थात् सिद्धो का स्वरूप, पृथ्वीकायिकादि की संख्या। योगमार्गणा में निम्नलिखित विषयो का व्याख्यान किया गया है . योग का सामान्य व विशेष लक्षण, दस प्रकार का सत्य, चार प्रकार का मनोयोग, चार प्रकार का वचनयोग, सात प्रकार का काययोग, सयोगी केवली का मनोयोग, अयोगी जिन, शरीर में कर्म-नोकर्म का विभाग, कर्म-नोकर्म का उत्कृष्ट सचय, पाँच प्रकार के शरीर की उत्कृष्ट स्थिति, योगमार्गणा मे जीवो की सख्या। वेदमार्गणा में तीन वेदो का स्वरूप बताया गया है तथा वेद की अपेक्षा से जीवो को सख्या का विचार किया गया है। कषायमार्गणा मे कषाय का निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हुए क्रोधादि चार कषायो का स्वरूप समझाया गया है तथा कषाय की अपेक्षा से जीवसंख्या का विचार किया गया है। ज्ञानमार्गणा में निम्नोक्त विषयो का प्रतिपादन किया गया है : ज्ञान का लक्षण, पाँच ज्ञानो का क्षायोपशमिक व क्षायिकरूप से विभाग, मिथ्याज्ञान का कारण, मिश्रज्ञान का कारण, तीन मिथ्याज्ञानो का स्वरूप, मतिज्ञान का स्वरूप, श्रुतज्ञान का लक्षण, श्रुतज्ञान के भेद, अवधिज्ञान का स्वरूप, अवधि का द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से वर्णन, मन -पर्ययज्ञान का स्वरूप व भेद, केवलज्ञान का स्वरूप, ज्ञानमार्गणा में जीवसख्या। सयममार्गणा मे निम्न विषय हैं सयम का स्वरूप, सयम के पाँच भेद, सयम की उत्पत्ति, सामायिक सयम, छेदोपस्थापना संयम, परिहारविशुद्धि संयम, सूक्ष्मसाम्पराय सयम, यथाख्यात सयम, देशविरत, असंयत, संयम की अपेक्षा से जीवसंख्या। दर्शनमार्गणा में दर्शन का लक्षण बताते हुए चक्षुर्दर्शन आदि का स्वरूप समझाया गया है एव दर्शन की अपेक्षा से जीवसख्या का प्रतिपादन किया गया है। लेश्यामार्गणा में निम्नोक्त १६ दृष्टियो से लेश्याओ का विचार किया गया है १ निर्देश, २ वर्ण, ३ परिणाम, ४ सक्रम, ५ कर्म, ६ लक्षण, ७. गति, ८ स्वामी, ९ साधन, १० सख्या, ११ क्षेत्र, १२ स्पर्श, १३ काल, १४. अन्तर, १५. भाव, १६. अल्पबहुत्व। भव्यमार्गणा में भव्य, अभव्य एव भव्यत्वाभव्यत्वरहित जीव का स्वरूप बताते हुए तत्सम्बन्धी जीवसख्या का प्रतिपादन किया गया है। सम्यक्त्वमार्गणा मे सम्यक्त्व का लक्षण बताते हुए निम्न विषयो का निरुपण किया गया है षड्द्रव्य, पचास्तिकाय, नव पदार्थ, क्षायिक सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, औपशमिक सम्यक्त्व, पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्वग्रहण के योग्य जीव, सम्यक्त्वमार्गणा मे जीवसख्या। सज्ञिमार्गणा में सज्ञी-असज्ञी का स्वरूप बताते हुए तद्गत जीवसख्या का विचार किया गया है। आहारमार्गणा में निम्न बातो का निरूपण है आहार का स्वरूप,

आहारक-अनाहारक का अन्तर, समुद्घात के भेद, आहारक व अनाहारक का काल-प्रमाण, आहारमार्गणा मे जीवसख्या।

उपयोग प्रकरण मे उपयोग का लक्षण बताते हुए साकार एवं अनाकार उपयोग का विवेचन किया गया है।

अन्तिम गाथा मे आचार्य ने गोम्मटराय को आशीर्वाद दिया है ·

अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू ।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयतु ॥ ७३३ ॥

कर्मकाण्ड—गोम्मटसार के द्वितीय भाग कर्मकाण्ड मे कर्मसम्बन्धी निम्नोक्त नौ प्रकरण हैं · १ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २ बन्धोदयसत्त्व, ३ सत्त्वस्थानभग, ४. त्रिचूलिका, ५ स्थानसमुत्कीर्तन, ६ प्रत्यय, ७ भावचूलिका ८ त्रिकरण-चूलिका, ९ कर्मस्थितिरचना।

सर्वप्रथम आचार्य ने तीर्थंकर नेमि को नमस्कार किया है तथा प्रकृतिसमुत्कीर्तन प्रकरण का कथन करने का सकल्प किया है :

पणमिय सिरसा णेमि गुणरयणविभूषण महावीर।
सम्मत्तरयणणिलय पयडिसमुक्कित्तण वोच्छ ॥ १ ॥

प्रकृति समुत्कीर्तन प्रकरण में निम्न विषय हैं · कर्मप्रकृति का स्वरूप, कर्म-नोकर्म ग्रहण करने का कारण, कर्म-नोकर्म के परमाणुओ की सख्या, कर्म के भेद, घाति-अघातिकर्म, बन्धयोग्य प्रकृतियाँ, उदयप्रकृतियाँ, सत्त्वप्रकृतियाँ, घाती कर्मों के भेद, अघाती कर्मों के भेद, कषायो का कार्य, पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ, भवविपाकी-क्षेत्रविपाकी-जीवविपाकी प्रकृतियाँ, नामादि चार निक्षेपो से कर्म के भेद।

बन्धोदयसत्त्व प्रकरण के प्रारम्भ मे पुन तीर्थंकर नेमि को नमस्कार किया गया है। इस प्रकरण मे निम्नोक्त विषयो का प्रतिपादन हुआ है कर्म की बन्ध-अवस्था के भेद, प्रकृतिबन्ध व गुणस्थान, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध, प्रकृतियो की बन्धव्युच्छित्ति, स्थितिबन्ध का स्वरूप, स्थिति के उत्कृष्टादि भेद, स्थिति की आबाधा, उदय की आबाधा, उदीरणा की आबाधा, कर्मों का निषेक, अनुभाग-बन्ध का स्वरूप, अनुभाग के उत्कृष्टादि भेदो के स्वामी, प्रदेशबन्ध का स्वरूप, कर्मप्रदेशो का मूलप्रकृतियो मे विभाजन, कर्मप्रदेशो का उत्तरप्रकृतियो मे विभाजन, प्रदेशबन्ध के उत्कृष्टादि भेद, योगस्थानो का स्वरूप-सख्याभेद-स्वामी, कर्मों का उदय व उदयव्युच्छित्ति, उदय-अनुदयप्रकृतियो की सख्या, उदयप्रकृतियों

-की उदीरणा से विशेषता, उदीरणा की व्युच्छित्ति, उदीरणा-अनुदीरणाप्रकृतियो की सख्या, सत्त्वप्रकृतियो का स्वरूप, सत्त्वव्युच्छित्ति, सत्त्व-असत्त्व प्रकृतियो की सख्या। प्रस्तुत प्रकरण के अन्त मे भी मगलाचरण किया गया है।

सत्त्वस्थानभग प्रकरण के प्रारम्भ में तीर्थंकर वर्धमान को नमस्कार किया गया है। इस प्रकरण मे निम्नलिखित विषयो का प्रतिपादन है आयु के बन्धाबन्ध की अपेक्षा से गुणस्थानो मे सत्त्वस्थान, मिथ्यात्वगुणस्थान के स्थानो की प्रकृतियाँ, मिथ्यात्वगुणस्थान में भगसख्या, सासादनादि गुणस्थानो में स्थान और भगो की सख्या। प्रकरण के अन्त मे ग्रन्थकार ने लिखा है कि श्रेष्ठ इन्द्रनन्दि गुरु के पास सकल सिद्धान्त सुनकर श्री कनकनन्दि गुरु ने सत्त्वस्थान का सम्यक् कथन किया है। जैसे चक्रवर्ती (भरत) ने अपने चक्ररत्न से (भारत के) छ खण्डो पर निर्विघ्न अधिकार किया था वैसे ही मैंने अपने बुद्धिचक्र से षट्खण्डागम पर अच्छी तरह अधिकार किया है

वरइदणदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धत।
सिरिकणयणदिगुरुणा सत्तट्ठाण समुद्दिट्ठ ॥ ३९६ ॥
जह चक्केण य चक्की छक्खड साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खड साहिय सम्म ॥ ३९७ ॥

त्रिचूलिका प्रकरण के प्रारम्भ मे जिनेन्द्रदेवो को नमस्कार किया गया है तथा त्रिचूलिका प्रकरण के कथन की प्रतिज्ञा की गई है। इस प्रकरण मे निम्नोक्त तीन चूलिकाओ का व्याख्यान किया गया है नवप्रश्नचूलिका, पचभागहारचूलिका और दशकरणचूलिका। दशकरणचूलिका के व्याख्यान के प्रारम्भ मे आचार्य ने अपने श्रुतगुरु अभयनन्दि को नमस्कार किया है

जस्स य पायपसायेणणतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणदिवच्छो णमामि त अभयणदिगुरु ॥ ४३६ ॥

स्थानसमुत्कीर्तन प्रकरण के प्रारम्भ मे आचार्य ने नेमिनाथ को प्रणाम किया है। प्रस्तुत प्रकरण मे निम्न विषयो का विवेचन है गुणस्थानो मे प्रकृतिसख्यासहित बन्धादिस्थान, उपयोग-योग-सयम-लेश्या-सम्यक्त्व की अपेक्षा से मोहनीय कर्म के उदयस्थानो तथा प्रकृतियो की सख्या, मोहनीय कर्म के सत्त्वस्थान, नाम कर्म के जीवपद, नाम कर्म के बन्धादिस्थान तथा भग, बन्ध-उदय-सत्त्व के त्रिसयोगी भग, जीवसमासो की अपेक्षा से बन्ध-उदय-सत्त्वस्थान, मार्गणाओ की अपेक्षा से बन्ध-उदय-सत्त्वस्थान, एक आधार और दो आधेयों

की अपेक्षा से बन्धादिस्थान, दो आधारो व एक आधेय की अपेक्षा से बन्धादिस्थान।

प्रत्यय प्रकरण के प्रारम्भ मे आचार्य ने मुनि अभयनन्दि, गुरु इन्द्रनन्दि तथा स्वामी वीरनन्दि को प्रणाम किया है .

णमिऊण अभयणंदि सुदसायरपारगिदणंदिगुरु ।
वरवीरणंदिणाह पयडीण पच्चय वोच्छ ॥ ७८५ ॥

इसके बाद आस्रवो का भेदसहित स्वरूप बताते हुए मूलप्रत्ययो और उत्तर-प्रत्ययो का कथन किया है तथा प्रत्ययो की व्युच्छित्ति एव अनुदय व कर्मों के बन्ध के कारणो एव परिणामो पर प्रकाश डाला है।

भावचूलिका प्रकरण के प्रारम्भ मे गोम्मट जिनेन्द्रचन्द्र को प्रणाम किया गया है

गोम्मटजिणिंदचद पणमिय गोम्मटपयत्थसजुत्त ।
गोम्मटसगहविसय भावगयं चूलिय वोच्छ ॥ ८११ ॥

इसके बाद भावविषयक निम्न बातो का विचार किया गया है भेदसहित भावो के नाम, भावों की उत्पत्ति का कारण, भावो के स्थानभग और पदभग, एकान्तमत के विविध भेद।

त्रिकरणचूलिका प्रकरण के प्रारम्भ मे ग्रन्थकार ने आचार्य वीरनन्दि एव गुरु इन्द्रनन्दि को प्रणाम करने के लिए कहा है

णमह गुणरयणभूसण सिद्धतामियमहद्धिभवभावं ।
वरवीरणंदिचद णिम्मलगुणमिदणंदिगुरु ॥ ८९६ ॥

प्रस्तुत प्रकरण मे निम्नलिखित तीन करणो का विवेचन किया गया है अध प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरण।

कर्मस्थितिरचना प्रकरण के प्रारम्भ मे सिद्धो को नमस्कार किया गया है। इस प्रकरण मे निम्नोक्त विषयो का प्रतिपादन है कर्मस्थितिरचना के प्रकार, कर्मस्थितिरचना की अकसदृष्टि, कर्मस्थितिरचना की अर्थदृष्टि, सत्तारूप त्रिकोण यन्त्ररचना, स्थिति के भेद, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, रसबन्धाध्यवसायस्थान।

ग्रन्थ के अन्त मे प्रशस्तिपरक आठ गाथाएँ है जिनमे ग्रन्थरचना का प्रयोजन बताते हुए मुनि अजितसेन का सादर स्मरण किया गया है, गोम्मटराय (चामुण्ड-राय) को आशीर्वाद दिया गया है तथा गोम्मटरायकृत गोम्मटसार की

देशी अर्थात् कर्णाटकी वृत्ति का उल्लेख किया गया है। ये गाथाएँ इस प्रकार हैं :

गोम्मटसगहसुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मटं रइयं।
कम्माण णिज्जरट्ठं तच्चट्ठवधारणट्ठं च ॥ ९६५ ॥
जम्हि गुणा विस्सता गणहरदेवादिइड्ढिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥ ९६६ ॥
सिद्धतुदयतडुग्गयणिम्मलवरणेमिचदकरकलिया।
गुणरयणभूसणवुहिमइवेला भरउ भुवणयल ॥ ९६७ ॥
गोम्मटसगहसुत्त गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिणकुकडजिणो जयउ ॥ ९६८ ॥
जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठ सो गोम्मटो जयउ ॥ ९६९ ॥
वज्जयण जिणभवण ईसिपभार सुवण्णकलस तु।
तिहुवणपडिमाणिक्क जेण कय जयउ सो राओ ॥ ९७० ॥
जेणुब्भियथभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया।
सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ॥ ९७१ ॥
गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरकाल णामेण य वीरमत्तडो ॥ ९७२ ॥

कर्मप्रकृति—यह १६१ गाथाओ का एक सग्रहग्रन्थ[१] है जो प्राय गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्राचार्य की कृति समझा जाता है। इस ग्रन्थ का अधिकाश भाग गोम्मटसार की गाथाओ से निर्मित हुआ है। इसमे गोम्मटसार की १०२ गाथाएँ ज्यो-की-त्यो उद्धृत है।

गोम्मटसार की व्याख्याएँ :

गोम्मटसार पर सर्वप्रथम गोम्मटराय—चामुण्डराय ने कर्णाटक—कन्नड मे वृत्ति लिखी। इस वृत्ति का अवलोकन स्वय नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने किया।

---

१ यह ग्रन्थ प० हीरालाल शास्त्री द्वारा सम्पादित-अनूदित होकर भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से सन् १९६४ मे प्रकाशित हुआ है। इस सस्करण मे तीन टीकाएँ सम्मिलित है १ मूलगाथाओ के साथ ज्ञानभूषण-सुमतिकीर्त्ति की सस्कृत टीका, २ अज्ञात आचार्यकृत सस्कृत टीका, ३ सस्कृत टीकागर्भित प० हेमराजरचित भाषा टीका।

इस वृत्ति के आधार पर केशववर्णी ने सस्कृत में टीका लिखी। फिर अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मन्दप्रबोधिनी नामक सस्कृत टीका बनाई। इन दोनो सस्कृत टीकाओ के आधार पर प० टोडरमल्ल ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक हिन्दी टीका लिखी। इन टीकाओ के आधार पर जीवकाण्ड का हिन्दी अनुवाद प० खूबचन्द्र ने तथा कर्मकाण्ड का हिन्दी अनुवाद प० मनोहरलाल ने किया है। श्री जे० एल० जैनी ने इसका अग्रेजी मे अनुवाद किया है।

लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित)

क्षपणासारगर्भित लब्धिसार[1] भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की ही कृति है। गोम्मटसार मे जीव व कर्म के स्वरूप का विस्तृत विवेचन है जब कि लब्धिसार मे कर्म से मुक्त होने के उपाय का प्रतिपादन है। लब्धिसार मे ६४९ गाथाएँ है जिनमे २६१ गाथाएँ क्षपणासार की है। इसमे तीन प्रकरण है दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि और क्षायिकचारित्र। इनमें से क्षायिकचारित्र प्रकरण क्षपणासार के रूप मे स्वतत्र ग्रन्थ भी गिना जाता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे आचार्य ने सिद्धो, अर्हन्तो, आचार्यों, उपाध्यायो एवं साधुओ को वन्दन किया है तथा सम्यग्दर्शनलब्धि व सम्यक्चारित्रलब्धि के प्ररूपण का सकल्प किया है। दर्शनलब्धि प्रकरण में निम्नोक्त पाँच लब्वियो का विवेचन है १. क्षयोपशमलब्धि, २. विशुद्धिलब्धि, ३ देशनालब्धि, ४. प्रायोग्य-लब्धि, ५ करणलब्धि। चारित्रलब्धि प्रकरण में देशचारित्र व सकलचारित्र का व्याख्यान किया गया है। इसमें उपशमचारित्र का विस्तृत विवेचन है। क्षायिक-चारित्र प्रकरण अर्थात् क्षपणासार मे चारित्रमोह की क्षपणा (क्षय) का विधान करते हुए अध प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तकरण का स्वरूप समझाया गया है। इसमें निम्न विषयो का भी निरूपण है सक्रमण, कृष्टिकरण, कृष्टिवेदन, समुद्घात, मोक्षस्थान। ग्रन्थ के अन्त मे ग्रन्थकार आचार्य ने अपना नाम नेमिचन्द्र बताया है तथा अपने को (ज्ञानदाता) वीरनन्दि व इन्द्रनन्दि का वत्स एव (दीक्षादाता) अभयनन्दि का शिष्य कहा है और अपने गुरु को नमस्कार किया है

---

१. (अ) प० मनोहरलालकृत हिन्दी अनुवादसहित—परमश्रुत प्रभावक मडल, बम्बई, सन् १९१६

(आ) केशववर्णीकृत संस्कृत टीका व टोडरमल्लकृत हिन्दी टीका के साथ—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी सस्था, कलकत्ता.

वीरिंदणदिवच्छेणप्पसुदेणभयणदिसिस्सेण ।
दंसणचरित्तलद्धी सुसूयिया णेमिचदेण ॥ ६४८ ॥
जस्स य पायपसाएणणतससारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणदिवच्छो णमामि त अभयणदिगुरु ॥ ६४९ ॥

लब्धिसार की व्याख्याएँ :

लब्धिसार पर दो टीकाएँ है . केशववर्णीकृत सस्कृत टीका और टोडरमल्ल-कृत हिन्दी टीका । सस्कृत टीका चारित्रलब्धि प्रकरण तक ही है । हिन्दी टीका-कार टोडरमल्ल ने चारित्रलब्धि प्रकरण तक तो सस्कृत टीका के अनुसार व्याख्यान किया किन्तु क्षायिकचारित्र प्रकरण अर्थात् क्षपणासार का व्याख्यान माधवचन्द्रकृत सस्कृत गद्यात्मक क्षपणासार के अनुसार किया ।

पंचसग्रह

अमितगतिकृत पचसग्रह[1] सस्कृत गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसकी रचना वि० स० १०७३ मे हुई । यह गोम्मटसार का सस्कृत रूपान्तर-सा है। इसके पाँचों प्रकरणो की श्लोक-सख्या १४५६ है। लगभग १००० श्लोक-प्रमाण गद्यभाग है।

प्राकृत पचसग्रह[2] के मूलग्रन्थकर्ता तथा भाष्यगाथाकार के नाम एव समय दोनों ही अज्ञात है। इसकी गाथा-सख्या १३२४ है। गद्यभाग लगभग ५०० श्लोक-प्रमाण है।

●

---

१. माणिकचन्द दिगम्बर ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९२७

२. सस्कृत टीका, प्राकृत वृत्ति तथा हिन्दी अनुवादसहित—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६० (सम्पादक—प० हीरालाल जैन). ग्रन्थ के अन्त मे श्रीपालसुत डड्ढविरचित संस्कृत पचसग्रह भी दिया गया है ।

आगमिक प्रकरण

प्रथम प्रकरण

आगमिक प्रकरणों का उद्भव

समग्र जैन वाड्मय के आगमिक और आगमेतर इस प्रकार दो विभाग किये जा सकते है। आगमिक साहित्य अर्थात् आगम और उनसे सम्बद्ध व्याख्यात्मक ग्रन्थ। इनसे भिन्न साहित्य 'आगमेतर' है और वह आगमो की भाँति 'आगमप्रविष्ट' नही, किन्तु 'आगमवाह्य' है।

आगमो के आधार पर रचित प्रकरणो को इस विभाग मे 'आगमिक प्रकरण' कहा गया है। दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के भी ग्रन्थो का समावेश आगमिक प्रकरणो में किया गया है। यह समग्र वाड्मय आगमेतर साहित्य का एक भाग है।

जैन आगमो में दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) नामक बारहवें अग का महत्त्व एव विशालता की दृष्टि से अग्र स्थान है, इसमें भी उसका पुव्वगय (पूर्वगत) नामक उपविभाग विशेष महत्त्व का है। इसके पुव्व (पूर्व) नाम के उपविभाग और पुव्व के पाहुड (प्राभृत) के नाम से प्रसिद्ध अनुविभागो मे से कतिपय प्राभृतो के नाम का विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अमुक-अमुक विषय से सम्बद्ध निवन्ध के समान निरूपण होगा। इस समय 'दृष्टिवाद' लुप्त हो गया है, अत उसमें आये हुए प्रकरणो के बारे मे कुछ कहने योग्य रहता ही नही है।

'पूर्वगत' की रचना के अनन्तर आयार (आचार) आदि ग्यारह अगो की तथा कालान्तर मे इतर आगमो की रचना हुई। इनमे से जिन विभिन्न पइण्णगो (प्रकीर्णको) की रचना हुई वे सव इस समय उपलब्ध नही है। किन्तु वे (उपलब्ध और अनुपलब्ध प्रकीर्णक) प्राभृत आदि की रचना के पश्चात् लिखित आगमिक प्रकरणो के उद्भव का आदि-काल अवश्य सूचित करते है।

उपलब्ध आगमो में 'उत्तरज्झयण' (उत्तराध्ययन) के कई अध्ययन और 'पण्णवणा' (प्रज्ञापना) का प्रत्येक पय (पद) एक-एक विषय का क्रमबद्ध निरू-

पण करते है और इस प्रकार प्रकरण मे कैसा निरूपण होना चाहिये इसका बोध कराते है।

आगमिक प्रकरणो की रचना क्यो हुई यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। विचार करने पर इसके निम्नलिखित कारण प्रतीत होते है

१ आगमो का पठन-पाठन सामान्य कक्षा के लोगो के लिए दुर्गम ज्ञात होने पर उन आगमो के साररूप से भिन्न-भिन्न कृतियो की रचना का होना स्वाभाविक है। इस तरह रचित कृतियो को 'आगमिक प्रकरण' कहते है।

२ बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि आगमो मे कई विषय इधर-उधर बिखरे हुए होते है। ऐसे विषयो मे से कुछ तो महत्त्व के होते ही है, अत वैसे विषयो के सुसकलित और सुव्यवस्थित निरूपण की आवश्यकता रहती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सुसम्बद्ध प्रकरण रचे जाने चाहिये, और ऐसा हुआ भी है।

३ आगमो मे आनेवाले विषय सरलता से कण्ठस्थ किये जा सकें इसलिए उनकी रचना पद्य मे होनी चाहिये, किन्तु आगमो मे आनेवाले वे सभी विषय पद्य मे नही होते। आगमिक प्रकरणो की रचना के पीछे यह भी एक कारण है।

४ आगमो मे आनेवाले गहन विषयो मे प्रवेश करने के लिए प्रवेशद्वार सरीखी कृतियो की—प्रकरणो की योजना होनी चाहिये और इस दिशा मे प्रयत्न भी किया गया है।

५ जैन आचार-विचार अर्थात् सस्कृति का सामान्य बोध सुगमता से हो सके, इस दृष्टि से भी आगमिक प्रकरणो का उद्भव हो सकता है और हुआ भी है।

इस तरह उपर्युक्त एक या दूसरे कारण को लेकर पूर्वाचार्यो ने आगमो के आधार पर जो सुश्लिष्ट एव सागोपाग प्रकरण पाइय (प्राकृत) मे और वह भी पद्य में लिखे वे 'आगमिक प्रकरण' कहे जाते है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे आगमिक प्रकरण प्राकृत पद्य मे लिखे गये, परन्तु कालान्तर मे सस्कृत मे पद्य एव गद्य उभयरूप मे उनकी रचना हुई। स्थानकवासी एव तेरापथी सम्प्रदायो मे 'थोकडा' (स्तवक) के नाम से प्रसिद्ध साहित्य आगमिक प्रकरणो की मानो गुजराती आदि प्रादेशिक भाषाओ में रचित आवत्तियाँ ही है। उनमे जीव, कर्म, लोक, द्वीप, ध्यान इत्यादि विषयो के बारे मे

जैन आगमो में आनेवाले विचारो का सकलन किया जाता है। इस प्रकार उनमें विचारो का सग्रह—'थोक' होने से उनका 'थोकडा' नाम सार्थक प्रतीत होता है।

विषय की दृष्टि से आगमिक प्रकरणो के मुख्य दो विभाग किये जा सकते है : (१) तात्त्विक यानी अधिकाश मे द्रव्यानुयोग और कभी-कभी गणितानुयोग-सम्बन्धी विचारो के निरूपक प्रकरण और (२) आचार अर्थात् चरणकरणानुयोग के निरूपण से सम्बद्ध प्रकरण।

●

द्वितीय प्रकरण

आगमसार और द्रव्यानुयोग

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ :

द्राविड भाषा मे कोण्डकुन्ड के नाम से प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के एक अग्रगण्य एव सम्माननीय मुनिवर तथा ग्रन्थकार हैं। बोधपाहुड के अन्तिम पद्य के आधार पर कई लोग इन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का शिष्य मानते है, परन्तु यह मान्यता ठीक नही है। इसी प्रकार शिवभूति के शिष्य होने की कतिपय श्वेताम्बरो की कल्पना भी समीचीन नही है। दिगम्बर ग्रन्थो में इनका विविध नामो से उल्लेख मिलता है, जैसे—पद्मनन्दी, गृध्रपिच्छ, वक्रग्रीव और एलाचार्य, किन्तु इन नामो की तथ्यता शकास्पद है। कुन्दकुन्दाचार्य कब हुए इस बारे मे कोई स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता। इन्होने स्त्री-मुक्ति तथा जैन साधुओ की सचेलकता जैसे श्वेताम्बरीय मन्तव्यो का जिस उग्रता से निरसन किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैनो के श्वेताम्बर एव दिगम्बर जैसे स्पष्ट दो वर्ग ७८ ई० के आसपास हो जाने के पश्चात् ये हुए है।

कुन्दकुन्दाचार्य के उपलब्ध सभी ग्रन्थ प्राकृत पद्य मे है,[1] अर्थात् उनका एक भी ग्रन्थ न तो गद्य मे है और न सस्कृत मे। पवयणसार[2] (प्रवचनसार)

---

१ दसभत्ति मे गद्यात्मक अश है, परन्तु उसके कुन्दकुन्द की मौलिक रचना होने मे सन्देह है।

२ यह कृति अमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिका नाम की सस्कृत वृत्ति, जयसेनसूरिकृत तात्पर्यवृत्ति, हेमराज पाण्डे की विक्रम सवत् १७०९ मे लिखी गयी हिन्दी 'बालबोधिनी' (भाषा टीका), डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के मूल अग्रेजी अनुवाद और विस्तृत प्रस्तावना आदि के साथ 'रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला' मे १९३५ ई० मे प्रकाशित हुई है। अमृतचन्द्रसूरि की उपर्युक्त टीका तथा गुजराती अनुवाद आदि के साथ इसकी एक आवृत्ति 'जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट' सोनगढ की ओर से भी १९४८ मे प्रकाशित हुई है।

प्राकृत के एक प्रकार जैन शौरसेनी मे आर्या छन्द मे रचित कृति है। इसकी दो वाचनाएँ मिलती है। इनमे से एक अमृतचन्द्र ने अपनी वृत्ति मे अपनाई है, तो दूसरी जयसेन, बालचन्द्र[1] आदि ने अपनी-अपनी टीका मे ली है। पहली वाचना मे कुल २७५ पद्य है। तीन श्रुतस्कन्धो मे विभक्त इसके प्रत्येक स्कन्ध मे क्रमश ९२, १०८ और ७५ गाथाएँ हैं और इनमें ज्ञानतत्त्व, ज्ञेयतत्त्व तथा चरणतत्त्व का निरूपण किया गया है। दूसरी वाचना इससे बडी है। इसके तीन अधिकारो मे क्रमश १०१, ११३ और ९७ (कुल ३११) पद्य है।

पवयणसार, पचत्थिकायसगहसुत्त अथवा पचत्थिकायसार और समयसार के समूह को प्राभृतत्रय' भी कहते है। यह वेदान्तियो के प्रस्थानत्रय[2] की याद दिलाता है।

प्रवचनमार :

पवयणसार का प्रारम्भ पचपरमेष्ठी के नमस्कार से होता है। उसमें निम्न-लिखित बातो का सन्निवेश किया गया है

प्रथम अधिकार—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का मोक्षमार्ग के रूप मे उल्लेख, चारित्र का धर्म के रूप में निर्देश, धर्म का शम के साथ ऐक्य और शम का लक्षण, द्रव्य का लक्षण, जीव के शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणाम, शुद्ध उपयोग वाले जीव को निर्वाण की और शुभ उपयोग वाले जीव को स्वर्ग की प्राप्ति, अशुभ परिणाम का दु खदायी फल, सवज्ञ का स्वरुप, 'स्वयम्भू' शब्द की व्याख्या, ज्ञान द्वारा सर्वव्यापिता, श्रुतकेवली, सूत्र और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा क्षायिक ज्ञान की व्याख्या, तीर्थकरो की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ, द्रव्यो की तथा प्रत्येक द्रव्य के पर्यायो की अनन्तता, पुद्गल का लक्षण, प्रत्यक्ष एव परोक्ष ज्ञान का स्पष्टीकरण, सिद्ध परमात्मा की सूर्य के साथ तुलना, इन्द्रियजन्य सुख की असारता, तीर्थंकर के समग्र स्वरूप के बोध से आत्मज्ञान तथा मोह के लिंग।

द्वितीय अधिकार—द्रव्य, गुण और पर्याय का लक्षण और स्वरूप तथा इन तीनो का परस्पर सम्बन्ध, सप्तभगी का मूचन, जीवादि पाँच अस्तिकाय

१. इनकी टीका कन्नड भाषा मे है।

२. प्रस्थानत्रय मे वैदिक धर्म के मूलरूप उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का समावेश होता है।

और काल का निरूपण, परमाणु और प्रदेश की स्पष्टता, प्रमेय का लक्षण, नाम-कर्म का कार्य, स्कन्धो को उत्पत्ति, शुद्ध आत्मा का स्वरूप, वन्ध की व्याख्या और ममत्व का अभाव ।

तृतीय अधिकार—जैन श्रमण के अचेलकता आदि वाह्य और परिग्रहत्याग आदि आभ्यन्तर लिंग, श्रमण के मूल गुण, छेदोपस्थापक मुनि, निर्यापक श्रमण, अप्रमत्तता, श्रमणो का आहार, स्वाध्याय का महत्त्व, आदर्श श्रमणता, शुभ उपयोग मे विद्यमान श्रमणो की प्रवृत्ति, गुणाधिक श्रमणों की सम्मानविधि और शुद्ध जीव का स्वरूप ।

सोलहवी गाथा मे केवलज्ञान आदि गुण प्राप्त करनेवाले को 'स्वयम्भू' कहा है, क्योकि अन्य किसी द्रव्य की सहायता के बिना वह अपने स्वरूप को प्रकट करता है, वह स्वय छ कारकरूप वनकर अपनी सिद्धि प्राप्त करता है । सिद्धसेन दिवाकर ने प्रथम द्वात्रिंशिका के पहले श्लोक मे और समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र मे 'स्वयम्भू' शब्द प्रयुक्त किया है ।

अधिकार १, गाथा ५७-८ मे प्रत्यक्ष और परोक्ष की जो व्याख्या दी गई है वह न्यायावतार (श्लोक ४) का स्मरण कराती है । अधि० १, गा० ४६ मे और सन्मतिप्रकरण (काण्ड १, गा० १७-८) मे एकान्तवाद मे ससार और मोक्ष की अनुपपत्ति एक-जैसी दिखलाई गई है ।[1] कुन्दकुन्द ने द्रव्य की चर्चा जिस तरह अनेकान्त दृष्टि से की है उसी तरह सिद्धसेन ने सन्मतिप्रकरण के तीसरे काण्ड में ज्ञेय के विषय मे की है ।[2]

व्याख्याएँ—पवयणसार पर सस्कृत, कन्नड और हिन्दी मे व्याख्याएँ हैं । सस्कृत व्याख्याओ मे अमृतचन्द्र की वृत्ति सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है । इन्होने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ लिखे है तथा समयसार और पचत्थिकायसगह पर टीकाएँ लिखी है । अमृतचन्द्र का समय ईसा की दसवी सदी के लगभग है । इनकी वृत्ति का नाम तत्त्वदीपिका है ।

दूसरी सस्कृत टीका जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति है । इसमे टीकाकार ने पचत्थि-कायसगह की टीका का निर्देश किया है ।[3] दार्शनिक विषयो के निरूपण मे ये

---

१ समन्तभद्र ने भी ऐसा ही किया है । देखिए—स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक १४.

२ देखिए—सन्मतिप्रकरण का गुजराती परिचय, पृ० ६२

३ देखिए—पृ० १२१, १६२ और १८७

अमृतचन्द्र का अनुसरण करते है और उनकी वृत्ति का भी उपयोग करते हैं। जयसेन का समय ईसा की बारहवी शताब्दी के द्वितीय चरण के आसपास है।

प्रभाचन्द्रकृत सरोजभास्कर[1] पवयणसार की तीसरी टीका है। इसकी रचना समयसार की बालचन्द्रकृत टीका के बाद हुई है। इनका समय ईसा की चौदहवी शताब्दी का प्रारम्भ होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इन्होने दव्वसगह (द्रव्यसग्रह) की टीका लिखी है और आठ पाहुडो पर पजिका लिखी थी ऐसा भी कई लोगो का मानना है।

मल्लिषेण नामक किसी दिगम्बर ने इस पर सस्कृत मे टीका लिखी थी ऐसा कहा जाना है। इसके अतिरिक्त वर्धमान ने भी एक वृत्ति लिखी है।

बालावबोध—हेमराज पाण्डे ने वि० स० १७०९ मे हिन्दी में बालावबोध लिखा है और इसके लिए उन्होने अमृतचन्द्र की टीका का उपयोग किया है। इस बालावबोध की प्रशस्ति मे शाहजहाँ का उल्लेख आता है। पद्मनन्दिरगणी ने भी वि० स० १६५१ मे एक बालावबोध लिखा है।

समयसार

यह[2] कुन्दकुन्दाचार्य की जैन शौरसेनी पद्य मे (मुख्यत आर्या मे) रचित एक महत्त्व की कृति है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी जैसे श्वेताम्बर विद्वानो की दृष्टि मे भी यह एक सम्मान्य ग्रन्थ है। इसकी भी दो वाचनाएँ मिलती है एक मे ४१५ पद्य हैं, तो दूसरी मे ४३९ है। अमृतचन्द्र ने समग्र कृति को नौ अको मे विभक्त किया है। प्रारम्भ की ३८ गाथाओ तक के भाग को उन्होने पूर्व-रग कहा है।

कुन्दकुन्दाचार्य की उपलब्ध सभी कृतियो मे समयसार सबसे बडी कृति है। इसमे जीव आदि नौ तत्त्वो को शुद्ध निश्चयनयानुसारी प्ररूपणा को अग्रस्थान दिया गया है। इस शुद्ध निश्चयनय को समझने के लिए व्यवहारनय की आवश्य-

१ इमे प्रवचनसरोजभास्कर भी कहते है।

२ यह रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला मे १९१९ मे प्रकाशित हुआ है। अग्रेजी अनुवाद के साथ Sacred Books of the Jainas सिरीज मे १९३० मे, तथा अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओ के साथ 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' बनारस मे भी १९४४ में यह छप चुका है। इनके अतिरिक्त श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह का गुजराती पद्यात्मक अनुवाद जैन अतिथि सेवा समिति, सोनगढ की ओर से १९४० मे प्रकाशित हुआ है।

कता है—ऐसा इसमें (गा० ७ इत्यादि) कहा गया है। इस कृति में कई विषयो की पुनरावृत्ति देखी जाती है। इसमें अधोलिखित विषय आते है

जीव के स्वसमय और परसमय की विचारणा,[1] ज्ञायक भाव अप्रमत्त या प्रमत्त नही हैं ऐसा विघान, भूतार्थ अर्थात् शुद्ध नय द्वारा जीव आदि नौ तत्त्वो का बोध ही सम्यग्दर्शन, जो नय आत्मा को बन्धरहित, पर से अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, विशेपरहित और असयुक्त देखता है वह शुद्ध नय, साधु द्वारा रत्नत्रय की आराधना, प्रत्याख्यान का ज्ञान के रूप मे उल्लेख, भूतार्थ का आश्रय लेनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि, कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान मे भेद, व्यवहारनय के अनुसार सब अध्यवसाय आदि का जीव के रूप मे निर्देश, जीव का अरस, अरूप आदि वर्णन, बन्ध का कारण, जीव के परिणामरूप निमित्त से पुद्गलो का कर्म के रुप में परिणमन, जीव का पुद्गल-कर्म के निमित्त से परिणमन, निश्चयनय के अनुसार आत्मा का अपना ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व, मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान का अजीव एव जीव के रूप मे उल्लेख, पुद्गल-कर्म का कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी नही है ऐसा कथन, बन्ध के मिथ्यात्व आदि चार हेतु, इन हेतुओ के मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली तक के तेरह भेद, सांख्य-दर्शन की पुरुष एव प्रकृतिविषयक मान्यता का निरसन, जीव मे उसके प्रदेशो के साथ कर्मबद्ध एव स्पृष्ट है ऐसा व्यवहारनय का मन्तव्य और अबद्ध एव अस्पृष्ट है ऐसा निश्चयनय का मन्तव्य, कर्म के शुभ एव अशुभ दो प्रकार, ज्ञानी को द्रव्य-आस्रवो का अभाव, सवर का उपाय, ज्ञान और वैराग्य की शक्ति, सम्यग्दृष्टि के नि शकित आदि आठ गुणो का निश्चयनय के अनुसार निरूपण, अज्ञानमय अध्यवसाय का बन्ध के कारण के रूप मे निर्देश, मात्र व्यवहारनय के आलम्बन की निरर्थकता, अभव्य के धर्माचरण के हेतु के रूप मे भोग की प्राप्ति, आत्मा का प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण, विषकुम्भ के प्रतिक्रमण आदि और अमृतकुम्भ के अप्रतिक्रमण आदि आठ-आठ प्रकार, आत्मा का कथचित् कर्तृत्व और भोक्तृत्व, खडिया मिट्टी के दृष्टान्त द्वारा निश्चयनय और व्यवहारनय का स्पष्टी-करण, द्रव्यलिंग के स्वीकार का कारण व्यवहारनय तथा अज्ञानियो की—आत्मा का सत्य स्वरूप नही जाननेवालो की 'जीव किसे कहना' इस विषय मे भिन्न-भिन्न मान्यताएँ (जैसे—कोई अज्ञानी अध्यवसाय को, कोई कर्म को, कोई अध्यव-

---

१ यहाँ इन दोनो शब्दो का आध्यात्मिक दृष्टि से अर्थ किया गया है, परन्तु सन्मतिप्रकरण (का० ३, गा० ४७ और ६७) मे इनका 'दर्शन' के अर्थ मे प्रयोग हुआ है।

सायो के तीव्र आदि अनुभाग को, कोई नोकर्म को, कोई कर्म के उदय को, कोई तीव्रता आदि गुणो से भिन्न प्रतीत होनेवाले को, कोई जीव और अजीव के मिश्रण को तथा कोई कर्म के सयोग को जीव मानता है) ।

जैसे सुवर्ण अग्नि मे तपाने पर भी अपना सुवर्णत्व नही छोडता, वैसे कर्म के उदय से तप्त होने पर भी ज्ञानी ज्ञानीपना नही छोडता—ऐसा १८४ वें पद्य मे कहा है ।

जैसे विष खाने पर भी (विष) वैद्य नही मरता, वैसे पुद्गल-कर्म के उदय का भोग करने पर भी ज्ञानी कर्म से नही बँधता (१९५) ।

८५ वें पद्य मे कहा है कि यदि आत्मा पुद्गल-कर्म का कर्ता बने और उसी का भोग करे तो वह इन दो क्रियाओ से अभिन्न सिद्ध हो और यह बात तो जैन सिद्धान्त को मान्य नही है ।

टीकाएँ—इस पर अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति नाम की टीका लिखी है । इसमे २६३ पद्य का एक कलश है ।[1] इस टीका के अन्त में, समग्र मूल कृति का स्पष्टीकरण उपस्थित करने के उपरान्त, परिशिष्ट के रूप में निम्नलिखित बातो पर विचार प्रस्तुत किया है

१ आत्मा के अनन्त धर्म है । इस ग्रन्थ मे कुन्दकुन्दाचार्य ने उसे मात्र ज्ञान-रूप कहा है, तो क्या इसका स्याद्वाद के साथ विरोध नही आता ?

२ ज्ञान मे उपायभाव एव उपेयभाव दोनो कैसे घट सकते है ?

इस टीका मे उन्होने पवयणसार की स्वोपज्ञ टीका का निर्देश किया है ।

जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति[2] नाम की टीका सस्कृत मे लिखी है । इनके अतिरिक्त इस पर टीका लिखनेवालो के नाम इस प्रकार है प्रभाचन्द्र, नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र, विशालकीर्ति और जिनमुनि । इस पर एक अज्ञातकर्तृक सस्कृत टीका भी है ।

---

१ इस कलश पर शुभचन्द्र ने सस्कृत मे तथा रायमल्ल और जयचन्द्र ने एक-एक टीका हिन्दी मे लिखी है ।

२. इसमें पचत्थिकायसगह की अपनी टीका का उल्लेख है ।

नियमसार :

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित यह पद्यात्मक कृति[1] भी जैन शौरसेनी में है। इसमें १८७ गाथाएँ हैं और टीकाकार पद्मप्रभ मलधारीदेव के मतानुसार यह बारह अधिकारो मे विभक्त है। अनन्त सुख की इच्छावाले को कौन-कौन से नियम पालने चाहिए यह यहाँ दिखलाया गया है। नियम अर्थात् अवश्य करणीय। अवश्य करणीय से यहाँ अभिप्रेत है सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय। इसमें 'परमात्म' तत्त्व का अवलम्बन लेने का उपदेश दिया गया है। यही तत्त्व अन्तस्तत्त्व, कारणपरमात्मा, परम पारिणामिक भाव इत्यादि नाम से भी कहा जाता है।[2]

नियमसार मे निम्नलिखित विषयो की चर्चा की गई है :

आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व की उत्पत्ति, अठारह दोषो का उल्लेख, आगम यानी परमात्मा के मुख मे से निकला हुआ शुद्ध वचन, जीव आदि छ तत्त्वार्थ, ज्ञान एव दर्शनरूप उपयोग के प्रकार, स्वभाव-पर्याय एव विभाव-पर्याय, मनुष्य आदि के भेद, व्यवहार एव निश्चय से कर्तृत्व और भोक्तृत्व, पुद्गल आदि अजीव पदार्थों का स्वरूप, हेय एव उपादेय तत्त्व, शुद्ध जीव मे बन्ध-स्थान, उदय-स्थान, क्षायिक आदि चार भावो के स्थान, जीव-स्थान और मार्गणा-स्थान का अभाव, शुद्ध जीव का स्वरूप, ससारी जीव का सिद्ध परमात्मा से अभेद, सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान की व्याख्या, अहिंसा आदि पाँच महाव्रत की, ईर्या आदि पाँच समिति की तथा व्यवहार एव निश्चय-नय की अपेक्षा से मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति की स्पष्टता, पचपरमेष्ठी का स्वरूप, भेद-विज्ञान के द्वारा निश्चय-चारित्र की प्राप्ति, निश्चय-नय के अनुसार प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, चतुर्विध आलोचना, प्रायश्चित्त, परम समाधि (सामायिक) एव

---

१. पद्मप्रभ की सस्कृत टीका तथा श्री शीतलप्रसादजी कृत हिन्दी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय' की ओर से वि० स० १९७२ मे प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त Sacred Books of the Jainas सिरीज़ मे आरा से इसका अग्रेजी अनुवाद तथा श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद आदि के साथ 'जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट' सोनगढ से भी यह प्रकाशित हुआ है।

२. देखिए—गुजराती अनुवादवाली आवृत्ति का उपोद्घात, पृ० ६

परम भक्ति[1] का निरूपण, निश्चयनय के अनुसार आवश्यक कर्म[2], आभ्यन्तर और बाह्य जल्प, बहिरात्मा और अन्तरात्मा, व्यवहार एव निश्चयनय के अनुसार सर्वज्ञता,[3] केवलज्ञानी मे ज्ञान और दर्शन का एक ही समय मे सद्भाव,[4] सिद्ध का स्वरूप तथा सिद्ध होनेवाले की गति और उसका स्थान।

इसमे प्रतिक्रमण आदि जो आवश्यक गिनाये गये है उनकी अपेक्षा मूलाचार मे भेद है। उसमे आलोचना का उल्लेख नही है और परम भक्ति के बजाय स्तुति एव वन्दना का निर्देश है।[5]

९४ वी गाथा में पडिक्कमणसुत्त नाम की कृति का उल्लेख है। १७ वी गाथा में कहा है कि इसका विस्तार 'लोयविभाग' से जान लेना चाहिए। सर्वनन्दी आदि द्वारा रचित 'लोयविभाग' नाम की एकाधिक कृतियाँ है सही, परन्तु यहाँ तो पुस्तक-विशेष के बजाय लोकविभाग का सूचक साहित्य अभिप्रेत ज्ञात होता है।

टीका—पद्मप्रभ मलधारीदेव ने सस्कृत मे तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका लिखी है। इसमे उन्होने अमृताशीति, श्रुतबन्धु और मार्गप्रकाश मे से उद्धरण दिये है। इनके अतिरिक्त अकलक, अमृतचन्द्र, गुणभद्र, चन्द्रकीर्ति, पूज्यपाद, माधवसेन, वीरनन्दी, समन्तभद्र, सिद्धसेन और सोमदेव का भी उल्लेख आता है।

इस तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में मूल कृति को बारह श्रुतस्कन्धो मे विभक्त किया है। इस टीका मे प्रत्येक गाथा की गद्यात्मक व्याख्या के अनन्तर पद्य भी आते है। ऐसे पद्य कुल ३११ है। गुजराती अनुवाद वाली उपर्युक्त आवृत्ति मे ऐसे प्रत्येक पद्य को 'कलश' कहा है।

---

१ इस परमभक्ति के दो प्रकार है १ निर्वाणभक्ति (निर्वाण की भक्ति) और २ योगभक्ति (योग की भक्ति)।
२ १२१ वी गाथा मे निश्चय से कायोत्सर्ग का निरूपण है।
३ केवली सब जानता है और देखता है यह व्यवहारनय की दृष्टि से तथा केवली अपनी आत्मा को जानता है और देखता है यह निश्चयनय की दृष्टि से सर्वज्ञता है।
४ इस विषय मे सूर्य के प्रकाश और ताप का उदाहरण दिया गया है।
५ देखिए—पवयणसार का अंग्रेजी उपोद्घात, पृ० ४२

पचास्तिकायसार :

पचत्थिकायसंगहसुत्त[1] (पचास्तिकायसग्रहसूत्र) यानी पचत्थिकायसार[2] (पचास्तिकायसार) के कर्ता भी कुन्दकुन्दाचार्य हैं। पद्यात्मक जैन शौरसेनी मे रचित इस कृति के दो स्वरूप मिलते हैं : एक मे अमृतचन्द्रकृत टीका के अनुसार १७३ गाथाएँ हैं, तो दूसरे मे जयसेन और ब्रह्मदेवकृत टीका के अनुसार १८१ पद्य है। अन्तिम पद्य में यद्यपि 'पंचत्थिकायसगहसुत्त' नाम आता है, परन्तु दूसरा नाम विशेष प्रचार में है। इसके टीकाकार अमृतचन्द्र के मत से यह समग्र कृति दो श्रुतस्कन्धो में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १०४ गाथाएँ हैं, जबकि दूसरे मे १०५ से १७३ अर्थात् ६९ गाथाएँ है। प्रारम्भ के २६ पद्य पीठबन्धरूप हैं और ६४ वी आदि गाथाओ का निर्देश 'सिद्धान्तसूत्र' के नाम से किया गया है। सौ इन्द्रो द्वारा नमस्कृत जिनो को वन्दन करके इसका प्रारम्भ किया गया है। इसमें निम्नांकित विषय आते है

समय के निरूपण की प्रतिज्ञा, अस्तिकायो का समवाय (समूह) रूप 'समय', अस्तिकाय का लक्षण, पाँच अस्तिकाय और काल का निरूपण, द्रव्य के तीन लक्षण, द्रव्य, गुण एव पर्याय का परस्पर सम्बन्ध, विवक्षा के अनुसार द्रव्य की सप्तभगी, जीव द्रव्य के (अशुद्ध पर्याय की अपेक्षा से) भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभाव, व्यवहार-काल के समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और सवत्सर जैसे भेद, ससारी जीव का स्वरूप, सिद्ध का स्वरूप और उसका सुख, जीव का लक्षण[3], मुक्ति का स्वरूप, ज्ञान और दर्शन के प्रकार, ज्ञानी और ज्ञान का सम्बन्ध, ससारी जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व, जीव

---

१ यह कृति अमृतचन्द्रकृत तत्त्वदीपिका यानी समयव्याख्या नाम की सस्कृत टीका तथा हेमराज पाण्डे के बालावबोध पर से पन्नालाल बाकलीवाल-कृत हिन्दी अनुवाद के साथ 'रायचद्र जैन ग्रन्थमाला' मे १९०४ मे तथा अग्रेजी अनुवादसहित आरा से प्रकाशित हुई है। इसी ग्रन्थमाला मे प्रकाशित इसकी दूसरी आवृत्ति मे अमृतचन्द्र और जयसेन की सस्कृत टीकाएँ तथा हेमराज पाण्डे का बालावबोध छपा है। अमृतचन्द्र की टीका के साथ गुजराती अनुवाद 'दिगम्बर स्वाध्याय मन्दिर' से वि० स० २०१४ मे प्रकाशित हुआ है।

२. धवला मे 'पचत्थिकायसार' का उल्लेख है।

३ जो चार प्रकार के प्राणो द्वारा जीता है, जियेगा और पहले जीता था वह 'जीव' है।

के एक, दो ऐसे दस विकल्प, पुद्गल के स्कन्ध आदि चार प्रकार, परमाणु का स्वरूप, शब्द की पौद्गलिकता, धर्मास्तिकाय आदि का स्वरूप, रत्नत्रय के लक्षण, जीव आदि नौ तत्त्वो का निरूपण, जीव के भेद-प्रभेद, प्रशस्त राग और अनुकम्पा की स्पष्टता, व्यवहार एवं निश्चयनय की अपेक्षा से मोक्ष एव मोक्षमार्ग की विचारणा[1] तथा जीव का स्वसमय और परसमय मे प्रवर्तन।

स्वय कर्ता ने प्रस्तुत कृति को 'सग्रह' कहा है। इसमे परम्परागत पद्य कमो-वेशरूप मे सकलित किये गये हो ऐसा प्रतीत होता है। २७ वी गाथा मे जीव के जिस क्रम से लक्षण दिये है उसी क्रम से उनका निरूपण नही किया गया है। क्या सग्रहात्मकता इसका कारण होगी?

प्रस्तुत कृति की बारहवी गाथा का पूर्वार्ध सन्मति के प्रथम काण्ड की बारहवी गाथा के पूर्वार्ध की याद दिलात। है। पचत्थिकायसगह की गाथा १५ से २१ मे 'सत्' और 'असत्' विपयक वादो की अनेकान्तदृष्टि से जो विचारणा की गई है वह सन्मति के तृतीय काण्ड की गाथा ५० से ५२ मे देखी जाती है। इसकी २७ वी गाथा मे आत्मा का स्वरूप जैन दृष्टि से दिखलाया है; यही बात सन्मति के तीसरे काण्ड की गाथा ५४-५५ मे आत्मा के विषय मे छ मुद्दो का निर्देश करके कही गई है।[2] सन्मति के तीसरे काण्ड की ८ से १५ गाथाएँ कुन्दकुन्द के गुण और पर्याय की भिन्नतारूप विचार का खण्डन करनेवाली हैं ऐसा कहा जा सकता है। उसमे 'गुण' के प्रचलित अर्थ मे अमुक अश मे परिवर्तन देखा जा सकता है।

टीकाएँ—प्रस्तुत कृति पर अमृतचन्द्र ने तत्त्वदीपिका अथवा समयव्याख्या नाम की टीका लिखी है। इसमे टीकाकार ने कहा है कि द्रव्य मे प्रतिसमय परिवर्तन होने पर भी उसके स्वभाव अर्थात् मूल गुण को अबाधित रखने का कार्य 'अगुरुलघु' नामक गुण करता है। १४६ वी गाथा की टीका मे मोक्खपाहुड मे से एक उद्धरण उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त जयसेन,[3] ब्रह्मदेव,

१ इस विभाग को कई लोग 'चूलिका' भी कहते हैं।

२ देखिए—सन्मति-प्रकरण की प्रस्तावना, पृ० ६२

३ इनकी टीका का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है। इसकी पुष्पिका के अनुसार मूल कृति तीन अधिकारो मे विभक्त है। प्रथम अधिकार मे १११ गाथाएँ है और आठ अन्तराधिकार है, द्वितीय अधिकार में ५० है गाथाएँ और दस अन्तराधिकार है तथा तृतीय अधिकार मे २० गाथाएँ है और वह बारह

ज्ञानचन्द्र, मल्लिषेण और प्रभाचन्द्र[1] ने भी संस्कृत में टीकाएँ लिखी हैं।[2] इनके अलावा अज्ञातकर्तृक दो संस्कृत टीकाएँ भी हैं, जिनमें से एक का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है ऐसा उल्लेख जिनरत्नकोश (विभाग १, पृ० २३१) में है।

मूल कृति पर हेमराज पाण्डे ने हिन्दी में बालावबोध लिखा है।[3]

आठ पाहुड :

कई लोगों का मानना है कि कुन्दकुन्द ने ८४ पाहुड लिखे थे। यह बात सच मान लें, तो भी इन सब पाहुडों के नाम अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं।[4] यहाँ तो मैं जैन शौरसेनी में रचित पद्यात्मक आठ पाहुडों के विषय में ही कुछ कहूँगा। इन पाहुडों के नाम हैं १ दंसण-पाहुड, २ चारित्त-पाहुड, ३ सुत्त-पाहुड, ४. बोध-पाहुड, ५ भाव-पाहुड, ६ मोक्ख-पाहुड, ७. लिंग-पाहुड, ८ सील-पाहुड।[5]

१ **दंसणपाहुड (दर्शनप्राभृत)**—इसमें ३६ आर्या छन्द हैं। वर्धमान स्वामी को अर्थात् महावीर स्वामी को नमस्कार करके 'सम्यक्त्व का मार्ग संक्षेप में कहूँगा' इस प्रकार की प्रतिज्ञा के साथ इस कृति का प्रारम्भ किया गया है। इसमें सम्यक्त्व को धर्म का मूल कहा है। सम्यक्त्व के बिना निर्वाण की अप्राप्ति और भवभ्रमण होता है, फिर भले ही अनेक शास्त्रों का अभ्यास किया गया हो अथवा उग्र तपश्चर्या की गई हो—ऐसा कहकर सम्यक्त्व का महत्त्व

विभागों में विभक्त है। इस तरह इस टीका के अनुसार कुल १८१ गाथाएँ होती हैं। जयसेन की इस टीका का उल्लेख पयवणसार और समयसार की उनकी टीकाओं में है। इन तीनों में से पंचत्थिकायसंगह की टीका में सबसे अधिक उद्धरण आते हैं।

१ इनकी टीका का नाम 'प्रदीप' है।

२ कई लोगों के मत से देवजित ने भी संस्कृत में टीका लिखी है।

३ बालचन्द्र ने कन्नड में टीका लिखी है।

४ ये आठ पाहुड और प्रत्येक की संस्कृत छाया, दंसणपाहुड आदि प्रारम्भ के छ पाहुडों की श्रुतसागरकृत संस्कृत टीका, रयणसार और बारसाणुवेक्खा 'षट्प्राभृतादिसंग्रह' के नाम से माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए हैं।

५. तैंतालीस पाहुडों के नाम पवयणसार की अंग्रेजी प्रस्तावना (पृ० २५ के टिप्पण) में दिये गये हैं।

दिखलाया है। सम्यक्त्वी को ज्ञान की प्राप्ति और कर्म का क्षय शक्य है तथा वह वन्दनीय है। सम्यक्त्व विषय-सुख का विरेचन और समस्त दु ख का नाशक है—ऐसे कथन के द्वारा सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन किया है। व्यवहार की दृष्टि से जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित जीव आदि द्रव्यो की श्रद्धा सम्यक्त्व है, तो निश्चय की दृष्टि से आत्मा सम्यक्त्व है इत्यादि बाते यहाँ उपस्थित की गई है। २९ वी गाथा मे तीर्थंकर चौसठ चामरो से युक्त होते है और उनके चौतीस अतिशय होते है तथा ३५ वी गाथा मे उनकी देह १००८ लक्षणो से लक्षित होती है इस बात का उल्लेख है।

टीका—दसणपाहुड तथा दूसरे पाँच पाहुडो पर भी विद्यानन्दी के शिष्य और मल्लिभूषण के गुरुभाई श्रुतसागर ने[1] सस्कृत मे टीका लिखी है। दसणपाहुड की टीका (पृ० २७-८) मे १००८ लक्षणो मे से कुछ लक्षण दिये है।[2] दसणपाहुड आदि छः पाहुडो पर अमृतचन्द्र ने टीका लिखी थी ऐसा कई लोगो का मानना है।[3]

२. **चारित्तपाहुड** (**चारित्रप्राभृत**)—इसमे ४४ गाथाएँ है। इसकी दूसरी गाथा मे इसका नाम 'चारित्तपाहुड' कहा है, जबकि ४४ वे पद्य मे इसका 'चरणपाहुड' के नाम से निर्देश है। यह चारित्र एव उसके प्रकार आदि पर प्रकाश डालता है। इसमे चारित्र के दर्शनाचारचारित्र और सयमचरणचारित्र ऐसे दो प्रकार बतलाये है। नि शकित आदि का सम्यक्त्व के आठ गुण के रूप मे उल्लेख है।

सयमचरणचारित्र के दो भेद है सागार और निरागार। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह सागार अर्थात् गृहस्थो का चारित्र है, जबकि पाँच इन्द्रियो का सवरण, पाँच महाव्रतो का पालन तथा पच्चीस

---

१ इनका परिचय इन्ही की रचित औदार्यचिन्तामणि इत्यादि विविध कृतियो के निर्देश के साथ मैंने 'जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास' (खण्ड १ सार्वजनीन साहित्य पृ० ४२-४, ४६ और ३००) मे दिया है। श्रुतसागर विक्रम की १६ वी सदी मे हुए है।

२ उदाहरणार्थ—W. Deneke देखिए—Festgabe Jacobi (p. 163 f)

३ देखिए—प्रो० विन्टर्नित्स का ग्रन्थ History of Indian Literature, Vol II, p 577

क्रियाओ (भावनाओ), पाँच समितियो और तीन गुप्तियो का पालन—यह निरागार अर्थात् साधुओ का चारित्र है। पाँच महाव्रतो में से अहिंसा आदि प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ गिनाई हैं। सम्यक्त्वप्राप्त जीव ज्ञानमार्ग पर है, वह पापाचरण नही करता और अन्त मे मोक्ष प्राप्त करता है ऐसा इसमे कहा गया है।

इसकी सातवी गाथा 'अतिचार की आठ गाथा' के नाम से प्रसिद्ध श्वेताम्बरीय प्रतिक्रमणसूत्र की तीसरी गाथा के रूप मे देखी जाती है।

टीका—चारित्तपाहुड पर श्रुतसागर की टीका है।

३. सुत्तपाहुड (सूत्रप्राभृत)—यह २७ गाथाओ की कृति है। इसमें कहा है कि जैसे सूत्र (डोरे) मे युक्त सूई हो तो वह नष्ट नही होती—गुम नही होती, वैसे ही सूत्र का ज्ञाता ससार मे भटकता नही है—वह भव अर्थात् ससार का नाश करता है। सूत्र का अर्थ तीर्थंकर ने कहा है। जीवादि पदार्थों मे से हेय और उपादेय को जो जानता है वह 'सद्दृष्टि' है। तीर्थंकरो ने अचेलकता और पाणिपात्रता का उपदेश दिया है, अत इनसे भिन्न मार्ग मोक्षमार्ग नही है। जो सयमी आरम्भ-परिग्रह से विरक्त और बाईस परीषहो को सहन करनेवाले हो वे वन्दनीय है, जबकि जो लिंगी दर्शन और ज्ञान के योग्य धारक हो परन्तु वस्त्र धारण करते हो वे 'इच्छाकार' के योग्य है। सचेलक को, फिर भले ही वह तीर्थंकर ही हो, मुक्ति नही मिलती। स्त्री के नाभि इत्यादि स्थानो मे सूक्ष्म जीव होते है, अत वह दीक्षा नही ले सकती। जिन्होने इच्छा के ऊपर काबू प्राप्त किया है वे सब दु खो से मुक्त होते है। इस कथन से यह जाना जा सकता है कि इस पाहुड मे अचेलकता एव स्त्री की दीक्षा की अयोग्यता के ऊपर भार दिया गया है।

टीका—इसकी टीका के रचयिता श्रुतसागर है।

४ बोधपाहुड (बोधप्राभृत)—इसमे ६२ गाथाएँ है। इसका प्रारम्भ आचार्यों के नमस्कार से होता है। इसकी तीसरी और चौथी गाथा मे इसमे आनेवाले ग्यारह अधिकारो का निर्देश है। इनके नाम इस प्रकार है

१. आयतन, २ चैत्यगृह, ३ जिनप्रतिमा, ४ दर्शन, ५ जिनबिम्ब, ६ जिनमुद्रा, ७ ज्ञान, ८ देव, ९ तीर्थ, १० तीर्थंकर और ११ प्रव्रज्या।

२३ वी गाथा मे कहा है कि जिसके पास मतिज्ञानरूपी स्थिर धनुष है, श्रुतज्ञानरूपी प्रत्यचा है और रत्नत्रयरूपी बाण हैं तथा जिसका लक्ष्य परमार्थ के विषय मे बद्ध है वह मोक्षमार्ग से स्खलित नही होता।

अन्तिम गाथा मे श्रुतकेवली भद्रबाहु का बारह अगो एव चौदह पूर्वों के धारक तथा गमको के गुरु के रूप मे निर्देश है।

५१ वी गाथा मे प्रव्रज्या को जन्म-समय के स्वरूपवाली अर्थात् नग्नरूप, आयुधरहित, शान्त और अन्य द्वारा निर्मित गृह मे निवास करनेवाली कहा है।

टीका—इसपर श्रुतसागर की टीका है। अन्तिम तीन गाथाओ को उन्होने 'चूलिका' कहा है। पृ० १६६ पर पद्मासन और सुखासन के लक्षण दिये है।

५ भावपाहुड (भावप्राभृत)—इसमें १६३ पद्य है और उनमे से अधिकाश आर्या छन्द में है। इस दृष्टि से उपलब्ध सभी (आठो) पाहुडो मे यह सबसे बडा है। केवल इसी दृष्टि से नही, परन्तु दूसरी भी अनेक दृष्टियो से यह विशेष महत्त्व का है। इसकी पहली गाथा में 'भावपाहुड' शब्द दृष्टिगोचर होता है। भाव अर्थात् परिणाम की विशुद्धि। इस पाहुड मे इस तरह की विशुद्धि से होनेवाले विविध लाभ तथा विशुद्धि के अभाव से होनेवाली विभिन्न प्रकार की हानियाँ विस्तार से दिखलाई है। बाह्य नग्नत्व की तनिक भी कीमत नही है, भीतर से आत्मा दोषमुक्त अर्थात् नग्न बना हो तभी बाह्य नग्नत्व सार्थक है, भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग निरर्थक है—यह बात स्पष्ट रूप से उपस्थित की गई है।

सच्चा भाव उत्पन्न न होने से ससारी जीव ने नरक और तिर्यञ्च गति मे अनेकविध यातनाएँ सहन की है और मनुष्य तथा देव के भी कष्ट उठाये है। समस्त लोक मे, मध्यभाग मे गोस्तन (गाय के थन) के आकार के आठ प्रदेशो को छोडकर, यह जीव सर्वत्र उत्पन्न हुआ है।[1] उसने अनन्त भवो में जननी का जो दूध पीया है, उसकी मृत्यु से माताओ ने जो आँसू बहाये है, उसके जो केश और नाखून काटे गये है तथा उसने जो शरीर धारण किये है उनका परिमाण बहुत ही विशाल है। एक अन्तर्मुहूर्त मे उसने निगोद के रूप मे ६६३३६ बार, द्वीन्द्रिय के रूप में ८० बार, त्रीन्द्रिय के रूप मे ६० बार और चतुरिन्द्रिय के रूप मे ४० बार मरण का अनुभव किया है।[2] इसके अलावा, वह पासत्थ (पार्श्वस्थ) भावना से अनेक बार दु खी हुआ है।

बाहुबली को गर्व के कारण केवलज्ञान की अप्राप्ति, निदान के कारण मधुपिंग मुनि को सच्चे श्रमणत्व का अभाव और वसिष्ठ मुनि का दु ख सहना,

---

१ देखिए, गाथा ३६. २ देखिए, गाथा २८–९.

दण्डक नामक नगर को आभ्यन्तर दोष के कारण जलाने से जिनलिंगी बाहु का रौरव नरक मे पडना, सम्यक्त्व आदि से पतित होने पर दीपायन श्रमण का भव-भ्रमण, युवतियो से परिवृत्त होने पर भी भावश्रमण शिवकुमार की अल्प ससारिता, श्रुतकेवली भव्यसेन[1] को सम्यक्त्व के अभाव मे भावश्रमणत्व की अप्राप्ति तथा तुसमास (तुषमाष) की[2] उद्घोषणा करनेवाले शिवभूति की भावविशुद्धि के कारण मुक्ति—इस प्रकार विविध दृष्टान्त यहाँ दिये गये हैं।

१८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ वैनयिक—इस प्रकार कुल ३६३ पाखण्डियो का निर्देश करके उनके मार्गको उन्मार्ग कहकर जिनमार्ग मे मन को लगाने का उपदेश दिया है।

शालिसिक्थ मत्स्य (तन्दुल-मत्स्य) अशुद्ध भाव के कारण महानरक मे गया, ऐसा ८६ वी गाथा मे कहा है।

मोक्षप्राप्ति के लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विचार करना चाहिए। कर्मरूप बीज का नाश होने पर मोक्ष मिलता है।[3] आत्मा जब परमात्मा बनता है तब वह ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा जाता है (देखिए, गाथा १४९)। रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए पाँच ज्ञान की विचारणा, कषाय और नोकषाय का त्याग, तीर्थंकर-नामकर्म के उपार्जन के सोलह कारणो का परिशीलन, बारह प्रकार की तपश्चर्या का सेवन, शुद्ध चारित्र का पालन, परीषहो का सहन, स्वाध्याय, बारह अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन, जीव आदि सात तत्त्व और नौ पदार्थो का ज्ञान, चौदह गुणस्थानो की विचारणा तथा दशविध वैयावृत्य इत्यादि का इसमे उल्लेख है। मन शुद्ध हो तो अर्थ आदि चार पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं ऐसा १६२ वे पद्य मे कहा है।

---

१. पृ० १९८ पर श्रुतसागर ने कहा है कि भव्यसेन ग्यारह अगो का धारक होने से चौदह पूर्व के अर्थ का ज्ञाता था। इसी से यहाँ उसे श्रुतकेवली कहा है।

२ तुष अर्थात् छिलके से जिस तरह माष अर्थात् उडद भिन्न है, उसी तरह शरीर से आत्मा भिन्न है इस बात के सूचक तुषमाष का उच्चारण करनेवाले केवल छ प्रवचनमात्रा के ज्ञाता परम वैराग्यशाली शिवभूति थे, ऐसा श्रुतसागर ने टीका (पृ० २०७) मे कहा है। यह श्वेताम्बरो को 'मा तुस मा रुस' कथा का स्मरण कराती है।

३. यह बात १२४ वी गाथा मे कही गई है। यह तत्त्वार्थसूत्र (अ० १०, सू० ७) के स्वोपज्ञ भाष्य के आठवें श्लोक का स्मरण करती है।

इस भावपाहुड में चारित्तपाहुड और बोधपाहुड की तरह व्यवस्थित निरूपण नही है। ऐसा ज्ञात होता है कि इसमे सग्रह को विशेष स्थान दिया गया है। लिंग का निरूपण लिगपाहुड मे भी देखा जाता है। भावपाहुड मे दूसरे सभी पाहुडो की अपेक्षा जैन पारिभाषिक शब्दो तथा दृष्टान्तो का आधिक्य है। गुणभद्रकृत आत्मानुशासन मे तथा भावपाहुड में बहुत साम्य है।

टीका—इस पर श्रुतसागर की टीका है।

६ **मोक्खपाहुड (मोक्षप्राभृत)**—इसमे १०६ पद्य है[१]। अन्तिम पद्य मे इस कृति का नाम दिया गया है। इसमे परमात्मा का स्वरूप वर्णित है और उस स्वरूप का ज्ञान होने पर मुक्ति मिलती है ऐसा कहा है। आत्मा के पर, आभ्यन्तर और बाह्य ऐसे तीन स्वरूपो का निर्देश करके इन्द्रियरूपी बहिरात्मा का परित्याग कर कर्मरहित परमात्मा का ध्यान धरने का उपदेश दिया गया है। स्वद्रव्य एव परद्रव्य की स्पष्टता न करने से हानि होती है ऐसा इसमें प्रतिपादन किया गया है।

खान में से[२] निकलने वाले सुवर्ण मे और शुद्ध किये गये सुवर्ण मे जैसा अन्तर है वैसा अन्तर अन्तरात्मा और परमात्मा मे है। जो योगी व्यवहार मे सोया हुआ है अर्थात् व्यवहार मे नही पडा है वह अपने कार्य के विषय मे जाग्रत है और जो व्यवहार में जाग्रत है अर्थात् लोकोपचार मे सावधान है वह योगी आत्मा के कार्य में सोया हुआ है। अत. सच्चा योगी सब प्रकार के व्यवहारो से सर्वथा मुक्त होकर परमात्मा का ध्यान करता है। पुण्य और पाप का परिहार 'चारित्र' है। सम्यक्त्वादि रत्नत्रय प्राप्त किये बिना उत्तम ध्यान अशक्य है। धर्मध्यान आज भी शक्य है। उग्र तप करनेवाले अज्ञानी को जिस कर्म का क्षय करने मे अनेक भव लगते है उस कर्म का क्षय तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी अन्तर्मुहूर्त मे करता है। जो अचेतन पदार्थ को सचेतन मानता है वह अज्ञानी है, जबकि चेतन द्रव्य मे जो आत्मा को मानता है वह ज्ञानी है। बिना तप का ज्ञान और बिना ज्ञान का तप भी निरर्थक है, अत ज्ञान और तप दोनो से युक्त होने पर ही मुक्ति मिलती है।

१ कुछ पद्य अनुष्टुप् में है। अधिकाश भाग आर्या छन्द मे है।

२ २४ वें पद्य की टीका (पृ० ३२०) मे श्रुतसागर ने शीशे से सोना बनाने की विधि की सूचक एक प्राचीन गाथा उद्धृत करके उसका विवेचन किया है।

इस प्राभृत की गई गाथाओ का समाधिशतक के साथ साम्य देखा जाता है। यदि इस पाहुड के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य ही हो तो पूज्यपाद ने इसका उपयोग किया है ऐसा कहा जा सकता है।

टीका—श्रुतसागरलिखित इसकी टीका है।

७ लिंगपाहुड (लिंगप्राभृत)—इसमे २२ गाथाएँ है। अन्तिम गाथा में 'लिंगपाहुड' नाम देखा जाता है। सच्चा श्रमण किसे कहते है, यह इसमे समझाया है। भावलिंगरूप साधुता से रहित द्रव्यलिंग व्यर्थ है ऐसा यहाँ कहा गया है। साधु-वेश मे रहकर जो नाचना, गाना इत्यादि कार्य करे वह साधु नही, किन्तु तिर्यंच है, जो श्रमण अब्रह्म का आचरण करे वह ससार मे भटकता है, जो विवाह कराये, कृषिकर्म, वाणिज्य और जीवघात कराये वह द्रव्यलिंगी नरक में जाता है—ऐसे कथन द्वारा इसमे कुसाधु का स्वरूप चित्रित किया है। लिंगविषयक निरूपण, अमुक अश मे भावपाहुड मे देखा जाता है।

टीका—लिंगपाहुड एव सीलपाहुड पर एक भी सस्कृत टीका यदि रची गई हो तो वह प्रभाचन्द्र की मानी जाती है।

८ सीलपाहुड (शीलप्राभृत)—इस कृति मे ४० गाथाएँ है। इसमें शील का महत्त्व दिखलाया गया है। प्रथम गाथा मे शील के—ब्रह्मचर्य के गुण कहने की प्रतिज्ञा है। दूसरी गाथा मे कहा है कि शील का ज्ञान के साथ विरोध नही है। पाँचवी गाथा मे ऐसा उल्लेख है कि चारित्ररहित ज्ञान, दर्शनरहित लिंगग्रहण और सयमरहित तप निरर्थक है। सोलहवी गाथा में व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार और न्यायशास्त्र का उल्लेख है। उन्नीसवे पद्य में जीवदया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप को शील का परिवार कहा है। दशपूर्वी सुरत्तपुत्त (सात्यकिपुत्र) विषयलोलुपता के कारण नरक मे गया, ऐसा तीसवी गाथा मे कहा है।

इस प्रकार आठो पाहुडो का सक्षिप्त परिचय हुआ।[1] ये कुन्दकुन्दरचित ही है या नही इसका निर्णय करने के लिए विशिष्ट साधन की अपेक्षा है। ये सब कमोबेश रूप मे सग्रहात्मक कृतियाँ है। इनका समीक्षात्मक सस्करण प्रकाशित होना चाहिए। कई पाहुडो मे अपभ्रश के चिह्न देखे जाते है। पाहुडो का उपयोग उत्तरकालीन ग्रन्थकारो ने किया है। जोइन्दु की कृति पाहुडो का स्मरण कराती है।

---

१. अग्रेजी मे परिचय के लिए देखिए—पवयणसार की अग्रेजी प्रस्तावना, पृ० २९–३७.

जीवसमास :

इस ग्रन्थ[1] के कर्ता का नाम अज्ञात है, किन्तु वह पूर्वधर थे ऐसा माना जाता है। जैन महाराष्ट्री मे रचित इस कृति मे २८६ आर्या छन्द है। इनके अतिरिक्त कोई-कोई गाथा प्रक्षिप्त भी है। ऐसी एक गाथा का निर्देश मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने इसकी टीका के अन्त (पत्र ३०१) मे किया है और उसकी व्याख्या भी की है, यद्यपि ऐसा करते समय उन्होने सूचित किया है कि पूर्व टीका में इसकी व्याख्या उपलब्ध नही होती। 'वलभी' वाचना का अनुसरण करनेवाली इस कृति का आरम्भ चौवीस तीर्थकरो के नमस्कार से होता है। प्रारम्भ की गाथा में अनन्त जीवो के चौदह समास यानी सक्षेप के वर्णन की प्रतिज्ञा की है। चार निक्षेप, छ तथा आठ अनुयोगद्वार; गति, इन्द्रिय इत्यादि चौदह मार्गणाओ द्वारा जीवसमासो का बोध, आहार, भव्यत्व इत्यादि की अपेक्षा से जीवो के प्रकार, मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान, नारक आदि के प्रकार, पृथ्वीकाय आदि के भेद, धर्मास्तिकाय आदि अजीव के भेद, अगुल के तीन प्रकार, काल के समय, आवलिका इत्यादि भेदो से लेकर पल्योपम आदि का स्वरूप, सख्या के भेद-प्रभेद[2], ज्ञान, दर्शन, नय और चारित्र के प्रकार, नारक आदि जीवो का मान, समुद्घात, नारक आदि का आयुष्य और उसका विरह-काल तथा गति, वेद इत्यादि की अपेक्षा से जीवो का और प्रदेश की अपेक्षा से अजीव पदार्थो का अल्प-बहुत्व—इन विषयो का निरूपण इसमे आता है।

गाथा ३०, ३६, ६५ इत्यादि[3] में पृथ्वीकाय आदि के जो प्रकार कहे है वे उपलब्ध आगमो मे दिखाई नही पडते।

टीका—जीवसमास पर विशेषावश्यकभाष्य इत्यादि के टीकाकार मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने वि० सं० ११६४ मे या उसके आसपास ६६२७ श्लोक-परिमाण वृत्ति लिखी है। इसके पहले एक वृत्ति और एक टीका लिखी गई थी ऐसा ४७वी तथा १५८वी गाथा पर की इस वृत्ति के उल्लेख से ज्ञात होता है[4], परन्तु

---

१ यह मलधारी हेमचन्द्र की वृत्ति के साथ 'आगमोदय समिति' की ओर से १९२७ मे प्रकाशित हुई है। इसके प्रारम्भ मे लघु एव बृहद् विषयानुक्रम भी दिया गया है।

२ कुल इक्कीस भेद।

३ देखिए—मुद्रित आवृत्ति का उपोद्घात, पत्र ११.

४ देखिए—अनुक्रम से पत्र ३३ और १५५.

इन दोनो मे से एक भी अब तक उपलब्ध नही हुई है। उपर्युक्त वृत्ति का 'मूल-वृत्ति' और टीका का 'अर्वाचीन टीका' के नाम से हेमचन्द्रसूरि ने अपनी वृत्ति मे निर्देश किया है।

जीववियार (जीवविचार)

जैन महाराष्ट्री मे ५१ आर्या छन्दों मे रचित इस कृति[1] की ५०वी गाथा में कर्ता ने श्लेष द्वारा अपना 'शान्तिसूरि' नाम सूचित किया है। इसके अतिरिक्त इनके विषय मे दूसरा कुछ ज्ञात नही। प्रो० विन्टर्निट्स ने इनका स्वर्गवास १०३९ में होने का लिखा है[2], परन्तु यह विचारणीय है।

प्रस्तुत कृति मे जीवो के ससारी और सिद्ध ऐसे दो भेदो का निरूपण करके उनके प्रभेदो का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त ससारी जीवो के आयुष्य, देहमान, प्राण, योनि इत्यादि का विचार किया गया है।

टीकाएँ—खरतरगच्छ के चन्द्रवर्धनगणी के प्रशिष्य और मेघनन्दन के शिष्य पाठक रत्नाकर ने सलेमसाह के राज्य मे वि० स० १६१० मे घल्लू मे प्राकृत वृत्ति के आधार पर सस्कृत मे वृत्ति रची थी। यह सस्कृत वृत्ति प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु प्राकृत वृत्ति अबतक मिली नही है। उपर्युक्त मेघनन्दन ने वि० स० १६१० मे वृत्ति रची थी ऐसा जो उल्लेख जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १४२) मे है वह भ्रान्त प्रतीत होता है। वि० स० १६९८ मे समयसुन्दर ने भी एक वृत्ति लिखी थी। ईश्वराचार्य ने अर्थदीपिका नाम की टीका लिखी है और उसके आधार पर भावसुन्दर ने भी एक टीका लिखी है। इनके अतिरिक्त क्षमाकल्याण ने

---

१. भीमसी माणेक ने लघुप्रकरणसग्रह मे वि० स० १९५९ मे यह प्रकाशित किया है। एक अज्ञातकर्तृक टीका के साथ यह जैन आत्मानन्द सभा की ओर से प्रकाशित किया गया है। इनके सिवाय मूल कृति तो अनेक स्थानो से प्रकाशित हुई है। सस्कृत छाया तथा पाठक रत्नाकरकृत वृत्ति के साथ मूल कृति 'यशोविजय जैन सस्कृत पाठशाला' मेहसाणा ने १९१५ मे प्रकाशित की थी। मूल कृति, सस्कृत छाया, पाठक रत्नाकर की वृत्ति (प्रशस्तिरहित), जयन्त पी० ठाकर के मूल के अनुवाद तथा वृत्ति के अग्रेजी साराश के साथ यह 'जैन सिद्धान्त सोसायटी' अहमदाबाद की ओर से १९५० मे प्रकाशित हुआ है।

२. देखिए—A History of Indian Literature, Vol II p 588.

वि० स० १८५० मे तथा किसी अज्ञात लेखक ने प्रदीपिका नाम की अवचूरि-टीका लिखी है।

इसका फ्रेंच अनुवाद गेरिनो (Guarınot) ने किया है और वह 'जर्नल एशियाटिक' मे मूल के साथ १९०२ मे प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त जयन्त पी० ठाकर के द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। इसके अलावा गुजराती एव हिन्दी अनुवाद भी कई स्थानो से प्रकाशित हुए है।

पण्णवणातइयपयसगहणी (प्रज्ञापनातृतीयपदसग्रहणी) ·

यह १३३ पद्य की जैन महाराष्ट्री मे रचित सग्रहात्मक कृति[1] है। इसके सग्रहकर्ता नवागीवृत्तिकार अभयदेवसूरि है। इन्होने पण्णवणा (प्रज्ञापना) के ३६ पदो मे से 'अप्पबहुत्त' (अल्पबहुत्व) नाम के तीसरे पद को लक्ष्य मे रखकर जीवो का २७ द्वारो द्वारा अल्पबहुत्व दिखलाया है।

टीकाएँ—कुलमण्डनसूरि ने वि० स० १४७१ में इसकी अवचूर्णि लिखी है। इसके अतिरिक्त ज्ञानविजय के शिष्य जीवविजय ने वि० स० १७८४ मे इस सग्रहणी पर बालावबोध भी लिखा है।

जीवाजीवाभिगमसंगहणी (जीवाजीवाभिगमसग्रहणी) :

अज्ञातकर्तृक इस कृति में २२३ पद्य हैं। इसकी एक ही हस्तलिखित प्रति का जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १४३) मे उल्लेख है और वह सूरत के एक भण्डार मे है। प्रति को देखने पर ही इसका विशेष परिचय दिया जा सकता है, परन्तु नाम से तो ऐसा अनुमान होता है कि इसमे जीवाजीवाभिगम सूत्र के विषयो का सग्रह होगा।

जम्बूद्वीपसमास :

इस कृति[2] के कर्ता वाचक उमास्वाति है ऐसा कई विद्वानो का कहना है। इसे क्षेत्रसमास भी कहते है। इसके प्रारम्भ मे एक पद्य है, जबकि बाकी का

१ यह अवचूरि के साथ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर ने वि०स० १९७४ मे प्रकाशित की है।

२. यह सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम के साथ 'बिब्लियोथिका इण्डिका' सिरीज मे बगाल रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से विजयसिंहसूरिरचित टीका के साथ १९०३ मे प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त इसी टीका के साथ मूल कृति 'सत्यविजय ग्रन्थमाला' अहमदाबाद से भी १९२२ मे प्रकाशित हुई है।

सारा भाग गद्य मे है। यह चार आह्निक मे विभक्त है। इसमे भरत क्षेत्र, हिमवत् (पर्वत), हैमवत (क्षेत्र), महाहिमवत् (पर्वत), हरिवर्ष (क्षेत्र), निषध (पर्वत), नीलगिरि (पर्वत), रम्यक (क्षेत्र), रुक्मिन् (पर्वत), हैरण्यवत (क्षेत्र), शिखरिन् (पर्वत), ऐरावत (क्षेत्र), मेरु, वक्षस्कार, उत्तरकुरु, देवकुरु, ३२ विजय, लवणसमुद्र, घातकीखण्ड, कालोदधि, पुष्करार्ध, नन्दीश्वर द्वीप और परिधि इत्यादि से सम्बद्ध सात करणो के विषय मे जानकारी दी गई है।

टीका—प्रस्तुत कृति पर हरिभद्रसूरि के शिष्य विजयसिंहसूरि ने वि० स० १२१५ मे टीका लिखी है। इसके प्रारम्भ मे सात और अन्त मे सोलह (४ + १२) की प्रशस्ति है। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति २८८० श्लोक-परिमाण की है।[1]

समयखित्तसमास (समयक्षेत्रसमास) अथवा खेत्तसमास (क्षेत्रसमास)

वि० स० ५४५ से ६५० मे होनेवाले जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणरचित यह कृति[2] जैन महाराष्ट्री मे है और इसमे ६३७ गाथाएँ (पाठान्तर के अनुसार ६५५ गाथाएँ) हैं।[3]

प्रस्तुत कृति अपने नाम 'समयखित्तसमास' के अनुसार समयक्षेत्र का अर्थात् जितने क्षेत्र मे सूर्य आदि के गति के आधार पर समय की गणना की जाती है उतने क्षेत्र का यानी ढाई द्वीप का—मनुष्य लोक का निरूपण करती है। इसमे

---

१ देखिए—जिन-रत्नकोश, विभाग १, पृ० ९८

२ मलयगिरि की टीका के साथ यह ग्रन्थ वि० स० १९७७ में जैनधर्म प्रसारक सभा ने बृहत्क्षेत्रसमास के नाम से छपवाया है। उसमे मूल ग्रन्थ पाँच अधिकारो मे विभक्त किया गया है जिनमे क्रमश ३९८, ९०, ८१, ११ और ७६ (कुल ६५६) पद्य हैं।

३ इस पर मलयगिरि ने जो टीका लिखी है उसमे उपान्त्य गाथा मे आनेवाले ६३७ के उल्लेख को ही लक्ष्य मे रखा है, न कि पाठान्तर को। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस तरह उन्हे ६३७ की पद्य-सख्या तो मान्य है, परन्तु टीका ६५६ पद्य की ही है। उन्होने कही भी क्षेपक पद्यो का निर्देश नही किया है। यदि ऐसा ही मान लिया जाय, तो १९ अधिक पद्य कौन-से हैं इसका निर्णय करना बाकी रह जाता है।

पाँच अधिकार हैं और क्रमशः जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि और पुष्करवर द्वीप के आधे भाग के बारे में जानकारी दी गई है। प्रथम अधिकार में प्रसंगवश सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति के विषय में तथा द्वितीय अधिकार में ५६ अन्तर्द्वीपों के बारे में विस्तृत निरूपण है। इस प्रकार इसमें खगोल और भूगोल की चर्चा आती है। इसमें जो प्राचीन[1] करणसूत्र[2] हैं वे इसके महत्त्व में अभिवृद्धि करते हैं।

टीकाएँ—प्रस्तुत कृति पर आठ वृत्तियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से एक तो अज्ञातकर्तृक है। अवशिष्ट वृत्तियों के कर्ता के नाम और उनके रचना-समय का उल्लेख इस प्रकार है :

हरिभद्रसूरि (वि० सं० ११८५), सिद्धसूरि (वि० सं० ११९२), मलयगिरिसूरि (वि० सं० १२०० लगभग), विजयसिंह (वि० सं० १२१५), देवभद्र (वि० सं० १२३३), देवानन्द (वि० सं० १४५५) और आनन्दसूरि।

इनमें से हरिभद्रसूरि के अतिरिक्त बाकी के वृत्तिकारों की वृत्ति का ग्रन्थाग्र (श्लोक-परिमाण) अनुक्रम से ३०००, ९८८७, ३२५६, १०००, ३३३२ और २००० श्लोक है। इन सब में मलयगिरिकृत टीका (वृत्ति) सबसे बड़ी है। इसके प्रारम्भ में तीन[3] और अन्त में पाँच[4] श्लोक प्रशस्तिरूप हैं।

क्षेत्रविचारणा :

इसे नरखित्तपयरण (नरक्षेत्रप्रकरण)[5] तथा लघुक्षेत्रसमास[6] भी कहते हैं। २६४ पद्य में जैन महाराष्ट्री में रचित इस ग्रन्थ के प्रणेता रत्नशेखरसूरि हैं। यह

---

१ उदाहरणार्थ देखिए—पद्य ७, १३, १४ आदि।

२ इन करणसूत्रों की व्याख्या 'जम्बूद्वीपकरणचूर्णि' में देखी जाती है। इस चूर्णि में अन्य करणसूत्रों का भी स्पष्टीकरण है।

३ प्रथम पद्य में जिनवचन की तथा द्वितीय में जिनभद्रगणी की प्रशंसा है।

४. इसके आरम्भ के तीन पद्यों में भी जिनभद्रगणी की प्रशंसा है।

५ यह कृति जैन आत्मानन्द सभा ने स्वोपज्ञवृत्ति के साथ वि० सं० १९७२ में प्रकाशित की है।

६ इस नाम से एक कृति मुक्ति-कमल-जैन-मोहनमाला में वि० सं० १९९० में छपी है। उसमें चन्दुलाल नानचन्दकृत गुजराती विवेचन तथा यन्त्रों एवं चित्रों को स्थान दिया गया है।

वज्रसेनसूरि के शिष्य तथा हेमतिलकसूरि के पट्टधर थे। इन्होंने वि० स० १४२८ में सिरिवालकहा और वि० स० १४४७ मे गुणस्थानक्रमारोह लिखे हैं।

प्रस्तुत कृति जिनभद्रीय समयखित्तसमास के आधार पर तैयार की गई है, अत. इन दोनो मे विषय की समानता है।

टीकाएँ—इस पर लिखी गई स्वोपज्ञवृत्ति का परिमाण १६०० श्लोक का है। इस वृत्ति मे समयखित्तसमास की मलयगिरिसूरिकृत टीका का आधार लिया गया है। इस पर अज्ञातकर्तृक एक टिप्पण भी है। इसे अवचूरि भी कहते है। इसके अतिरिक्त पार्श्वचन्द्र ने[1] तथा उदयसागर ने एक-एक बालावबोध भी लिखा है।

खेत्तसमास (क्षेत्रसमास)

इसकी रचना देवानन्द (वि० स० १३२०) ने की है।[2] इस नाम की दूसरी भी कितनी ही प्राकृत पद्य रचनाएँ मिलती हैं। जिनके कर्ता एव गाथा-सख्या निम्नाकित है

१.	सोमतिलकसूरि[3]	गाथा ३८७
२.	पद्मदेवसूरि	गाथा ६५६
३	श्रीचन्द्रसूरि	गाथा ३४१

देवानन्द का क्षेत्रसमास सात विभागो मे विभक्त है। इस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी है।

जम्बूदीवसगहणी (जम्बूद्वीपसग्रहणी)

जैन महाराष्ट्री मे २९ पद्यो मे रचित इस कृति[4] के कर्ता हरिभद्रसूरि है।[5] इन्होंने इसमे जम्बूद्वीप के विषय मे जानकारी प्रस्तुत की है। इसमे निम्नलिखित दस द्वारो का निरूपण किया गया है -

---

१. इनके नाम से एक नया गच्छ चला है।
२. इसी वर्ष में चन्द्रप्रभ ने क्षेत्रसमास नाम की कृति लिखी है।
३ इनकी इस कृति को नव्यक्षेत्रसमास या बृहत्क्षेत्रसमास भी कहते है।
४. यह प्रभानन्दसूरि की वृत्ति के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९१५ में प्रकाशित की है।
५. यही आचार्य अनेकान्तजयपताका के प्रणेता है या अन्य, यह जानना बाकी रहता है।

१ खण्ड, २ योजन, ३. क्षेत्र, ४ पर्वत, ५ कूट (शिखर), ६. तीर्थ, ७ श्रेणि, ८ विजय, ९ द्रह और १० नदी।

टीकाएँ—इस कृति पर तीन वृत्तियाँ मिलती है, जिनमे से दो अज्ञात-कर्तृक है। तीसरी वृत्ति कृष्ण गच्छ के प्रभानन्दसूरि ने वि० स० १३९० मे लिखी थी। इसके प्रारम्भ मे प्रस्तुत कृति का क्षेत्रसग्रहणी और अन्त की प्रशस्ति मे क्षेत्रादिसग्रहणी के नाम से निर्देश है।

सगहणी (सग्रहणी अथवा बृहत्सग्रहणी) ·

इसके कर्ता विशेपावश्यकभाष्य, समयक्षेत्रसमास आदि मननीय कृतियो के प्रणेता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण है।

स्वय कर्ता ने पहली गाथा मे प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'सगहणी'[1] कहा है, परन्तु इसके पश्चात् रचित अन्य सग्रहणियो से इसका भेद दिखलाने के लिए इसे 'बृहत्सग्रहणी' कहा जाता है।

जैन महाराष्ट्री मे रचित इस सग्रहणी मे ऊपर-ऊपर से देखने पर ३६७ गाथाएँ है, परन्तु गा० ७३ और ७९ पर की विवृत्ति मे मलयगिरि द्वारा किये गये उल्लेख से ज्ञात होता है कि ७३ से ७९ तक की सात गाथाएँ प्रक्षिप्त है। इनके अतिरिक्त ९, १०, १५, १६, ६८, ६९ और ७२ ये सात गाथाएँ मलयगिरि ने अन्यकर्तृक कही है। इनमे से अन्तिम तीन गाथाएँ अर्थात् ६८, ६९ और ७२ सूरपण्णत्ति की है। इस हिसाब से सग्रहणी मे ३५३ गाथाएँ जिनभद्र की है। कई लोगो के मत से मूल गाथाएँ लगभग २७५ थी किन्तु कालान्तर मे किसी-न-किसी के द्वारा अन्यान्य गाथाओ का समावेश होने पर ५०० के करीव हो गई है।

विषय—प्रस्तुत कृति मे निम्नलिखित विषयो को स्थान दिया गया है ऐसा उसकी गा० २–३ मे कहा है

---

१ यह बृहत्सग्रहणी के नाम से मलयगिरिसूरिकृत विवृत्ति के साथ भावनगर से वि० स० १९७३ मे प्रकाशित हुई है। जैनधर्म प्रसारक सभा ने वि० स० १९९१ मे 'श्रीबृहत्सग्रहणी' के नाम से जो पुस्तक प्रकाशित की है उसमे मूल तथा मलयगिरि की टीका का गुजराती अनुवाद है। अनुवादक हैं श्री कुँवरजी आनन्दजी। अनुवाद मे २३ और अन्त में श्री जेठालाल हरिभाई शास्त्री के तैयार किये हुये ४१ यत्र दिये गये हैं।

देवो और नारको के आयुष्य, भवन एवं अवगाहन, मनुष्यो एव तिर्यञ्चो के शरीर का मान तथा आयुष्य का प्रमाण; देवो के और नारको के उपपात (जन्म) और उद्वर्तन (च्यवन) का विरहकाल, एक समय मे होनेवाले उपपात एव उद्वर्तन की सख्या तथा सब जीवो की गति और आगति का आनुपूर्वी के अनुसार वर्णन। इनके अतिरिक्त देवो के शरीर का वर्ण, उनके चिह्न इत्यादि बाते भी इसमे आती है। सक्षेप मे ऐसा कहा जा सकता है कि इसमे जैन दृष्टि से खगोल और भूगोल का वर्णन आता है। साथ ही नारक, मनुष्य एव तिर्यञ्च के विषय मे भी कुछ जानकारी इससे उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत कृति की रचना पण्णवणा इत्यादि के आधार पर हुई है। इसमे यदि कोई स्खलना हुई हो तो उसके लिये जिनभद्रगणी ने क्षमा माँगी है।

टीकाएँ—७३वी गाथा की मलयगिरिकृत विवृत्ति से ज्ञात होता है कि हरिभद्रसूरि ने प्रस्तुत कृति पर एक टीका लिखी थी। पूर्णभद्र के शिष्य और नमिसाधु के गुरु शीलभद्र ने वि० स० ११३९ मे २८०० श्लोक-परिमाण एक विवृत्ति और मुनिपतिचरित के कर्ता हरिभद्र ने एक वृत्ति लिखी है ऐसा जिनरत्नकोश मे उल्लेख है।

मलयगिरिसूरि ने इस पर एक विवृत्ति लिखी है। यह विवृत्ति जीव एव जगत् के बारे मे विश्वकोश जैसी है। ५०० श्लोक-परिमाण की इस विवृत्ति में विविध यत्र भी दिये गये है।

३६४वी गाथा मे सक्षिप्ततर सग्रहणी के विषय मे सूचना है। इसके अनुसार इसके बाद की दो गाथाओ मे शरीर इत्यादि चौबीस द्वारो का वर्णन आता है।

सखित्तसंगहणी (सक्षिप्तसग्रहणी) अथवा सगहणिरयण (सग्रहणिरत्न)

इस कृति का[1] प्राकृत नाम इसके अन्तिम पद्य मे देखा जाता है। इसके रचयिता श्रीचन्द्रसूरि हैं। इसमे जैन महाराष्ट्री मे रचित २७३ आर्या गाथाएँ

---

१ २७३ गाथा की यह कृति देवभद्रसूरि की टीका के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९१५ मे प्रकाशित की है। इसकी गाथा-सख्या उत्तरोत्तर बढती रही है। ३४९ गाथावाली मूल कृति सस्कृत छाया एव मुनि यशोविजयजीकृत गुजराती शब्दार्थ, गाथार्थ और विशेपार्थ के साथ 'मुक्ति-कमल-जैन-मोहनमाला' के ४७वे पुष्प के रूप मे सन् १९३९ मे

है। श्रीचन्द्रसूरि 'मलधारी' हेमचन्द्र के लघु शिष्य थे। इन्होंने वि० सं० ११९३ मे मुणिसुव्वयचरिय (मुनिसुव्रत-चरित) लिखा। इसके अतिरिक्त खेत्तसमास ('नमिउ वीर' से प्रारम्भ होनेवाला) भी लिखा है।[1] ये एक बार लाट देश के किसी राजा के, सम्भवत सिद्धराज जयसिंह के, मंत्री (मुद्राधिकारी) थे। इन्होंने प्रस्तुत कृति में उपर्युक्त सग्रहणीगत नौ अधिकारो को स्थान दिया है। इन अधिकारो के नाम पहली दो गाथाओ मे दिये गये है। इस कृति में यद्यपि लगभग सग्रहणी के जितनी ही गाथाएँ हैं, तथापि इसमें अर्थ का आधिक्य है, ऐसा कहा जाता है। कितने ही दशको से इस सगहणिरयण का ही अध्ययन के लिये उपयोग किया जाता है।

टीकाएँ—श्रीचन्द्रसूरि के ही शिष्य देवभद्रसूरि ने इस पर संस्कृत मे एक टीका लिखी है। इन्होने अपनी टीका में सूरपण्णत्ति की निर्युक्ति में से उद्धरण दिये हैं तथा अनुयोगद्वार की चूर्णि एव उसकी हारिभद्रीय टीका का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त इस पर एक अज्ञातकर्तृक टीका तथा धर्मनन्दनगणी एवं चारित्रमुनिरचित एक-एक अवचूरि भी है। दयासिंहगणी ने वि० स० १४९७ में और शिवनिधानगणी ने वि० स० १६८० में इस पर एक-एक बालावबोध भी लिखा है।

विचारछत्तीसियासुत्त (विचारषट्त्रिंशिकासूत्र) :

इसे दण्डकप्रकरण अथवा लघुसग्रहणी[2] भी कहते है। इसकी रचना धवल-

---

प्रकाशित हुई है। इसमें ६५ चित्र और १२४ यत्र दिये गये हैं। अन्त में मूल कृति गुजराती अर्थ के साथ दी गई है। इस प्रकाशन का नाम 'त्रैलोक्यदीपिका' याने 'श्रीवृहत्सग्रहणीसूत्रम्' दिया गया है। इसी से सम्बद्ध पांच परिशिष्ट इसी माला के ५२वें पुष्प के रूप में वि० स० २००० में एक अलग पुस्तिका के रूप मे छपे हैं।

१ प्रत्याख्यानकल्पाकल्पविचार यानी लघुप्रवचनसारोद्धार-प्रकरण भी इनकी कृति है।

२ ग्रन्थ-प्रकाशक सभा की ओर से गुजराती शब्दार्थ और विस्तारार्थ एव यत्र आदि के साथ 'दण्डकप्रकरणम्' के नाम से सन् १९२५ में यह प्रकाशित

चन्द्र के शिष्य गजसार ने जैन महाराष्ट्री की ४४ गाथाओ मे की है। इसमें इन्होंने यद्यपि चौबीस दण्डको के बारे मे शरीर आदि चौबीस द्वारो का निर्देश करके जानकारी दी है, तथापि इसकी रचना तीर्थंकरो की विज्ञप्तिरूप है।

टीकाएँ—स्वय गजसार ने वि० स० १५७९ मे इस पर एक अवचूर्णि लिखी है। अन्तिम गाथा की अवचूर्णि मे लेखक ने प्रस्तुत कृति को विचारषट्त्रिंशिकासूत्र कहा है। इसमे जैसा सूचित किया है उसके अनुसार पहले यत्र के रूप मे इसकी रचना की गई थी। इसके अतिरिक्त उदयचन्द्र के शिष्य रूपचन्द्र ने वि० स० १६७५ मे अपने बोध के लिए इस पर एक वृत्ति लिखी है। इसके प्रारम्भ मे प्रस्तुत कृति को 'लघुसग्रहणी' कहा है। यह वृत्ति ५३६ श्लोक-परिमाण है। मूल कृति पर समयसुन्दर की भी एक टीका है।

पवयणसारुद्धार (प्रवचनसारोद्धार) :

जैन महाराष्ट्री मे प्राय आर्या छन्द मे रचित १५९९ पद्यो के अत्यन्त मूल्यवान् इस ग्रन्थ[1] के प्रणेता नेमिचन्द्रसूरि हैं। यह आम्रदेव (अम्मएव) के शिष्य तथा जिनचन्द्रसूरि के प्रशिष्य थे। यशोदेवसूरि इनके छोटे गुरुभाई होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन प्रवचन के सारभूत पदार्थों का बोध कराता है। इसमें आये हुए अनेक विषय प्रद्युम्नसूरि के वियारसार (विचारसार) मे देखे जाते है, परन्तु ऐसे भी अनेक विषय हैं जो एक में हं तो दूसरे मे नही है।[2] इससे ये दोनो ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते है।

प्रवचनसारोद्धार में २७६ द्वार है। इनमे निम्नलिखित विषयो का निरूपण है

हुआ है। इसके उत्तर भाग मे स्वोपज्ञ अवचूर्णि तथा रूपचन्द्र की सस्कृत वृत्ति के साथ मूल कृति दी गई है।

१. यह ग्रन्थ सिद्धसेनसूरिकृत तत्त्वप्रकाशिनी नाम की वृत्ति के साथ दो भागो मे देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने अनुक्रम से सन् १९२२ और १९२६ मे प्रकाशित किया है। दूसरे भाग के प्रारम्भ मे उपोद्घात तथा अन्त मे वृत्तिगत पाठो, व्यक्तियो, क्षेत्रो एव नामो की अकरादि क्रम से सूची है। प्रथम भाग मे १०३ द्वार और ७७१ गाथाएँ है, जबकि दूसरे भाग मे १०४ से २७६ द्वार तथा ७७२ से १५९९ तक की गाथाएँ है।

२. ऐसे विषयो की सूची उपोद्घात मे दी गई है।

१ चैत्यवन्दन, २ वन्दनक, ३ प्रतिक्रमण, ४ प्रत्याख्यान, ५. कायोत्सर्ग, ६. श्राद्ध प्रतिक्रमण के १२४ अतिचार, ७ भरतक्षेत्र के अतीत, वर्तमान और अनागत तथा ऐरावतक्षेत्र के वर्तमान और अनागत तीर्थंकरो के नाम, ८-९. ऋषभादि के आद्य गणधरो एव आद्य प्रवर्तिनियो के नाम, १० बीस स्थानक[1], ११-२ तीर्थंकरो के माता-पिता के नाम तथा उनकी गति, १३-४ एक साथ विचरण करनेवाले तथा जन्म लेनेवाले तीर्थकरो की उत्कृष्ट और जघन्य सख्या, १५-२५ ऋषभ आदि तीर्थंकरो के गणधर, साधु, साध्वी, विकुर्विक, वादी, अवधिज्ञानी, केवली, मन पर्यायज्ञानी, श्रुतकेवली, श्रावक और श्राविका की सख्या, २६-३४ ऋपभ आदि तीर्थंकरो के यक्ष, शासनदेवी, देह का मान, लाछन, वर्ण, व्रतधारी-परिवार की सख्या, आयुष्य, शिवगमन, परिवार की सख्या और निर्वाणभूमि, ३५ तीर्थंकरो के बीच का अन्तर, ३६ तीर्थोच्छेद, ३७-८ दस तथा चौरासी आशातना, ३९-४१ तीर्थंकरो के आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और अठारह दोषो का अभाव, ४२ अर्हच्चतुष्क[2], ४३-५. ऋषभ आदि के निष्क्रमण, केवलज्ञान और निर्वाण-समय के तप, ४६ भावी जिनेश्वर, ४७ ऊर्ध्वलोक आदि में से एक ही समय मे सिद्ध होनेवालो की उत्कृष्ट सख्या, ४८ एक ही समय में सिद्ध होनेवालो की सख्या, ४९ सिद्धो के पन्द्रह भेद, ५० अवगाहना के आधार पर सिद्धो की सख्या, ५१ गृहिलिंग आदि से सिद्ध होनेवालो की सख्या, ५२ एक समय इत्यादि में सिद्ध होनेवालों की सख्या, ५३ लिंग (वेद) के आधार पर सिद्ध होनेवालो की सख्या, ५४-५ सिद्ध सस्थान और अवस्थान, ५६-८ सिद्धो की उत्कृष्ट आदि अवगाहना, ५९ शाश्वत जिनप्रतिमा के नाम, ६०-२ जिनकल्पी, स्थविरकल्पी और साध्वी के उपकरणो की सख्या, ६३ जिनकल्पी की एक वसति मे उत्कृष्ट सख्या, ६४ आचार्य के छत्तीस गुण, ६५ विनय के बावन भेद, ६६. चरणसप्तति, ६७ करणसप्तति, ६८ जघाचारण और विद्याचारण की गमनशक्ति, ६९ परिहारविशुद्धि, ७० यथालन्दिक का स्वरूप, ७१ निर्यामक की सख्या, ७२-३ पचीस शुभ और पचीस अशुभ भावना, ७४-६ महाव्रतो की, कृतिकर्म[3] की और क्षेत्र के आधार पर चारित्र की सख्या, ७७ स्थितकल्प, ७८ अस्थितकल्प, ७९-८५ भक्ति-चैत्य इत्यादि चैत्य के, गण्डिका इत्यादि पुस्तक के, दण्ड के, तृण के, चर्म के, दूष्य

---

१. तीर्थंकर नाम-कर्म उपार्जित करने के। २ नाम-जिन, स्थापना-जिन, द्रव्य-जिन और भाव-जिन। ३. वन्दनक।

(वस्त्र) के और अवग्रह के पाँच-पाँच प्रकार, ८६. बाईस परीषह, ८७ साधु की सात मण्डली, ८८ दस बातो का उच्छेद, ८९ क्षपकश्रेणि, ९०. उपशम-श्रेणि, ९१ चौबीस हजार स्थण्डिल, ९२ चौदह पूर्व, ९३-५. निर्ग्रन्थ, श्रमण और ग्रासैषणा के पाँच-पाँच प्रकार, ९६. पिण्डैषणा और पानैषणा के सात-सात प्रकार, ९७ भिक्षाचर्या के आठ मार्ग, ९८. दस प्रकार के प्रायश्चित्त, ९९ ओघ-सामाचारी, १०० पदविभाग-सामाचारी, १०१ दस प्रकार की सामाचारी, १०२. भवनिर्ग्रन्थत्व की सख्या, १०३. साधु का विहार, १०४ अप्रतिबद्ध विहार, १०५ गीतार्थ और अगीतार्थ का कल्प, १०६ परिष्ठा-पनोच्चार, १०७-९. दीक्षा के लिए अयोग्य पुरुष आदि की सख्या, ११० विकलाग, १११ साधु के लिए ग्रहण करने योग्य वस्त्र, ११२ शय्यातर का पिण्ड, ११३ श्रुत की अपेक्षा से सम्यक्त्व[1], ११४ निर्ग्रन्थो की चारो गतियाँ, ११५-८ क्षेत्र, मार्ग, काल और प्रमाण की अतिक्रान्ति, ११९-१२० दुःशय्या और सुख-शय्या के चार-चार प्रकार, १२१ तेरह क्रियास्थान, १२२ सामायिक के आकर्ष, १२३ अठारह हजार शीलाग, १२४ सात नय, १२५ वस्त्र-ग्रहण की विधि, १२६ आगम आदि पाँच व्यवहार, १२७. चोलपट्टादि पाँच यथाजात, १२८ रात्रि-जागरण की विधि, १२९ आलोचनादायक गुरु की शोध, १३० आचार्य आदि की प्रतिजागरणा, १३१ उपधि के धोने का समय, १३२. भोजन के भाग[2], १३३. वसति की शुद्धि[3], १३४ सलेखना, १३५. वसति का ग्रहण[4], १३६ जल की अचित्तता, १३७ देव आदि की अपेक्षा से देवी आदि की सख्या, १३८. दस आश्चर्य, १३९. चार प्रकार की भाषा, १४० वचन के सोलह प्रकार, १४१-२ महीने और वर्ष के पाँच-पाँच प्रकार, १४३ लोक के खण्डक, १४४ ७. सज्ञा के तीन, चार, दस और पन्द्रह प्रकार, १४८-९ सम्यक्त्व के सडसठ और दस भेद, १५० कुलकोटि की सख्या, १५१ योनि की सख्या, १५२ 'त्रैकाल्य द्रव्यषट्क' से शुरू होनेवाले श्लोक की व्याख्या[5], १५३ श्रावको की ग्यारह प्रतिमा, १५४-५ धान्य एव क्षेत्रातीत की अचित्तता, १५६ धान्य के चौबीस प्रकार, १५७ मृत्यु के सत्रह भेद, १५८-६२ पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्गलपरावर्त्त का स्वरूप, १६३-४ पन्द्रह कर्मभूमियाँ

---

१ श्रुतकेवली निश्चय से सम्यक्त्वी होता है। २ कवल—कौर की सख्या।
३. वसति के सात गुण। ४ बैल की कल्पना। ५. यह ९७१वे पद्य के रूप मे मूल मे समाविष्ट किया गया है।

और तीस अकर्मभूमियाँ, १६५ मद के आठ प्रकार, १६६ हिंसा के भेद, १६७ १०८ परिणाम, १६८ ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार, १६९ चौबीस काम, १७० दस प्राण, १७१ दस कल्पवृक्ष, १७२ नरको के नाम और गोत्र, १७३ नारकावासो की सख्या, १७४-६ नारक के दुख, आयुष्य और देहमान, १७७ नरक मे उत्पत्ति और मृत्यु का विरह, १७८-९ नारको की लेश्या और उनका अवधिज्ञान, १८० परमाधार्मिक, १८१ नरको से निकले हुए जीवो की लब्धि, १८२ नरको मे उत्पन्न होनेवाले जीव, १८३-४ नरक मे से निकलनेवालो की सख्या, १८५-६ एकेन्द्रिय आदि की कायस्थिति तथा भवस्थिति, १८७ उनके शरीर का परिमाण, १८८ इन्द्रियो का स्वरूप और उनके विषय, १८९ जीवो की लेश्या, १९०-१ एकेन्द्रिय आदि की गति और आगति, १९२-३ एकेन्द्रिय आदि के जन्म, मरण और विरह तथा उनकी सख्या, १९४ देवो के प्रकार और उनकी स्थिति, १९५ भवनपति इत्यादि के भवन, १९६-८. देवो के देहमान, लेश्या और अवधिज्ञान, १९९-२०१ देवो के उत्पाद-विरह, उद्वर्तना-विरह और उनकी सख्या, २०२-३ देवो की गति और आगति, २०४ सिद्धिगति में विरह, २०५ ससारी जीवो के आहार और उच्छ्वास, २०६ ३६३ पाखण्डी, २०७ आठ प्रकार के प्रमाद, २०८ भरत आदि बारह चक्रवर्ती, २०९ अचल आदि नौ हलधर (बलदेव), २१० त्रिपृष्ठ आदि नौ हरि (वासुदेव), २११ अश्वग्रीव आदि नौ प्रतिवासुदेव, २१२ चक्रवर्ती के चौदह और वासुदेव के सात रत्न, २१३. नवनिधि, २१४ जीवसख्याकुलक, २१५-६ कर्म की ८ मूलप्रकृति और १५८ उत्तरप्रकृति, २१७ बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता, २१८ कर्मों की स्थिति, २१९-२२० ४२ पुण्यप्रकृति और ८२ पापप्रकृति, २२१ औपशमिक आदि छ भाव और उनके प्रकार, २२२-३ जीव एव अजीव के १४-१४ भेद, २२४ चौदह गुणस्थान, २२५ चौदह मार्गणाएँ, २२६ बारह उपयोग, २२७ पन्द्रह योग, २२८ परलोक की अपेक्षा से गुणस्थान, २२९ गुणस्थान का कालमान, २३० नारक आदि का विकुर्वणाकाल, २३१ सात समुद्घात, २३२ छ पर्याप्ति, २३३ अनाहारक के चार भेद, २३४ सात भयस्थान, २३५ अप्रशस्त भाषा के छ प्रकार, २३६ श्रावक के २, ८, ३२, ७३५ और १६८०६ प्रकार तथा बारह व्रत के १३, ८४, १२, ८७२०२ भग, २३७ अठारह पापस्थान, २३८ मुनि के सत्ताईस गुण, २३९ श्रावक के इक्कीस गुण, २४० मादा तिर्यञ्च की उत्कृष्ट गर्भस्थिति, २४१-२ मनुष्य-स्त्री की गर्भस्थिति

और कायस्थिति, २४३. गर्भस्थ जीव का आहार, २४४. गर्भसम्भूति, २४५-६. पुत्र एव पिता की सख्या, २४७ स्त्री के गर्भभाव और पुरुष के अबीजत्व का काल, २४८ गर्भ का स्वरूप, २४९ देशविरति आदि के लाभ का समय, २५० मनुष्यगति की अप्राप्ति, २५१-२ पूर्वांग एव पूर्व का परिमाण, २५३ लवणशिखा का परिमाण, २५४. उत्सेध आदि तीन प्रकार के अगुल, २५५ तमस्काय, २५६ सिद्ध आदि छ अनन्त, २५७ अष्टाग निमित्त, २५८ मान, उन्मान और प्रमाण, २५९ अठारह प्रकार के भक्ष्य—भोज्य, २६० षट्स्थानक वृद्धि और हानि, २६१ सहरण के लिए अयोग्य जीव (श्रमणी आदि), २६२ छप्पन अन्तर्द्वीप, २६३. जीव और अजीव का अल्पबहुत्व, २६४ युगप्रधानो की सख्या, २६५ उत्सर्पिणी मे अन्तिम जिन का तीर्थ, २६६ देवो का प्रवीचार[1], २६७ आठ कृष्णराजी, २६८. अस्वाध्याय, २६९ नन्दीश्वर द्वीप का स्वरूप, २७० अट्ठाईस लब्धियाँ, २७१ विविध तप, २७२ पातालकलश, २७३ आहारक का स्वरूप, २७४ अनार्य देश, २७५ आर्य देश और २७६ सिद्ध के इकतीस गुण।

अन्त मे प्रशस्ति के रूप मे कर्ता ने अपने वश का परिचय देकर अपना नाम दिया है और अपनी विनम्रता प्रकट की है।

सक्षेप मे कहना हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि इसमे ऋषभ आदि चौवीस तीर्थंकरो के बारे मे भिन्न-भिन्न प्रकार की जानकारी दी गई है, सिद्ध, साधु, श्रावक, काल, कर्मग्रन्थि, आहार, जीवविचार, नय इत्यादि के बारे मे अनेक बाते इसमें आती हैं, देव एव नारको के विषय मे भी विचार किया गया है तथा भौगोलिक और गर्भविद्या के विषय मे भी कतिपय बातो का इसमे निर्देश है।

जीवसखाकुलय (जीवसख्याकुलक) नाम की सत्रह पद्य की[2] अपनी कृति नेमिचन्द्रसूरि ने २१४ वे द्वार के रूप मे मूल मे ही समाविष्ट कर ली है। सातवें द्वार की ३०३वी गाथा मे श्रीचन्द्र नामक मुनिपति का उल्लेख है। ऐसा लगता है कि शायद गा० २८७ से ३०३ तक की गाथाएँ उन मुनिवर द्वारा रचित प्राकृत कृति हो।[3] गा० ४७० मे श्रीचन्द्रसूरि का उल्लेख है। सम्भवत वे ही उपर्युक्त मुनिपति हो। गा० ४५७ से ४७० भी शायद उन्ही की कृति हो।

---

१ अब्रह्म का सेवन।

२ गा० १२३२ से १२४८ तक के इस छोटे से कुलक पर एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति है।

३ देखिए—द्वितीय भाग का उपोद्घात, पत्र ४ आ

श्रीचन्द्र नाम के दो या फिर अभिन्न एक ही मुनिवर यहाँ अभिप्रेत हो तो भी उनके विषय मे विशेष जानकारी नही मिलती, जिसके आधार पर पवयण-सारुद्धार की पूर्वसीमा निश्चित की जा सके। गा० २३५ मे आवस्सयचुण्णि का निर्देश है।

टीकाएँ—इस पर सिद्धसेनसूरि की १६५०० श्लोक-परिमाण की तत्त्व-प्रकाशिनी नाम की एक वृत्ति है। इसका रचना-समय 'कविसागररवि' अर्थात् वि० स० १२४८ अथवा १२७८ है। वृत्ति मे अनेक उद्धरण आते हैं। प्रारम्भ के तीन पद्यो मे से पहले मे जैन-ज्योति की प्रशसा की गई है और दूसरे मे वर्धमान विभु (महावीर स्वामी) की स्तुति है। वृत्ति के अन्त मे १९ पद्य की एक प्रशस्ति है, जिससे इसके प्रणेता की गुरु-परम्परा ज्ञात होती है। वह परम्परा इस प्रकार है अभयदेवसूरि[1], धनेश्वरसूरि, अजितसिंहसूरि, वर्धमानसूरि, देवचन्द्रसूरि, चन्द्रप्रभसूरि, भद्रेश्वरसूरि, अजितसिंहसूरि, देवप्रभसूरि।[2]

सिद्धसेनसूरि ने अपनी इस वृत्ति मे स्वरचित निम्नलिखित तीन कृतियो का निर्देश किया है

१	पउमप्पहचरिय[3]	पत्र ४४० आ
२	सामाआरी	पत्र ४४३ अ
३	स्तुति[4]	पत्र १८० आ ('जम्मि सिरिपासपडिम' से शुरू होनेवाली)

इसके अतिरिक्त रविप्रभ के शिष्य उदयप्रभ ने इस पर ३२०३ श्लोकप्रमाण 'विषमपद' नाम की व्याख्या लिखी है। यह रविप्रभ यशोभद्र के शिष्य और धर्मघोष के प्रशिष्य थे। इस पर एक और ३३०३ श्लोक-परिमाण की विषमपद-पर्याय नाम की अज्ञातकर्तृक टीका है। एक अन्य टीका भी है, किन्तु उसके कर्ता का नाम अज्ञात है। पद्ममन्दिरगणी ने इस पर एक बालावबोध लिखा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० स० १६५१ की लिखी मिलती है।

---

१ वादमहार्णव के कर्ता।
२ प्रमाणप्रकाश के प्रणेता।
३ इस कृति का आद्य पद्य ही दिया गया है।
४. इस कृति का एक ही पद्य दिया गया है।

सत्तरिसयठाणपयरण (सप्ततिशतस्थानप्रकरण)

३५९ गाथा की जैन महाराष्ट्री मे रचित इस कृति[1] के प्रणेता सोमतिलकसूरि है। ये तपागच्छ के धर्मघोषसूरि के शिष्य सोमप्रभसूरि के शिष्य थे। सोमतिलक-सूरि का जन्म वि० सं० १३५५ मे हुआ था। इन्होने दीक्षा १३६९ मे ली थी और सूरि-पद १३७३ मे प्राप्त किया था। इनका स्वर्गवास १४२४ मे हुआ था। इस कृति मे ऋषभ आदि तीर्थंकरो के बारे मे भव आदि १७० बातो का विचार किया गया है।

टीका—इस पर रामविजयगणी के शिष्य देवविजय ने २९०० श्लोक-परिमाण की एक टीका वि० स० १३७० मे लिखी है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय .

इसके[2] कर्ता प्रवचनसार इत्यादि के टीकाकार दिगम्बर अमृतचन्द्रसूरि है। इसमे २२६ आर्या पद्य है। इसे 'जिनप्रवचनरहस्यकोश' तथा 'श्रावकाचार'[3]

---

१ इसे देवविजयकृत टीका के साथ जैन आगमोदय समिति ने वि० स० १९७५ मे प्रकाशित की है। इसके पश्चात् श्री ऋद्धिसागरसूरिरचित छाया के साथ मूल कृति 'बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमन्दिर' बीजापुर की ओर से वि० स० १९९० मे छपी है। इसका ऋद्धिसागरसूरिकृत गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

२ इस ग्रन्थ की प्रथम आवृत्ति रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला मे वीर सवत् २४३१ (सन् १९०४) मे और चौथी वीर सवत् २४७९ (सन् १९५३) मे प्रकाशित हुई है। इस चौथी आवृत्ति मे प० नाथूराम प्रेमी की हिन्दी मे लिखित भाषा-टीका को स्थान दिया गया है। यह भाषा-टीका प० टोडरमल की अपूर्ण टीका के आधार पर लिखी गई है। इसके अतिरिक्त जगमन्दरलाल जैनी के अग्रेजी अनुवाद के साथ मूल कृति सन् १९३३ में प्रकाशित की गई है।

३ यह नाम मेघविजयगणी के 'जुत्तिपबोहनाडय' में आता है। उन्होने 'जुत्तिपबोहनाडय' (गा० ७) की टीका मे 'सव्वे भावा जम्हा' से शुरू होनेवाली गाथा को अमृतचन्द्र-रचित कहा है। यह तथा 'ढाढसी' गाथा मे आनेवाली और 'सघो को वि न तारइ' से शुरू होनेवाली गाथा भी

भी कहते हैं। इसके प्रारम्भ में परम ज्योति अर्थात् चेतनारूप प्रकाश की जय हो ऐसा कहकर अनेकान्त को नमस्कार किया है। इसके पश्चात् निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप बतलाया है। इसके उपरान्त कर्म के कर्ता और भोक्ता के रूप में आत्मा का उल्लेख, धर्मोपदेश की रीति सम्यक्त्व का स्वरूप और उसके नि शकित आदि आठ अग, सात तत्त्व, सम्यग्ज्ञान की विचारणा, हिंसा का स्वरूप, श्रावक के बारह व्रत और सलेखना तथा उनके पाँच-पाँच अतिचार, तप के दो भेद, छ आवश्यक, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशविध धर्म, बारह भावनाएँ, परीषह, बन्ध का स्वरूप, अनेकान्त की स्पष्टता तथा ग्रन्थकार द्वारा प्रदर्शित लघुता—इस प्रकार अनेक विषयो का आलेखन इसमें किया गया है।

आशाधर ने धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में इसमे से कई पद्य उद्धृत किये हैं।

टीकाएँ और अनुवाद—इस पर एक अज्ञातकर्तृक टीका है। पण्डित टोडरमल ने इस पर एक भाषा-टीका लिखी है, परन्तु उसके अपूर्ण रहने पर दौलतरामजी ने उसे वि० स० १८२७ में पूर्ण किया है। दूसरी एक भाषा-टीका प० भूधर ने वि० स० १८७१ मे लिखी है।[1]

तत्त्वार्थसार

यह[2] दिगम्बर अमृतचन्द्रसूरि की कृति है। समग्र कृति सात अध्यायो में विभक्त है। इसमें जीव आदि सात पदार्थों का निरूपण है।

अ० ५, श्लो० ६ मे इन्होंने कहा है कि केवली सचेलक हो सकता है और वह ग्रासाहार—कवलाहार करता है यह विपरीत मिथ्यात्व है। इससे अमृतचन्द्रसूरि दिगम्बर थे ऐसा फलित होता है। अ० ७, श्लो० १० मे षष्ठ, अष्टम इत्यादि का प्रयोग आता है। इससे ऐसा सूचित होता है कि इन्हे श्वेताम्बर ग्रन्थो का परिचय था।

अमृतचन्द्र की है ऐसा कहा है, किन्तु यह विचारणीय प्रतीत होता है। देखिए—उपर्युक्त चौथी आवृत्ति मे 'जैन साहित्य और इतिहास' मे से उद्धृत अश।

१ इसका अग्रेजी में अनुवाद जगमदरलाल जैनी ने किया है और वह छपा भी है।

२ यह सन् १९०५ में 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' में छपा है।

नवतत्तपयरण (नवतत्त्वप्रकरण) :

'जीवाजीवा पुण्ण' से शुरू होनेवाले इस[1] अज्ञातकर्तृक प्रकरण मे जैन महाराष्ट्री मे विरचित ३० आर्याछन्द हैं। इनमे जीव आदि नव तत्त्वो का स्वरूप बतलाया है।

टीकाएँ—प्रस्तुत कृति पर सस्कृत टीकाएँ निम्नलिखित है

१ देवसुन्दरसूरि के शिष्य कुलमण्डन की वृत्ति। कुलमण्डन ने 'रामाब्धि-शक्र' अर्थात् १४४३ मे 'विचारामृतसग्रह' लिखा है। इनका स्वर्गवास वि० स० १४५५ मे हुआ था।[2]

२ देवसुन्दरसूरि के शिष्य साधुरत्नरचित अवचूरि। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० स० १५१५ मे लिखी मिलती है।

३ अचलगच्छ के मेरुतुगसूरि के शिष्य माणिक्यशेखरकृत विवरण। इसका उल्लेख स्वय उन्होने अपनी 'आवश्यकदीपिका' मे किया है।

४ परमानन्दसूरिरचित २५० श्लोक-परिमाण का विवरण।

५ खरतरगच्छ के सकलचन्द्र के शिष्य समयसुन्दर द्वारा वि० स० १६९८ मे रचित टीका।

६ वि० स० १७९७ मे रत्नचन्द्ररचित टीका।

७ पार्श्वचंद्र गच्छ के कल्याण के प्रशिष्य और हर्ष के शिष्य तेजसिंहकृत टीका। इनके अतिरिक्त दो-तीन अन्य अज्ञातकर्तृक टीकाएँ भी है।

गुजराती बालावबोध इत्यादि—देवसुन्दरसूरि के शिष्य सोमसुन्दरसूरि ने वि० स० १५०२ मे एक बालावबोध लिखा है। इसकी इसी वर्ष मे लिखी गई हस्तलिखित प्रति मिलती है। हर्षवर्धन उपाध्याय ने भी एक बालावबोध लिखा है। तपागच्छ के शान्तिविजयगणी के शिष्य मानविजयगणी ने पुरानी गुजराती मे अवचूरि लिखी है। इसके अतिरिक्त खरतरगच्छ के विवेकरत्नसूरि के शिष्य रत्नपाल ने प्राचीन गुजराती मे वार्तिक लिखा है।[3]

---

१ भीमसिंह माणेक ने सन् १९०३ मे 'लघुप्रकरणसग्रह' में इसे प्रकाशित किया था। इसके अलावा अनेक स्थानो से यह प्रकाशित हुआ है।

२ देखिए—पट्टावलीसमुच्चय, भा० १, पृ० ६५

३ प्रस्तुत कृति के अनेक गुजराती एव हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन लिखे गये है और वे प्रकाशित भी हुए है।

अंगुलसत्तरि (अंगुलसप्तति)

इसके[1] रचयिता मुनिचन्द्रसूरि हैं। ये यशोभद्रसूरि के शिष्य, आनन्दसूरि और चन्द्रप्रभसूरि के गुरुभाई तथा अजितदेवसूरि एवं वादी देवसूरि के गुरु थे। इनका स्वर्गवास वि० स० ११७८ में हुआ था। इन्होंने छोटी-बड़ी ३१ कृतियाँ[2] रची हैं।

अंगुलसत्तरि मे जैन महाराष्ट्री में विरचित ७० आर्या पद्य हैं। पहली गाथा में ऋषभदेव को नमन करके अंगुल का लक्षण कहने की प्रतिज्ञा की है। इस रचना में उत्सेधांगुल, आत्मांगुल और प्रमाणांगुल का स्वरूप समझाया है। साथ ही साथ इन तीनो का उपयोग भी सूचित किया है। किसी-किसी विषय मे मतान्तरों का उल्लेख करके उनमे दूषण दिखलाया है। नगरी इत्यादि के परिमाण का यहाँ विचार किया गया है।

टीकाएँ—इस पर स्वय मुनिचन्द्रसूरि की स्वोपज्ञ टीका है। अज्ञातकर्तृक एक अवचूरि भी इस पर है।[3]

छट्ठाणपयरण (षट्स्थानकप्रकरण)

इसके[4] कर्ता जिनेश्वरसूरि है। ये वर्धमानसूरि के शिष्य, बुद्धिसागरसूरि के गुरुभाई तथा नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के गुरु है। इन्होंने वि० स० १०८० में हारिभद्रीय अष्टकप्रकरण पर वृत्ति लिखी है।

प्रस्तुत कृति को 'श्रावकवक्तव्यता' भी कहते हैं। जैन महाराष्ट्री मे आर्या छन्द मे विरचित इस ग्रन्थ मे १०४ पद्य है। समग्र कृति छ स्थानको मे विभक्त है। इनके नाम तथा प्रत्येक स्थानक की पद्य-सख्या इस प्रकार है व्रतपरिकर्मत्व-२६, शीलवत्त्व-२४, गुणवत्त्व-५, ऋजुव्यवहार-१७, गुरु की शुश्रूषा-६, तथा प्रवचनकौशल्य-२६। इन छ स्थानकगत गुणो से विभूषित श्रावक उत्कृष्ट होना

१ गुजराती अनुवाद के साथ यह कृति 'महावीर जैन सभा' खम्भात से सन् १९१८ मे प्रकाशित हुई है।

२ इनके नाम मैंने सवृत्तिक अनेकान्तजयपताका (खण्ड १) की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० ३० पर दिये हैं।

३ किसी ने इसका गुजराती मे अनुवाद किया है और वह प्रकाशित भी हुआ है।

४ यह जिनपाल की वृत्ति के साथ 'जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड' सूरत से सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ है।

है ऐसा इसमे कहा गया है। इन छ स्थानको के अनुक्रम से ४, ६, ५, ४, ३ और ६ भेद किये गये है।

टीकाएँ—जिनेश्वरसूरि के शिष्य और नवागीवृत्तिकार अभयदेव ने इस पर १६३८ श्लोक-परिमाण का एक भाष्य लिखा है।[1] जिनपतिसूरि के शिष्य उपाध्याय जिनपाल ने वि० स० १२६२ मे १४९४ श्लोक-परिमाण की एक वृत्ति सस्कृत मे लिखी है। इसके प्रारम्भ मे तीन पद्य, प्रत्येक स्थानक के अन्त मे एक-एक और अन्त मे प्रशस्ति के रूप में ग्यारह पद्य है। बाकी का समग्र अश गद्य मे है। इसके अतिरिक्त एक वृत्ति थारापद्र गच्छ के शान्तिसूरि ने लिखी है और एक अज्ञातकर्तृक है।

जीवाणुसासण (जीवानुशासन):

इसके[2] कर्ता देवसूरि है। ये वीरचन्द्रसूरि के शिष्य थे, अत ये 'वादी' देवसूरि से भिन्न है। इस ग्रन्थ मे आगम आदि के उल्लेख के साथ जैन महाराष्ट्री में विरचित ३२३ आर्या छन्द हैं। समग्र ग्रन्थ ३८ अधिकारो[3] मे विभक्त है। इनमे निम्नाकित विषयो की चर्चा की गई है

१ जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा, २ पार्श्वस्थ को वन्दन, ३ पाक्षिक प्रतिक्रमण, ४. वन्दनकत्रय, ५ साध्वी द्वारा श्राविका की नन्दी, ६ दान का निषेध, ७. माघमाला का प्रतिपादन, ८ चतुर्विशतिपट्टक आदि की विचारणा, ९ अविधि-करण, १०. सिद्ध को बलि, ११ पार्श्वस्थ आदि के पास श्रवण आदि, १२ विधिचैत्य, १३ दर्शनप्रभावक आचार्य, १४ सघ, १५ पार्श्वस्थ आदि की अनुवर्तना, १६ ज्ञान आदि की अवज्ञा, १७-८ गच्छ एव गुरु के वचन का अत्याग, १९ ब्रह्मशान्ति इत्यादि का पूजन, २० श्रावको को आगम पढने का अधिकार, २१. शिष्य के कन्धे पर बैठ कर विहार, २२. मासकल्प, २३ आचार्य की मलिनता का विचार, २४ केवल स्त्रियो का व्याख्यान, २५ श्रावको का पार्श्वस्थ आदि को वन्दन, २६. श्रावक की सेवा, २७ साध्वियो को धर्मकथन का निषेध, २८ जिनद्रव्य का उत्पादन, २९ अशुद्ध ग्रहण का कथन, ३० पार्श्वस्थ आदि के पास की गई तप की निन्दा, ३१ पार्श्वस्थ आदि द्वारा

---

१ यह अप्रकाशित ज्ञात होता है।

२ यह स्वोपज्ञ सस्कृत वृत्ति के साथ 'हेमचन्द्राचार्य जैन सभा' पाटन ने सन् १९२८ मे प्रकाशित किया है।

३, इन अधिकारो के नाम ३१७-३२१ गाथाओ में दिये गये है।

निर्मित जिनमन्दिर में पूजा, ३२ मिथ्यादृष्टि कौन, ३३ वेश का अप्रामाण्य, ३४ असयत का अर्थ, ३५ प्राणियो का वध करनेवाले को दान, ३६. चारित्र की सत्ता, ३७. आचरणा और ३८ गुणो की स्तुति।

टीका—स्वय कर्ता ने एक महीने के भीतर ही सिद्धराज जयसिंह के राज्य मे अणहिल्लपुर मे एक वृत्ति लिखी है। इसके आरम्भ मे एक पद्य की और अन्त मे पाँच पद्य की एक प्रशस्ति है। इस वृत्ति का सशोधन नेमिचन्द्रसूरि ने किया है।

सिद्धपचासिया (सिद्धपचाशिका)

यह[1] जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि की रचना है। इनका स्वर्गवास वि० स० १३२७ में हुआ था। इनकी दूसरी रचनाओ मे पाँच नव्य कर्मग्रन्थ, तीन भाष्य, दाणाइकुलय (दानादिकुलक), धर्मरत्नटीका, सवृत्तिक सड्ढदिणकिच्च (श्राद्धदिनकृत्य) एवं सुदर्शनाचरित्र (सहवर्ती विजयचन्द्रसूरि) हैं। सिद्धपचासिया जैन महाराष्ट्री में रचित ५० गाथाओ की कृति है। इसकी रचना सिद्धपाहुड के आधार पर हुई है। इसमे सिद्ध के अनन्तर-सिद्ध और परम्परा-सिद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं। प्रथम प्रकार का १ सत्पदप्ररूपणा, २ द्रव्यप्रमाण, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शना, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८. अल्पबहुत्व इन आठ दृष्टियो से विचार किया गया है। द्वितीय प्रकार का इनके अतिरिक्त सन्निकर्ष द्वारा भी निरूपण है। इन दोनो प्रकार के सिद्धो के विषय में अधोलिखित पन्द्रह बातो के आधार पर प्रकाश डाला गया है

१ क्षेत्र, २ काल, ३ गति, ४ वेद, ५ तीर्थ, ६ लिंग, ७ चारित्र, ८. बुद्ध, ९ ज्ञान, १० अवगाहना, ११ उत्कृष्टता, १२ अन्तर, १३ अनुसमय, १४ गणना और १५ अल्पबहुत्व।

टीकाएँ—इस पर स्वय कर्ता ने ७१० श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त कितनी ही टीकाएँ और अवचूरियाँ अज्ञातकर्तृक है।[2] विद्यासागर ने वि० स० १७८१ मे इस पर एक बालावबोध भी लिखा है।

---

१ यह अज्ञातकर्तृक अवचूरि के साथ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से प्रकाशित हुई है।

२ इनमे से एक अवचूरि प्रकाशित भी हुई है।

गोयमपुच्छा (गौतमपृच्छा).

जैन महाराष्ट्री मे विरचित इस अज्ञातकर्तृक कृति[1] मे ६४ आर्या छन्द है। इसमे महावीर स्वामी के आद्य गणधर गौतमगोत्राय इन्द्रभूति के द्वारा पूछे गये ४८ प्रश्न प्रारम्भ की बारह गाथाओ मे देकर तेरहवी गाथा से महावीर स्वामी इन प्रश्नो के उत्तर देते है। धर्म एव अधर्म का फल इसमे सूचित किया है। किस कर्म से ससारी जीव नरक आदि गति पाते है ? किस कर्म से उन्हे सौभाग्य या दौर्भाग्य, पाण्डित्य या मूर्खता, धनिकता या दरिद्रता, अपगता, विकलेन्द्रियता, अनारोग्यता, दीर्घससारिता आदि प्राप्त होते है ? ये प्रश्न यहाँ उठाये गये है।

टीकाएँ—इस पर निम्नलिखित व्याख्याएँ सस्कृत मे लिखी गई है

१ रुद्रपल्लीय गच्छ के देवभद्रसूरि के शिष्य श्रीतिलकरचित वृत्ति। इसका परिमाण ५६०० श्लोक है और इसका प्रारम्भ 'माधुर्यधुर्य' से किया गया है। यह वृत्ति विक्रम की चौदहवी शती के उत्तरार्ध मे लिखी गई है।

२ वि० स० १७३८ मे जगतारिणी नगरी मे खरतरगच्छ के सुमतिहस के शिष्य मतिवर्धन द्वारा रचित ३८०० श्लोक-परिमाण की वृत्ति।

३-६ अभयदेवसूरि, केसरगणी और खरतरगच्छ के अमृतधर्म के शिष्य क्षमाकल्याण की लिखी हुई तथा 'वीर जिन प्रणम्यादौ' से शुरू होनेवाली अज्ञातकर्तृक टीका—इस प्रकार चार दूसरी भी टीकाएँ है।

बालावबोध—सुधाभूषण के शिष्य जिनसूरि ने[2], सोमसुन्दरसूरि ने[3] तथा वि० स० १८८४ मे पद्मविजयगणि ने एक-एक बालावबोध लिखा है। इनके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक बालावबोध भी है।

सिद्धान्तार्णव

इसके कर्ता अमरचन्द्रसूरि है। ये नागेन्द्र गच्छ के शान्तिसूरि के शिष्य थे। इन्होने तथा इनके गुरुभाई आनन्दसूरि ने बाल्यावस्था मे प्रखर वादियो को

---

१ यह कृति मतिवर्धन की टीका के साथ हीरालाल हसराज ने सन् १९२० मे छपाई है। इन्होने ही अज्ञातकर्तृक टीका, जिसमे छत्तीस कथाएँ आती है, के साथ भी यह सन् १९४१ मे प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त अज्ञात-कर्तृक टीका के साथ मूल कृति 'नेमि-अमृत-खान्ति-निरजन-ग्रन्थमाला' में वि० स० २०१३ मे प्रकाशित हुई है।

२ इनकी टीका को वृत्ति भी कहते है।

३. इनकी टीका को चूर्णि भी कहते है।

जीता था। अत सिद्धराज जयसिंह ने इन दोनो को अनुक्रम से 'सिंहशिशुक' और 'व्याघ्रशिशुक' विरुद दिये थे। गगेशकृत तत्त्वचिन्तामणि मे जिस सिंहव्याघ्र-लक्षण' का अधिकार है वह इन दोनो सूरियो के व्याप्ति के लक्षण को लक्ष्य मे रखकर है ऐसा डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने कहा है। सिद्धान्तार्णव की एक भी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नही है।

वनस्पतिसप्ततिका :

इसके रचयिता अगुलसत्तरि आदि के कर्ता मुनिचन्द्रसूरि है। इसके नाम को देखते हुए इसमे ७० पद्य होगे। इसमे वनस्पति के विषय मे जानकारी दी गई होगी। यह कृति अमुद्रित है, अत इसकी हस्तलिखित प्रति देखने पर ही विशेष कहा जा सकता है।

टीकाएँ—प्रस्तुत कृति पर दो वृत्तियाँ है एक स्वोपज्ञ और दूसरी नागेन्द्र गच्छ के गुणदेवसूरिकृत। एक अवचूरि भी है, किन्तु इसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

कालशतक .

यह उपर्युक्त मुनिचन्द्रसूरि की कृति है। यह अप्रकाशित है, किन्तु नाम से प्रतीत होता है कि इसमे सौ या उससे कुछ अधिक पद्य होगे और उनमे काल पर प्रकाश डाला गया होगा।

शास्त्रसारसमुच्चय

इसके[1] कर्ता दिगम्बर माघनन्दी हैं। ये कुमुदचन्द्र के शिष्य थे। इन्हे 'होयल' वश के राजा नरसिंह ने सन् १२६५ मे अनुदान दिया था। इन्होने इसके अलावा पदार्थसार, श्रावकाचार और सिद्धान्तसार नाम के ग्रन्थ भी लिखे है।

टीका—इस पर कन्नड भाषा मे एक टीका है।

सिद्धान्तालापकोद्धार, विचारामृतसग्रह अथवा विचारसग्रह :

२२०० श्लोक-परिमाण की इस कृति के रचयिता तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य कुलमण्डनसूरि हैं।

---

१. यह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के २१ वे ग्रन्थाक के रूप मे वि० स० १९७९ मे प्रकाशित हुआ है।

विंशतिस्थानकविचारामृतसग्रह :

वि० स० १५०२ मे रचित २८०० श्लोक-परिमाण की इस कृति[1] के रचयिता तपागच्छ के जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्ष है। इन्होने इसके आरम्भ मे धर्म के दान आदि चार प्रकारो का तथा दान एव शील के उपप्रकारो का निर्देश करके विंशतिस्थानक-तप को अप्रतिम कहा है। इसके पश्चात् निम्नाकित बीस स्थानक गिनाये है

१. अरिहन्त, २ सिद्ध, ३ प्रवचन, ४-७ गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी का वात्सल्य, ८ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ९ दर्शन (सम्यक्त्व), १०. विनय, ११ आवश्यक का अतिचाररहित पालन, १२ शीलव्रत, १३ क्षणलव (शुभध्यान), १४ तप, १५ त्याग, १६ वैयावृत्य, १७ समाधि, १८ अपूर्व-ज्ञानग्रहण, १९ श्रुतभक्ति, २० प्रवचन की प्रभावना।

इसमे इन बीस स्थानो की जानकारी दी गई है और साथ ही इनसे सम्बद्ध कथाएँ भी पद्य मे दी है। अन्त मे बाईस पद्यो की प्रशस्ति है।

सिद्धान्तोद्धार :

चक्रेश्वरसूरि ने २१३ गाथाओ मे सिद्धान्तोद्धार[2] लिखा है। इसे सिद्धान्त-सारोद्धार भी कहते है। यह प्रकरणसमुच्चय मे छपा है। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक सिद्धान्तसारोद्धार भी है।

चच्चरी (चर्चरी) :

इस अपभ्रश कृति[3] मे ४७ पद्य है। इसकी रचना खरतरगच्छ के जिनदत्तसूरि ने वाग्जड (वागड) देश के व्याघ्रपुर नामक नगर मे की है। इनका जन्म वि० स० ११३२ मे हुआ था। इन्होने वि० स० ११४१ मे उपाध्याय धर्मदेव के

---

१ यह देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९२२ मे प्रकाशित किया है।

२ इस नाम की एक कृति विमलसूरि के शिष्य चन्द्रकीर्तिगणी ने वि० स० १२१२ मे लिखी है। उसमे जैनधर्म और तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध लगभग तीन हजार सिद्धान्तो का दो विभागो मे निरूपण है।

३ यह कृति सस्कृत छाया तथा उपाध्याय जिनपालरचित व्याख्या के साथ 'गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज के ३७वे पुष्प के रूप मे सन् १९२७ मे प्रकाशित 'अपभ्रशकाव्यत्रयी' मे पृ० १-२७ पर छपी है।

पास दीक्षा ली थी और वि० स० ११६९ मे सूरिपद प्राप्त किया था। इनका स्वर्गवास १२११ मे हुआ था।

चैत्यविधि पर प्रकाश डालनेवाली यह चर्चरी नृत्य करनेवाले 'प्रथम मजरी' भाषा मे[1] गाते है ऐसा उपाध्याय जिनपाल ने इसकी व्याख्या मे लिखा है। इस प्रकार इस नृत्य-गीतात्मक कृति के द्वारा कर्ता ने अपने गुरु जिनवल्लभसूरि की स्तुति की है। इसमे उनकी विद्वत्ता का तथा उनके द्वारा सूचित विधिमार्ग का वर्णन है। विधिचैत्यगृह की विधि, उत्सूत्र भाषण का निषेध इत्यादि बातो को भी यहाँ स्थान दिया गया है।

गणहरसद्धसयग (गणधरसार्धशतक) की सुमतिगणीकृत बृहद्वृत्ति मे इस चर्चरी के १६, १८ और २१ से २५ पद्य उद्धृत किये गये है।

टीका—चर्चरी पर उपाध्याय जिनपाल ने सस्कृत मे वि० स० १२९४ मे एक व्याख्या लिखी है। ये जिनपतिसूरि के शिष्य थे। इन्होने चर्चरी की बारहवी गाथा की व्याख्या मे उवएसरसायण (उपदेशरसायन) पर वि० स० १२९२ मे अपने लिखे हुए विवरण का उल्लेख किया है।

वीसिया (विंशिका)

यह उपर्युक्त जिनदत्तसूरि की जैन महाराष्ट्री मे रचित कृति है। इस नाम से तो इस कृति का उल्लेख जिनरत्नकोश मे नही है। प्रस्तुत कृति मे बीस पद्य होगे।

कालसरूवकुलय (कालस्वरूपकुलक) :

इसके[2] कर्ता जिनदत्तसूरि है। अपभ्रश मे तथा 'पद्धटिका' छन्द में विरचित इस कृति मे विविध दृष्टान्त दिये गये है। इसमे उन्होने अपने समय का विषम स्वरूप दिखलाया है। मीन राशि मे शनि की सक्रान्ति होकर मेष राशि मे वह जाय और वक्री बने तो देशो का नाश, परचक्र का प्रवेश और बडे-बडे नगरो का विनाश होता है। गाय और आक के दूध के दृष्टान्त द्वारा सुगुरु और कुगुरु का भेद, कुगुरु की धतूरे के फूल के साथ तुलना, श्रद्धाहीन

---

१ अपभ्रशकाव्यत्रयी की प्रस्तावना (पृ० ११४) मे इसका 'पढ(ट)मजरी' के रूप मे उल्लेख है। वहाँ पटमजरी राग के विषय मे थोडी जानकारी दी गई है।

२ यह कृति उपाध्याय सूरपालरचित व्याख्या के साथ 'अपभ्रशकाव्यत्रयी' के पृ० ६७–८० मे छपी है।

लोगो का विपरीत वर्ताव, असयत की पूजा, चाहिल द्वारा प्रदर्शित मार्ग, एकता के लिए प्रमार्जनी का दृष्टान्त, श्लेषपूर्वक ग्रह और नक्षत्र के दृष्टान्त द्वारा औचित्य से युक्त मनुष्य को धन की प्राप्ति, लोहचुम्बक से युक्त और उससे रहित जहाज के दृष्टान्त द्वारा लोभ के त्याग से होनेवाले लाभ का वर्णन इत्यादि विषय इस कृति मे आते है।

टीका—इसके रचयिता उपाध्याय सूरप्रभ है। ये जिनपतिसूरि के शिष्य और जिनपाल, पूर्णभद्रगणी, जिनेश्वरसूरि तथा सुमतिगणी के सतीर्थ्य थे। इन्होने उपाध्याय चन्द्रतिलक को विद्यानन्द-व्याकरण पढाया था और दिगम्बर वादी यमदण्ड को स्तम्भतीर्थनगर मे हराया था। इन्होने २८ वें पद्य की व्याख्या मे लिखा है कि ग्रह भी धीरे-धीरे नक्षत्रो पर आरोहण करते है, अत धन न मिलने पर आकुल-व्याकुल होना उचित नही।

आगमियवत्थुवियारसार (आगमिकवस्तुविचारसार) :

यह[1] जैन महाराष्ट्री मे ८६ पद्यो की रचना है।[2] इससे इसे 'छासीइ' (षडशीति) भी कहते है। यह प्राचीन कर्मग्रन्थो मे से एक माना जाता है। इसमे जीवमार्गणा, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेश्या का निरूपण है इसके रचयिता खरतरगच्छ के जिनवल्लभसूरि हैं। इनका स्वर्गवास वि० स० ११६७ मे हुआ था।

टीकाएँ—इसपर अनेक टीकाएँ लिखी गई है

१ जिनवल्लभगणीकृत टीका।

२. वुत्ति (वृत्ति)—८०५ श्लोक-परिणाम की जैन महाराष्ट्री मे लिखी गई यह वृत्ति कर्ता के शिष्य रामदेवगणी ने वि० स० ११७३ मे लिखी है। इसकी कागज पर लिखी गई एक हस्तलिखित प्रति वि० स० १२४६ की मिलती है। इससे प्राचीन कोई जैन हस्तलिखित कागज की प्रति देखने-सुनने मे नही आई।

---

१. मलयगिरि की वृत्ति तथा बृहद्गच्छीय हरिभद्रसूरि की विवृति के साथ वि० स० १९७२ मे यह जैन आत्मानन्द सभा ने प्रकाशित किया है।

२ एक हस्तलिखित प्रति मे ९४ पद्य है। इसके लिए देखिए—भाण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर से प्रकाशित मेरा Descriptive Catalogue of the Government Collection of Manuscripts, Vol XVIII, Part 1, No. 129

३ विवृति—८५० श्लोक-परिमाण की यह सस्कृत विवृति हरिभद्रसूरि ने वि० स० ११७२ मे लिखी है। ये वृहद्गच्छ के जिनदेवसूरि के शिष्य थे।

४ टीका—यह मलयगिरिसूरि की २४१० श्लोक-परिमाण की रचना है।

५ वृत्ति—१६७२ श्लोक-परिमाण की इस वृत्ति के लेखक है चन्द्रकुल के धर्मसूरि के शिष्य यशोभद्रसूरि।

६ विवरण—यह मेरुवाचक की कृति है।

७ टीका—यह अज्ञातकर्तृक है।[1]

सूक्ष्मार्थविचारसार अथवा सार्धशतक प्रकरण

यह[2] खरतरगच्छ के जिनवल्लभसूरि की कृति है। ये नवागीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य थे। इनका स्वर्गवास वि० स० ११६७ मे हुआ था। इसमे कर्मसिद्धान्त का निरूपण किया गया है।

टीकाएँ—इस पर अनेक टीकाएँ है। एक अज्ञातकर्तृक भाष्य है। अगुलसत्तरि इत्यादि के प्रणेता मुनिचन्द्रसूरि ने वि० स० ११७० मे इस पर एक चुण्णि (चूर्णि) लिखी है। शीलभद्र के शिष्य धनेश्वरसूरि ने ११७१ मे ३७०० श्लोक-परिणाम एक वृत्ति लिखी है। दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूरि ने ११७२ मे लिखी है। तीसरी एक वृत्ति चक्रेश्वर ने भी लिखी है। कर्ता के शिष्य रामदेवगणि ने तथा महेश्वरसूरि ने इस पर एक-एक टीका लिखी है। एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है। किसी ने एक १४०० श्लोकप्रमाण वृत्ति-टिप्पण भी लिखा है।

प्रश्नोत्तररत्नमाला अथवा रत्नमालिका :

२९ पद्यो की[3] यह कृति[4] सर्वमान्य सामान्य नीति पर प्रश्न एव उत्तर के द्वारा प्रकाश डालती है। इसके प्रणेता विमलसूरि है। कई विद्वानो के मत से इसके लेखक दिगम्बर जिनसेन के अनुरागी राजा अमोघवर्ष है। कई इसे बौद्ध कृति मानते है, तो कई वैदिक हिन्दुओ की।[5]

---

१ कई लोगो का मानना है कि इस पर दो भाष्य भी लिखे गये थे।

२ धनेश्वरसूरि की वृत्ति के साथ इसे जैनधर्म प्रसारक सभा ने छपवाया है।

३ किसी-किसी हस्तलिखित प्रति मे ३० पद्य है।

४ यह देवेन्द्रकृत टीका के साथ हीरालाल हसराज ने जामनगर से सन् १९१४ मे प्रकाशित की है।

५ इसके विषय मे देखिए—मेरी पुस्तक 'जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास', खण्ड १, पृ० २४०

टीकाएँ—हेमप्रभ ने वि० स० १२२३ या मतान्तर के अनुसार १२७३ मे २१३४ श्लोक-परिमाण की एक वृत्ति लिखी है। इसका आरम्भ 'चन्द्रादित्य-महौषधी' से होता है। ये धर्मघोष के शिष्य यशोघोष के शिष्य थे। इनके अतिरिक्त उपलब्ध होनेवाली अन्य दो वृत्तियो मे से एक वृत्ति मुनिभद्र ने लिखी है और अज्ञातकर्तृक दूसरी ८५८० श्लोक-परिमाण की है।[1] सघतिलक के शिष्य देवेन्द्र ने वि० स० १४२९ मे ७३२६ श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी है। इसमे प्रत्येक प्रश्न के ऊपर एक-एक कथा दी गई है।[2]

सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय

यह पार्श्वदेवगणी अपर नाम श्रीचन्द्रसूरि की कृति है। ये शीलभद्रसूरि के शिष्य थे। श्रीचन्द्रसूरि ने न्यायप्रवेशकव्याख्या पर पजिका और वि० स० १२२८ मे निरयावलीसुयक्खध पर वृत्ति लिखी है। प्रस्तुत कृति २२६४ श्लोक-प्रमाण है और विविध आगमो की व्याख्याओ मे आनेवाले दुर्बोध स्थानो पर प्रकाश डालती है।

इसी नाम की अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध होती है। खरतरगच्छीय जिन-राजसूरि के शिष्य जिनभद्रसूरि ने भी 'सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसे 'समस्तसिद्धान्तविषमपदपर्याय' भी कहते है। इन जिनभद्रसूरि ने जयसागर की सन्देहदोलावली के सशोधन मे वि० स० १४९५ मे सहायता की थी।

●

---

१ इस अज्ञातकर्तृक वृत्ति की वि० स० १४४१ की एक हस्तलिखित प्रति मिलती है।

२ प्रस्तुत कृति का फ्रेंच भाषा मे अनुवाद हुआ है और वह छपा भी है।

तृतीय प्रकरण

धर्मोपदेश

उवएसमाला (उपदेशमाला) ·

५४२ आर्याछन्द मे[1] रचित इस कृति[2] के प्रणेता धर्मदासगणी है।[3] इनके विषय मे ऐसी मान्यता प्रचलित है कि ये स्वय महावीरस्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य थे, परन्तु यह मान्यता विचारणीय है, क्योकि इस ग्रन्थ मे सत्तर के लगभग जिन कथाओ का सूचन है उनमे वज्रस्वामी का भी उल्लेख है। इसकी भाषा भी आचाराग आदि जितनी प्राचीन नही है।

आचारशास्त्र की प्रवेशिका का श्रीगणेश इस कृति से होता है और इस दिशा मे मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने सबल प्रयत्न किया है ऐसा उनकी 'उवएस-माला' देखने से ज्ञात होता है। प्रस्तुत कृति मे निम्नलिखित विषयो का रसप्रद एव सदृष्टान्त निरूपण है -

गुरु का महत्त्व, आचार्य के गुण, विनय, पुरुषप्रधान धर्म, क्षमा, अज्ञान-तपश्चर्या का मूल्य, प्रव्रज्या का प्रभाव, सहनशीलता, पाँच आस्रवो का त्याग, शील का पालन, सम्यक्त्व, पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन, चार कषायो पर विजय, सच्चा श्रामण्य, सयम, अप्रमाद, अपरिग्रह और दया।

इस प्रकार इस कृति मे जीवन-शोधन और आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यन्त मूल्यवान सामग्री भरी हुई है।

---

१ लगभग ३ गाथाएँ प्रक्षिप्त है।

२ यह अनेक स्थानो से प्रकाशित हुई है। बम्बई से सन् १९२६ मे 'श्री श्रुतज्ञान अमीधारा' के पृ० १२२-१५० मे छपी है। इसके अलावा जामनगर से हीरालाल हमराज ने सन् १९३४ मे रामविजयगणीकृत वृत्ति के साथ तथा सन् १९३९ मे सिद्धर्षि की टीका के साथ यह प्रकाशित की है। रामविजयगणीकृत टीका का गुजराती अनुवाद भी छपा है।

३ देखिए-अन्तिम भाग।

'दोससयमूलजाल' से प्रारम्भ होनेवाली इस कृति की ५१ वी गाथा के सौ अर्थ उदयधर्म ने वि० सं० १६०५ मे किये है। ४७१ वी गाथा में 'मामाइस नामक पक्षी का उल्लेख है।

टीकाएँ—प्रस्तुत 'उवएसमाला' पर लगभग बीस सस्कृत टीकाएँ है। कृष्णर्षि के शिष्य जयसिंह ने वि० स० ९१३ में जैन महाराष्ट्री मे एक 'वृत्ति' लिखी है। दुर्गस्वामी के शिष्य और उपमितिभवप्रपचाकथा के रचयिता सिद्धर्षि ने इस पर वि० स० ९६२ मे 'हेयोपादेया' नाम की ९५०० श्लोक-परिमाण एक दूसरी वृत्ति लिखी है। उवएसमाला की सब टीकाओ मे यह अग्रस्थानीय है। इस पर लिखी गई एक दूसरी महत्त्व की टीका का नाम 'दोघट्टी' है।[1] 'वादी' देवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि की यह टीका ११५५० श्लोक-परिमाण है और इसका रचनाकाल वि० स० १२३८ है। इसमे सिद्धर्षि का उल्लेख है। इस टीका मे एक रणसिंह की कथा आती है, जिसमे कहा गया है कि वे विजय-सेन राजा और विजया रानी के पुत्र थे। ये विजयसेन दीक्षा लेकर अवधिज्ञानी हुए थे और उन्होने अपने सासारिक पुत्र के लिए 'उवएसमाला' लिखी थी। ये विजयसेन ही धमदासगणी है। दोघट्टी की वि० स० १५२८ मे लिखी गई एक हस्तलिखित प्रति मे चार विभाग करके प्रत्येक विभाग को 'विश्राम' कहा है। इसके अलावा उसके पुन दो विभाग करके उसे 'खण्ड सज्ञा भी दी है। प्रथम खण्ड मे प्रारम्भ की ९१ गाथाएँ है। दोघट्टी वृत्ति मे उवएसमाला मे सूचित कथाएँ जैन महाराष्ट्री मे और कुछ अपभ्रश मे है, जबकि व्याख्या तो सस्कृत मे ही है।

सिद्धर्षिकृत हेयोपादेया मे कथानक अल्प और सक्षिप्त होने से वर्धमानसूरि ने उसमे और कथानक जोड दिये है। उसकी वि० स० १२९८ मे लिखित एक प्रति मिलती है। नागेन्द्रगच्छ के विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ ने १२९९ में १२२७४ श्लोक-परिमाण की 'कर्णिका' नाम की एक टीका लिखी है।[2]

---

१ इसकी पहली गाथा मे 'घटाघटी' ऐसा शब्द-प्रयोग आता है, जिसके आधार पर इस टीका का नाम 'दोघट्टी' पडा है ऐसा कई लोगो का मानना है। इस टीका को 'विशेषवृत्ति' भी कहते हैं।

२ इनके अतिरिक्त दूसरी सस्कृत आदि टीकाओ का निर्देश मैंने अपने लेख 'धर्मदासगणीकृत उवएसमाला अने एना प्रकाशनो तथा विवरणो' (आत्मा-नन्द प्रकाश) मे किया है।

उवएसपय (उपदेशपद) :

१०३९ आर्याछन्द में जैन महाराष्ट्री में लिखित इस ग्रन्थ[1] के रचयिता हरिभद्रसूरि है। इन्होने इस ग्रन्थ में उत्तराध्ययन की निर्युक्ति, नन्दी, सन्मति-प्रकरण आदि की कई गाथाएँ मूल मे ही गूंथ ली है।[2] इस कृति मे मानवभव की दुर्लभतासूचक दस दृष्टान्त, जैन आगमो का अध्ययन, चार प्रकार की बुद्धि, धार्मिक बोध देने की और ग्रहण करने की पद्धति, वाक्यार्थ, महावाक्यार्थ एव ऐदम्पर्यार्थ की स्पष्टता इत्यादि विषयो पर विचार किया गया है।

टीकाएँ—उवएसपय के ऊपर किसी ने गहन वृत्ति रची थी ऐसा इस कृति की मुनिचन्द्रसूरिरचित (वि० स० ११७४) सुखसम्बोधनी नाम की विवृति के प्रारम्भिक भाग (श्लोक ३) से ज्ञात होता है। इस महाकाय[3] विवृति के रचयिता को उनके शिष्य रामचन्द्रगणी ने सहायता की थी। इस विवृति मे कई कथानक जैन महाराष्ट्री में है।

वि० स० १०५५ में श्री वर्धमानसूरि ने इसपर एक टीका लिखी है। इसकी प्रशस्ति पार्श्विलगणी ने रची है। इस समग्र टीका का प्रथमादर्श आर्यदेव ने तैयार किया था। 'वन्दे देवनरेन्द' से शुरू होनेवाली इस टीका का परिमाण ६४१३ श्लोक है। मूल पर एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

उपदेशप्रकरण

१००० श्लोक-परिमाण की यह पद्यात्मक कृति[4] अज्ञातकर्तृक है। इसमें धर्म, पूजा, दान, दया, सज्जन, वैराग्य और सूक्त जैसे विविध अधिकारो को स्थान दिया गया है।

---

१ यह मुनिचन्द्रसूरि की सुखसम्बोधनी नाम की विवृति के साथ 'मुक्ति-कमल-जैन-मोहनमाला' में दो विभागो मे अनुक्रम से सन् १९२३ और सन् १९२५ मे प्रकाशित हुआ है।

२ धर्मोपदेशमाला-विवरण के प्रास्ताविक (पृ० १४) मे जिनविजयजी ने उवएसपय को धर्मदासगणीकृत उवएसमाला की अनुकृतिरूप माना है।

३ मूल कृति के साथ इसका श्लोक-परिमाण १४,५०० है।

४ इसके परिचय के लिए देखिए—Descriptive Catalogue of Govt Collections of Mss Vol XVIII, pp. 331–2

घम्मोवएसमाला (धर्मोपदेशमाला) :

जैन महाराष्ट्री मे ९८ आर्याछन्द में रचित इस कृति[1] के लेखक कृष्ण मुनि के शिष्य और प्रस्तुत कृति के आद्य विवरणकार जयसिंहसूरि माने जाते है। यह धर्मदासगणीकृत उवएसमाला का प्राय अनुकरण करती है।

टीका—इस कृति पर उपर्युक्त जयसिंहसूरि ने ५,७७८ श्लोक-परिमाण एक विवरण नागोर में वि० स० ९१५ में पूर्ण किया था। इसमें व्याख्या सस्कृत में है, परन्तु १५६ कथाएँ जैन महाराष्ट्री में है। ये कथाएँ अनेक दृष्टि से महत्त्व की है। सत्पुरुप के सग की महिमा को सूचित करने के लिए १९ वी गाथा के विवरण मे वकचूलि की कथा दी गई है। पृ० १९३-४ पर ऋषभदेव आदि चौवीस तीर्थंकरो की स्तुतिरूप जयकुसुममाला की रचना विवरणकार ने जैन महाराष्ट्री मे की है। इसके अतिरिक्त इस विवरण के अन्त मे इन तीर्थंकरो के गणधर एव श्रुतस्थविरो[2] के बारे मे जैन महाराष्ट्री पद्य मे जानकारी दी गई है। प्रस्तुत विवरण में धर्मदासगणीकृत उवएसमाला के अपने (जयसिंहसूरि के) विवरण का अनेक स्थानो पर उल्लेख आता है। इन्होने 'द्विमुनिचरित'[3] तथा 'नेमिनाथचरित' भी लिखे है।

इस पर हर्षपुरीय गच्छ के (मलधारी) हेमचन्द्रसूरि के पट्टधर विजयसिंह-सूरि ने वि० स० ११९१ मे १४,४७१ श्लोक-परिमाण विवरण सस्कृत मे लिखा है। इसमें कथाओ का विस्तार है। इसके अतिरिक्त मदनचन्द्रसूरि के शिष्य मुनिदेव ने वि० स० १३२५ मे एक वृत्ति लिखी है और उसमे उन्होने जयसिंह-सूरिकृत विवरण का उपयोग किया है।

उवएसमाला (उपदेशमाला) :

'पुष्पमाला' के नाम से भी प्रसिद्ध और 'कुसुममाला' का गौण नाम धारण करनेवाली तथा आध्यात्मिक रूपको से अलकृत जैन महाराष्ट्री के ५०५

---

१ यह कृति जयसिंहसूरिकृत विवरणसहित 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' के २८ वें ग्रन्थाक के रूप मे सन् १९४९ मे प्रकाशित हुई है।

२ जम्बूस्वामी से लेकर देववाचक तक के।

३. देखिए—उपर्युक्त प्रकाशन की प्रस्तावना, पृ० ६

आर्याछन्द में रचित इस कृति[1] के प्रणेता मलधारी हेमचन्द्रसूरि हैं। इन्होने इसमे अपना नाम धर्मदासगणी को भाँति कुशलतापूर्वक सूचित किया है। यह धर्मदासगणी की उवएसमाला की अनुकरणरूप कृति है। इसमे विविध दृष्टान्त देकर अधोलिखित बीस अधिकारो का निरूपण किया गया है

१. अहिंसा, २ ज्ञान, ३ दान, ४. शील, ५ तप, ६ भावना, ७ सम्यक्त्व की शुद्धि, ८ चारित्र की शुद्धि, ९ इन्द्रियो पर विजय, १० कषायो का निग्रह, ११ गुरुकुलवास, १२ दोषो की आलोचना, १३ भववैराग्य, १४ विनय, १५ वैयावृत्य, १६ स्वाध्याय-प्रेम, १७. अनायतन का त्याग, १८. निन्दा का परिहार, १९ धर्म में स्थिरता और २० अनशनरूप परिज्ञा।

टीकाएँ—बृहट्टिप्पनिका (क्रमाक १७७) के अनुसार स्वय लेखक की स्वोपज्ञ वृत्ति वि० स० ११७५ मे रची गई है। इसका परिमाण लगभग १३,००० श्लोक है। इसमे मूल कृति में दृष्टान्त द्वारा सूचित कथाएँ गद्य और पद्य में जैन महाराष्ट्री में दी गई है। इसके अतिरिक्त इस पर अचल-गच्छ के जयशेखरसूरि ने वि० स० १४६२ में १९०० श्लोक-परिमाण अवचूरि, साधुसोमगणी ने वि० स० १५१२ में वृत्ति, अन्य किसी ने वि० स० १५१९ से पहले एक दूसरी वृत्ति और मेरुसुन्दर ने बालावबोध की रचना की है।[2]

उवएसरसायण (उपदेशरसायन) :

चच्चरी इत्यादि के कर्ता जिनदत्तसूरि ने 'पद्धटिका' छन्द में अपभ्रश मे इसकी[3] रचना की है। इसके विवरणकार के मतानुसार यह सब रागो में गाया जाता है। इसमें लोकप्रवाह, सुगुरु का स्वरूप, चैत्यविधि तथा श्रावक एव श्राविका की हितशिक्षा—इन सब विषयो को स्थान दिया गया है।

---

१ श्री कर्पूरविजयजीकृत भावानुवाद के साथ यह कृति 'जैन श्रेयस्कर मण्डल,' महेसाणा ने सन् १९११ में प्रकाशित की है। इसके पश्चात् स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ यह 'ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था', रतलाम से वि० स० १९९३ मे प्रकाशित की गई है।

२ श्री कर्पूरविजयजी ने इसका भावानुवाद किया है और वह छप भी चुका है।

३ यह 'अपभ्रशकाव्यत्रयी' (पृ० २९–६६) मे जिनपालकृत सस्कृत व्याख्या के साथ छपी है। कर्ता ने अन्तिम पद्य मे 'उवएसरसायण' नाम दिया है। जिनपाल ने अपनी व्याख्या के आरम्भ मे इसे उपदेशरसायन एव धर्मरसायन रासक (रासा) कहा है।

प्रस्तुत कृति के ४, ६, २७, २९, ३३, ३४, ६९ और ७१ पद्य गणहर-सद्धसयग (गणधरसार्धशतक) की सुमतिगणी की बृहद्वृत्ति में उद्धृत किये गये है।

टीकाएँ—जिनपाल ने वि० स० १२९२ में संस्कृत मे एक व्याख्या लिखी है। इसके अतिरिक्त भाडागारिक नेमिचन्द्र ने इसपर एक विवरण लिखा था, ऐसा कई लोगो का कहना है।

उपदेशकन्दली

जैन महाराष्ट्री के १२५ पद्य में रचित इस कृति के प्रणेता आसड हैं। ये 'भिन्नमाल' कुल के कटुकराज के पुत्र और जासड के भाई थे। इनकी माता का नाम रआनलदेवी था। इनकी यह रचना अभयदेवसूरि के[1] उपदेश का परिणाम है। इन्ही आसड ने वि० स० १२४८ में विवेगमजरी (विवेकमजरी) लिखी है। इनकी पृथ्वीदेवी और जैतल्ल नाम की दो पत्नियाँ थी। जैतल्लदेवी से इन्हें राजड और जैत्रसिह नाम के दो पुत्र हुए थे।

टीका—उपर्युक्त अभयदेवसूरि के शिष्य हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि ने आसड के पुत्र जैत्रसिह की विज्ञप्ति से इसपर ७,६०० श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी थी और इस कार्य मे प्रद्युम्न[2] एव पद्मचन्द्र ने[3] सहायता की थी। इसकी वि० स० १२९६ मे लिखी गई एक हस्तलिखित प्रति मिलती है। इस टीका का तथा मूल कृति का कुछ भाग Descriptive Catalogue of Govt Collections of Mss (Vol XVIII, part 1) मे छपा है।

हितोपदेशमाला-वृत्ति :

इसे हितोपदेशमाला प्रकरण भी कहते है।[4] यह प्रकरण परमानन्दसूरि ने वि० स० १३०४ में लिखा था। ये नवागीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि के शिष्य थे।

---

१ ये 'चन्द्र' कुल के देवेन्द्रसूरि के शिष्य भद्रेश्वर के पट्टधर थे।

२ ये देवानन्द-गच्छ के कनकप्रभ के शिष्य थे।

३ ये बृहद्-गच्छ के धनेश्वरसूरि के शिष्य थे।

४. देखिए—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४०९.

उवएसचिंतामणि (उपदेशचिंतामणि) :

जैन महाराष्ट्री के ४१५ पद्यों में रचित इस कृति[1] के लेखक अचलगच्छ के महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य जयशेखरसूरि हैं। यह चार अधिकारों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः धर्म की प्रशंसा, धर्म की सामग्री, देशविरति एवं सर्वविरति का निरूपण है। चतुर्थ अधिकार के उपान्त्य (१५७ वें) पद्य में कर्ता ने अपना प्राकृत नाम कुंजर, नयर, विसेस, आहव, सरस, पऊण और वरिस इन शब्दों के मध्याक्षर द्वारा सूचित किया है।

टीकाएँ—इस पर एक स्वोपज्ञ टीका है, जिसका श्लोक-परिमाण १२,०६४ है। यह टीका वि० सं० १४३६ में 'नृसमुद्र' नगर में रची गई थी। इनके अतिरिक्त स्वयं कर्ता ने इसी वर्ष में ४३०५ श्लोक-परिमाण की अवचूरि भी लिखी है। मेरुतुंग ने इसपर एक वृत्ति और किसी अज्ञात लेखक ने एक अवचूरि भी लिखी है।[2]

प्रबोधचिन्तामणि :

यह उपर्युक्त जयशेखरसूरि की वि० सं० १४६२ में १९९१ पद्यों में लिखी गई कृति[3] है। यह सात अधिकारों में विभक्त है और उनमें मोह और विवेक का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। प्रथम अधिकार में चिदानन्दमय प्रकाश को वन्दन करके परमात्मा का निरूपण किया गया है। दूसरे में आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होनेवाले पद्मनाभ तथा उनके शिष्य धर्मरुचि का जीवनवृत्तान्त है। तीसरे में मोह और विवेक की उत्पत्ति तथा मोह के द्वारा राज्य की प्राप्ति का वर्णन आता है। चौथे में विवेक का विवाह तथा उसे प्राप्त राज्य के विषय में निरूपण है। पांचवें में मोह द्वारा भेजे गये दूत और कन्दर्प के दिग्विजय की बात आती है। छठे में कन्दर्प का प्रवेश, 'कलि' काल और विवेक का प्रस्थान

---

१ स्वोपज्ञ टीका एवं गुजराती अनुवाद के साथ यह कृति चार भागों में हीरालाल हंसराज ने प्रकाशित की है, परन्तु जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ४७) में मूल कृति में ५४० गाथाओं के होने का और हीरालाल हंसराज ने सन् १९१९ में प्रकाशित की है, ऐसा उल्लेख है।

२ मूल एवं स्वोपज्ञ टीका का श्री हरिशंकर कालिदास शास्त्री ने गुजराती में अनुवाद किया है और वह प्रकाशित भी हो चुका है।

३. यह ग्रन्थ जैन धर्म प्रसारक सभा ने वि० सं० १९६५ में प्रकाशित किया है। इसी सभा ने इसका गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित किया है।

निरूपित है। सातवें में मोह और विवेक का युद्ध, विवेक की जय, परमात्मा का वर्णन और ग्रन्थकार की प्रशस्ति है। इसमें प्रसंगोपात्त अजैन दर्शनों के बारे में भी जानकारी दी गई है।

उपदेशरत्नाकर :

यह[1] अध्यात्मकल्पद्रुम आदि के रचयिता और सोमसुन्दरसूरि के शिष्य सहस्रावधानी मुनिसुन्दरसूरि[2] की पद्यात्मक कृति है। अनेक दृष्टान्तो से अलकृत यह कृति सर्वांगत संस्कृत या जैन महाराष्ट्री में नही है। इसमें कुल ४४७ पद्य हैं, जिनमें से २३४ संस्कृत में और अवशिष्ट २१३ जैन महाराष्ट्री में हैं। बीच-बीच में ५६ पद्य उद्धरणरूप आते हैं। उन्हें न गिनें तो यह कृति ३९१ पद्यो की कही जा सकती है।

यह समग्र कृति तीन अधिकारो में विभक्त है। इसमें प्रथम अधिकार को 'प्राच्यतट' और अन्तिम को 'अपरतट' कहा है। पहले के दो अधिकारो में चार-चार अंश और प्रत्येक अश में अल्पाधिक तरग हैं। अन्तिम तट के आठ विभाग हैं और इनमें से पहले के चार का 'तरग' के नाम से निर्देश है।[3]

इस कृति मे विविध विषयो का निरूपण किया गया है, जैसे कि श्रोता की योग्यता, गुरुओ की योग्यता, सच्चा धर्म, जीवो का वैविध्य, साधुओ की वृत्ति, धर्म का फल, क्षत्रिय आदि के धर्म, जिनपूजा और जिनेश्वर का स्वरूप।

---

१. इस कृति के पहले दो अधिकारो का स्वोपज्ञ वृत्तिसहित प्रकाशन देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९१४ मे किया है। जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ५२) में इस प्रकाशन का वर्ष सन् १९२२ दिया है, किन्तु वह भ्रान्त है। इसकी सम्पूर्ण आवृत्ति चन्दनसागरजी के गुजराती अनुवाद और मेरी विस्तृत प्रस्तावना के साथ 'जैन पुस्तक-प्रचारक सस्था' ने वि० स० २००५ मे प्रकाशित की है।

२. इनके जीवनकाल एव कृति-कलाप के विषय में मैंने उपर्युक्त भूमिका (पृ० ५९-९२) में ब्योरेवार परिचय दिया है। इनका जन्म वि० स० १४०३ और स्वर्गवास वि० स० १५०३ मे माना जाता है।

३ देखिये—उपर्युक्त भूमिका (पृ० ८)। वहाँ कुछ विशेष बातें दी गई है।

टीका—स्वयं कर्ता ने इस पर एक वृत्ति लिखी है। इसका अथवा मूलसहित इसका परिमाण ७६७५ श्लोक है। अपरतट पर वृत्ति नहीं है।[1]

१ उपदेशसप्ततिका :

इसका[2] दूसरा नाम 'गृहस्थधर्मोपदेश' भी है। वि० स० १५०३ में रचित ३००० श्लोक-परिमाण की इस कृति के रचयिता सोमधर्मगणी हैं। ये सोमसुन्दरसूरि के शिष्य चारित्ररत्नगणी के शिष्य थे। यह पाँच अधिकारों में विभक्त है। इसमें उपदेशात्मक ७५ कथाएँ हैं। प्रस्तुत कृति में देव-तत्त्व, गुरु-तत्त्व और धर्म-तत्त्व का निरूपण है। पहले और तीसरे तत्त्व के लिये दो-दो और दूसरे के लिये एक अधिकार है। इन पाँच अधिकारों में से पहले अधिकार में तीर्थंकर की पूजा, देवव्रत इत्यादि विषय हैं। दूसरे में तीर्थ का और तीसरे में गुरु के गुणों का कीर्तन, वन्दन एवं उनकी पूजा का वर्णन आता है। चौथा चार कषाय-विषयक है और पाँचवाँ गृहस्थ-धर्मविषयक है।[3]

२ उपदेशसप्ततिका :

इसकी[4] रचना खरतरगच्छ के क्षेमराज ने की है।

टीकाएँ—इसपर स्वयं लेखक की एक टीका है। ७९७५ श्लोक-परिमाण यह टीका वि० स० १५४७ में लिखी गई थी। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

---

१ श्री चन्दनसागरजी ने इस मूल कृति का गुजराती में अनुवाद किया है और वह छपा भी है।

२ यह कृति जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९७१ में प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त 'जैन मस्तु साहित्य ग्रन्थमाला' में वि० स० १९९८ में भी यह प्रकाशित हुई है।

३ इसका गुजराती अनुवाद जैन आत्मानन्द सभा ने प्रकाशित किया है।

४ यह ग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका एवं गुजराती अनुवाद के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा ने (मूल और टीका सन् १९१७ में तथा अनुवाद वि० स० १९७६ में) प्रकाशित किया है।

उपदेशतरगिणी

३३०० श्लोक-परिमाण की इस गद्यात्मक कृति[1] को 'धर्मोपदेशतरगिणी' भी कहते है। इसके रचयिता है रत्नमन्दिरगणी। ये तपागच्छ के सोमसुन्दरसूरि के शिष्य नन्दिरत्नगणी के शिष्य थे। इन्होने वि० स० १५१७ मे 'भोजप्रबन्ध' लिखा है। अनेक दृष्टान्त एव सूक्तियो से अलकृत प्रस्तुत कृति का प्रारम्भ शत्रुजय इत्यादि विविध तीर्थों के सकीर्तन के साथ किया गया है। यह कृति कमोवेश उपदेशवाले पाँच तरगो मे विभक्त है। अन्तिम दो तरग पहले तीन की अपेक्षा बहुत छोटे हैं। पहले तरग मे दान, शील, तप और भाव का निरूपण है। दूसरे मे जिनमन्दिर इत्यादि सात क्षेत्रो मे दान देने का कथन है। तीसरे तरग मे जिनपूजा का, चौथे मे तीर्थयात्रा का और पाँचवें मे धर्मोपदेश का अधिकार है। पत्र २६८ में वसन्तविलास के नामोल्लेख के साथ एक उद्धरण दिया गया है।[2]

१. आत्मानुशासन :

यह हरिभद्रसूरि की कृति मानी जाती है, परन्तु अबतक यह उपलब्ध नही है।

२. आत्मानुशासन .

२७० श्लोको की यह कृति[3] दिगम्बर जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र की रचना है। इसमे विविध छन्दो का उपयोग किया गया है। इसमे शिकार का

---

१. यह कृति यशोविजय जैन ग्रन्थमाला मे बनारस से वीर सवत् २४३७ मे प्रकाशित हुई है। इसकी वि० स० १५१९ की एक हस्तलिखित प्रति मिली है। इसकी जानकारी मैंने DCGCM (Vol XVIII, Part I, No 201) मे दी है।

२. इसका हीरालाल हसराज ने गुजराती मे अनुवाद किया है, जो अनेक दृष्टियो से दूषित है।

३ यह 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' मे सन् १९०५ मे प्रकाशित हुआ है। टीका एव जगमन्दरलाल जैनी के अग्रेजी अनुवाद के साथ यह Sacred Books of the Jainas ग्रन्थमाला में आरा से सन् १९२८ मे छपा है। प० टोडरमलरचित भाषाटीका के साथ इसे इन्द्रलाल शास्त्री ने जयपुर से 'मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला' में वीर सवत् २४८२ में छपाया है। इसके अतिरिक्त प० वशीधर शास्त्रीकृत भाषाटीकासहित भी मूल कृति छपी है।

निषेध, काल की कराल्ता, परीषह एवं दुःखों का सहन करना, गुरु की कठोर वाणी की आदरणीयता, आत्मा का स्वरूप इत्यादि बातें आती हैं। इसमें मुक्ति की साधना के लिये उपदेश दिया गया है। २६९ वाँ श्लोक श्लेषात्मक है। इसके द्वारा कर्ता ने अपना और अपने गुरु का नाम सूचित किया है।

टीका—इसपर प्रभाचन्द्र ने एक टीका लिखी है। इसी को आत्मानुशासन-तिलक कहते हैं या अन्य किसी को, यह विचारणीय है। इस मूल कृति पर पं० टोडरमल ने तथा पं० वंशीधर शास्त्री ने एक-एक भाषा टीका लिखी है।[1]

धर्मसार :

यह हरिभद्रसूरि की कृति है। कृति का उल्लेख पंचसंग्रह (गा० ८) की टीका (पत्र ११ आ) में मलयगिरिसूरि ने किया है, परन्तु यह अभी तक तो अप्राप्य ही है।

टीका—प्रस्तुत कृति पर मलयगिरिसूरि ने एक टीका लिखी है, किन्तु यह भी मूल की भाँति अप्राप्य है। इस टीका का उल्लेख मलयगिरि ने धर्मसंग्रहणी में किया है।

धर्मबिन्दु :

यह हरिभद्रसूरि की आठ अध्यायों में विभक्त कृति[2] है। इन अध्यायों में अल्पाधिक सूत्र हैं। इनकी कुल संख्या ५४२ है। यह कृति गृहस्थ एवं श्रमणों के सामान्य तथा विशेष धर्मों पर प्रकाश डालती है। इसमें अधोलिखित अध्याय हैं : १ गृहस्थसामान्यधर्म, २. गृहस्थदेशनाविधि, ३. गृहस्थविशेषदेशनाविधि, ४. यतिसामान्यदेशनाविधि, ५ यतिधर्मदेशनाविधि, ६. यतिधर्मविशेषदेशनाविधि, ७ धर्मफलदेशनाविधि, ८ धर्मफलविशेषदेशनाविधि।

---

१ श्री जगमन्दरलाल जैनी ने इसका अंग्रेजी में भी अनुवाद किया है।

२ यह मुनिचन्द्रसूरि की टीका के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० सं० १९६७ में प्रकाशित किया है। इसका गुजराती अनुवाद सन् १९२२ में छपा है। इसके अतिरिक्त मुनिचन्द्रसूरि की टीकासहित मूल कृति का अमृतलाल मोदी-कृत हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी जैन साहित्य प्रचारक मण्डल', अहमदाबाद ने सन् १९५१ में प्रकाशित किया है।

यह कृति मार्गानुसारी के ३५ गुणो पर प्रकाश डालती है।

टीका—इसपर मुनिचन्द्रसूरि ने ३००० श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० स० ११८१ की मिलती है।[1]

धर्मरत्नकरण्डक :

९५०० श्लोक-परिमाण का यह ग्रन्थ[2] अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमान ने वि० स० ११७२ मे लिखा है।

टीका—इसपर वि० स० ११७२ की लिखी स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसके सशोधको के नाम अशोकचन्द्र, धनेश्वर, नेमिचन्द्र और पार्श्वचन्द्र है।

धम्मविहि (धर्मविधि)

यह चन्द्रकुल के सर्वदेवसूरि के शिष्य श्रीप्रभसूरि की कृति[3] है। जैन महाराष्ट्री में रचित इसमे ५० पद्य है। इसमे निम्नलिखित आठ द्वारो का निरूपण है · १. धर्म की परीक्षा, २. उसकी प्राप्ति, ३ धर्म के गुण अर्थात् अतिशय, ४ धर्म के नाश के कारण, ५ धर्म देनेवाले गुरु, ६ धर्म के योग्य कौन, ७. धर्म के प्रकार और ८. धर्म का फल।

---

१. इसका गुजराती अनुवाद मणिलाल दोशी ने किया है और वह छपा भी है। मूल एव उपर्युक्त टीका का हिन्दी अनुवाद अमृतलाल मोदी ने किया है। यह भी प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त डा० सुआली ने इटालियन भाषा में भी मूल का अनुवाद किया है। पहले तीन अध्यायो का अनुवाद टिप्पणियो के साथ Journal of the Italian Asiatic Society (Vol. 21) मे छपा है।

२ यह कृति हीरालाल हसराज ने दो भागो मे सन् १९२५ में प्रकाशित की है।

३ पहले केवल मूल कृति 'हसविजयजी फ्री लायब्रेरी' ने वि० स० १९५४ में छपवाई थी, परन्तु बाद मे सन् १९२४ में उदयसिहसूरिकृत वृत्ति एव सस्कृत छाया के साथ यह कृति उक्त लायब्रेरी ने पुन प्रकाशित की। इसके प्रारम्भ मे मूल कृति तथा उसकी सस्कृत छाया भी दी गई है।

इन द्वारों के निरूपण में विभिन्न उदाहरण दिये गये हैं। कथाएँ इस प्रकार हैं इलापुत्र, उदयननृप, कामदेव श्रावक, जम्बूस्वामी, नन्दमणिकार, प्रदेशी राजा, मूलदेव, वरनृप, विष्णुकुमार, सम्प्रति राजा, सुभद्रा, सुरदत्त श्रेष्ठी और स्थूलिभद्र। इन कथाओं की पद्य-संख्या ९३७५ है। इनमें से केवल जम्बूस्वामी कथा के पद्य १४५० हैं।

इसमें सम्यक्त्व की प्राप्ति से लेकर देशविरति की प्राप्ति तक का क्रम बतलाया है। इसमें दानादि चतुर्विध धर्म तथा गृहस्थ-धर्म एवं साधु धर्म इस प्रकार द्विविध धर्म के विषय में कथन है। इन धर्मों का निरूपण करते समय सम्यक्त्व के दस प्रकार और श्रावक के बारह व्रतों का निर्देश किया गया है।

टीकाएँ—स्वयं कर्ता ने इस पर टीका लिखी थी, किन्तु उनके प्रशिष्य उदय-सिंह ने वि० सं० १२५३ में उसके नष्ट हो जाने का उल्लेख धर्मविधि की अपनी वृत्ति की प्रशस्ति (श्लो० ६) में किया है। उदयसिंह की यह वृत्ति ५५२० श्लोक-परिमाण है और चन्द्रावती में वि० सं० १२८६ में लिखी गई है। इसमें मूल में दिये गये उदाहरणों को स्पष्टता के लिए तेरह कथाएँ दी गई हैं। ये कथाएँ जैन महाराष्ट्री में रचित पद्यों में हैं। इस वृत्ति के अन्त में बीस पद्यों की प्रशस्ति है।

इस पर एक और वृत्ति जयसिंहसूरि की है, जो १११४२ श्लोक-परिमाण है। इन्होंने 'उवएसमाला' ऐसे नामान्तरवाली अन्य धम्मविहि पर टीका लिखी है।

धर्मामृत

दिगम्बर आशाधर[1] द्वारा दो भागों में रचित यह पद्यात्मक कृति[2] है। इन दोनों भागों को अनुक्रम से 'अनगारधर्मामृत' और 'सागारधर्मामृत' कहते

---

१ इन्होंने पूज्यपादरचित 'इष्टोपदेश' एवं उसकी स्वोपज्ञ मानी जाती टीका के ऊपर टीका लिखी है और उसमें उपर्युक्त स्वोपज्ञ टीका का समावेश किया है।

२ यह कृति स्वोपज्ञ टीका के साथ माणिकचन्द्र दिगम्बर ग्रन्थमाला में छपी है। इसके अतिरिक्त सागारधर्मामृत 'विजयोदया' टीका के साथ 'सरल जैन ग्रन्थमाला' ने जबलपुर से वीर संवत् २४८२ और २४८४ में छपवाया है। उसमें मोहनलाल शास्त्री का हिन्दी अनुवाद भी छपा है।

है। पहले भाग मे नौ अध्याय हैं। उनमे साधुओं के आचार का निरूपण है। दूसरे भाग मे आठ अध्याय है और उनमे श्रावको के आठ मूलगुण[1] तथा बारह व्रतो को बारह उत्तरगुण मान कर उनका स्वरूप बतलाया है। इस सम्बन्ध मे विशेष जानकारी मैंने अपने 'जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास' भाग २ मे प्रस्तुत की है।

आशाधर बघेरवाल जाति के राजमान्य सल्लक्षण और उनकी पत्नी श्रीरत्नी के पुत्र थे। उनका जन्म माण्डवगढ मे हुआ था। महावीर उनके विद्यागुरु थे। इन्होंने अपनी पत्नी सरस्वती से उत्पन्न पुत्र छाहड की प्रशसा की है। इन्होंने नलकच्छपुर के राजा अर्जुनवर्मदेव के राज्य मे पैंतीस वर्ष बिताये थे और बहुत साहित्य रचा था। उदयसेन ने 'नयविश्वचक्षु' एव 'कलिकालिदास' कहकर तथा मदनकीर्ति ने 'प्रज्ञापुज' कहकर इनकी प्रशसा की है। इनके अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं अध्यात्मरहस्य, क्रियाकलाप, जिनयज्ञकल्प और उसकी टीका, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, नित्यमहोद्योत, प्रमेयरत्नाकर, भरतेश्वराभ्युदय, रत्नत्रय विधान, राजीमतीविप्रलम्भ, सहस्रनामस्तवन और उसकी टीका। इनके अतिरिक्त इन्होंने अमरकोश, अष्टागहृदय, आराधनासार, इष्टोपदेश, काव्यालकार, भूपालचतुर्विंशतिका एवं मूलाराधना—इन अन्यकर्तृक ग्रन्थो पर भी टीकाएँ लिखी है।

टीकाएँ—इसपर स्वय आशाधर ने 'ज्ञानदीपिका' नाम की पजिका लिखी है। इसके अतिरिक्त स्वय उन्होंने 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' नाम की दूसरी टीका भी लिखी है। यह ज्ञानदीपिका की अपेक्षा बडी है। अनगारधर्मामृत की यह स्वोपज्ञ टीका वि० स० १३०० की रचना है, जबकि सागारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका वि० स० १२९६ मे लिखी गई थी।[2]

---

१ ये तीन प्रकार से गिने जाते है १ मद्य, मास और मधु इन तीन प्रकार एव पाँच प्रकार के उदुम्बर फल का त्याग, २ उपर्युक्त तीन प्रकार तथा स्थूल हिंसा आदि पाँच पापो का त्याग और ३ मद्य, मास एव द्यूत तथा उपर्युक्त पाँच पापो का त्याग।

२ अनगारधर्मामृत और भव्यकुमुदचन्द्रिका का हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी टीका' के नाम से प० खूबचन्द ने किया है। यह खुशालचन्द पानाचन्द गाँधी ने सोलापुर से सन् १९२७ मे प्रकाशित किया है। सागारधर्मामृत का हिन्दी में अनुवाद लालाराम ने किया है और दो भागो मे 'दिगम्बर जैन पुस्तकालय', सूरत से प्रकाशित किया है।

महाराष्ट्री मे रचित आर्याछन्द के ५३१ पद्य इसमें है। इसका मुख्य विषय बारह भावनाओ में से भवभावना यानी ससारभावना है। ३२२ गाथाएँ केवल इसीके विषय मे है। इसमे भवभावना के अतिरिक्त दूसरी ग्यारह भावनाओ का प्रसगवश निरूपण आता है। एक ही भव की बाल्यादि अवस्थाओ का भी इसमें वर्णन है। इसके अतिरिक्त ससारी जीव की चारो गतियो के भव और दु खो का विस्तृत वर्णन है। लेखक की उवएसमाला के साथ इस कृति का विचार करनेवाले को आचारधर्म का यथेष्ट बोध हो सकता है। यह नीतिशास्त्र का भी मार्गदर्शन कर सकती है।

टीकाएँ—इस पर वि० स० ११७० में रचित १२,९५० श्लोक-परिमाण की एक स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसमे मूल मे सूचित दृष्टान्तो की कथाएँ प्राय जैन महाराष्ट्री में दी गई है। ये कथाएँ उवएसमाला की स्वोपज्ञ वृत्तिगत कथाओ से प्राय भिन्न है। इन दोनो वृत्तियो की कथाओ को एकत्रित करने पर एक महत्त्वपूर्ण कथाकोश बन सकता है। इस वृत्ति के अधिकाश भाग मे नेमिनाथ[1] और भुवनभानु के[2] चरित्र आते है।

भवभावना पर जिनचन्द्रसूरि ने एक टीका लिखी है। इसके अलावा एक अज्ञातकर्तृक टीका एव अवचूरि भी है। इस पर माणिक्यसुन्दर ने वि० स० १७६३ मे एक बालावबोध लिखा है।

भावनासार :

यह अजितप्रभ की कृति है। उन्होने स्वय इसका उल्लेख वि० स० १३७६ मे रचित शान्तिनाथचरित्र की प्रस्तावना मे किया है। ये अजितप्रभ पूर्णिमागच्छ के वीरप्रभ के शिष्य थे।

भावनासन्धि

अपभ्रश मे रचित ७७ पद्यो की इस कृति[3] के रचयिता शिवदेवसूरि के शिष्य जयदेव है। इसमे सन् १०५४ मे स्वर्गवासी होनेवाले मुज के विषय मे उल्लेख है।

---

१. देखिए—पत्र ७ से २६८। यह चरित्र जैन महाराष्ट्री के ४०५० (८ + ४०४२) पद्यो मे लिखा गया है। इसमे साथ-ही-साथ नवें वासुदेव कृष्ण का चरित्र भी आलिखित है।

२ देखिए—पत्र २७९ से ३६०। यह चरित्र मुख्यरूप से सस्कृत गद्य मे है।

३ यह कृति Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute (Vol. XII) मे छपी है।

बृहन्मिथ्यात्वमथन :

इसके कर्ता हरिभद्रसूरि है, ऐसा सुमतिगणी ने गणधरसार्द्धशतक की बृहद् वृत्ति मे कहा है, परन्तु यह कृति आज तक उपलब्ध नही हुई है।

दरिसणसत्तरि (दर्शनसप्तति) अथवा सावयधम्मपयरण (श्रावकधर्म प्रकरण)

यह हरिभद्रसूरि की जैन महाराष्ट्री के १२० पद्यो में रचित कृति[1] है। इसमे सम्यक्त्व एव श्रावक के सागारधर्म का निरूपण है।[2]

दरिसणसुद्धि (दर्शनशुद्धि) अथवा दरिसणसत्तरि (दर्शनसप्तति) :

यह हरिभद्रसूरि की जैन महाराष्ट्री में रचित ७० पद्यो की कृति[3] है। इसमें सम्यक्त्व के ६७ वोल पर प्रकाश डाला गया है। इसे सम्यक्त्व-सप्ततिका भी कहते है। इसकी पाँचवी और छठी गाथा किसी पुरोगामी की कृति से उद्धृत की गई है। गाथा ५९-६३ में आत्मा का लक्षण और स्वरूप समझाया गया है।

टीकाएँ—वि स० १४२२ मे रचित ७७११ श्लोक-परिमाण 'तत्त्वकौमुदी' नामक विवरण के कर्ता गुणशेखरसूरि के शिष्य सघतिलकसूरि है। इसमें विविध कथाएँ दी गई है, जिनमे से कुछ सस्कृत में है तो कुछ प्राकृत मे। इसके अतिरिक्त दो उपलब्ध अवचूरियो में से एक गुणनिधानसूरि के शिष्य की है और दूसरी अज्ञातकर्तृक। मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य शिवमण्डनगणी ने भी इस पर एक टीका लिखी है। शान्तिचन्द्र के शिष्य रत्नचन्द्रगणी ने वि० स० १६७६ मे इसपर एक वालाववोध लिखा है।

सम्मत्तपयरण (सम्यक्त्वप्रकरण) अथवा दसणसुद्धि (दर्शनशुद्धि) :

यह प्रकरण चन्द्रप्रभसूरि ने जैन महाराष्ट्री मे लिखा है। इसका प्रारम्भ 'पत्तभवण्णतीर' से होता है। इसमें सम्यक्त्व की शुद्धि के बारे मे विचार किया गया है।

---

१ यह ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था द्वारा सन् १९२९ में प्रकाशित प्रकरणसन्दोह (पत्र १-८) में छपी है।

२ इसकी पहली गाथा इस प्रकार है

नमिऊण वद्धमाण सावगधम्म समासओ वुच्छ।
सम्मत्ताई भावत्थसगयसुत्तनीईए ॥ १ ॥

३. यह कृति तत्त्वकौमुदीसहित देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९१३ में प्रकाशित की है।

टीकाएँ—कर्ता ने स्वय इसपर बृहद्वृत्ति लिखी है, जिसका प्रारम्भ 'यद्वक्त्राम्भोजव्याप्यः' से होता है। धर्मघोषसूरि के शिष्य विमलगणी ने वि० स० ११८४ मे इसपर एक टीका लिखी है। चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य धर्मघोष-सूरि के शिष्य देवभद्र ने भी इसपर ५२७ श्लोक-परिमाण वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त इसपर ८००० श्लोक-परिमाण रत्नमहोदधि नाम की एक वृत्ति है, जिसका प्रारम्भ चक्रेश्वर ने किया था और जिसे उनके प्रशिष्य तिलक-सूरि ने वि० स० १२७७ में पूर्ण की थी। इसपर अज्ञातकर्तृक एक वृत्ति और दूसरी एक टीका भी मिलती है। इनमे से वृत्ति १२००० श्लोक-परिमाण है और जैन महाराष्ट्री में रचित कथाओ से विभूषित है।

१. सम्यक्त्वकौमुदी

९९५ श्लोक-परिमाण यह कृति जयशेखर ने वि० स० १४५७ मे रची है। इसमें सम्यक्त्व का निरूपण है।

२. सम्यक्त्वकौमुदी

इसकी[1] रचना जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्षगणी ने वि० स० १४८७ मे की है। यह सात प्रस्तावो मे विभक्त है। इसमें सम्यक्त्वी अर्हद्दास का चरित्र वर्णित है। इसके अतिरिक्त इसमे सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, देशविरति, सर्वविरति, वीस स्थानक, ग्यारह प्रतिमा, आठ दृष्टि इत्यादि विषयो का भी निरूपण आता है। सस्कृत एव जैन महाराष्ट्री में उद्धरण दिये गये है।[2]

३ सम्यक्त्वकौमुदी :

यह चैत्र-गच्छ के गुणकरसूरि ने वि० स० १५०४ मे लिखी है। इसका श्लोक-परिमाण १४८८ है।

४. सम्यक्त्वकौमुदी :

इसके कर्ता आगम-गच्छ के सिंहदत्तसूरि के शिष्य सोमदेवसूरि है। इन्होने पद्य मे वि० सं० १५७३ मे ३३५२ श्लोक-परिमाण इस कृति की रचना की है।

---

१ यह जैन आत्मानन्द सभा ने वि० स० १९७० मे प्रकाशित की है।

२. कर्ता के शिष्य जिनभद्रगणी ने इसपर एक वृत्ति वि० स० १४९७ मे लिखी थी और वह छपी है, ऐसा जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ४२४) में उल्लेख है, किन्तु यह भ्रान्त प्रतीत होता है।

इनके अतिरिक्त दूसरी ग्यारह कृतियाँ सम्यक्त्वकौमुदी के नाम से मिलती है। इनमे से चार अज्ञातकर्तृक[1] है; अवशिष्ट के रचयिताओ के नाम इस प्रकार है . धर्मकीर्ति, मगरस, मल्लिभूषण, यश कीर्ति, वत्सराज, यशस्सेन और वादिभूषण।

सट्ठिसय (षष्टिशत)

१६१ पद्यो की जैन महाराष्ट्री मे रचित इस कृति[2] के प्रणेता भाडागारिक (भण्डारी) नेमिचन्द्र है। ये मारवाड के मरोट गाँव के निवासी थे। इन्होने अपने पुत्र आबड को जिनपतिसूरि के पास दीक्षा दिलायी थी। यही आबड आगे जाकर जिनेश्वरसूरि (वि० स० १२४५–१३३१) के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। नेमिचन्द्र के ऊपर जिनवल्लभसूरि के ग्रन्थो का प्रभाव पडा था। इन्होंने अपभ्रश मे ३५ पद्यो मे 'जिणवल्लहसूरि-गुणवण्णण' लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होने 'पासनाहथोत्त' भी रचा है।

सट्ठिसय मे अभिनिवेश और शिथिल आचार की कठोर आलोचना की गई है। इसमे सद्‌गुरु, कुगुरु, मिथ्यात्व, सद्धर्म, सदाचार आदि का स्वरूप समझाया है। इसमें जो सामान्य उपदेश दिया गया है वह धर्मदासगणी की उपदेशमाला से प्रभावित है।

टीकाएँ—इसपर एक टीका खरतरगच्छ के तपोरत्न और गुणरत्न ने वि० स० १५०१ में लिखी है। दूसरी टीका के रचयिता धर्ममण्डनगणी है। सहजमण्डनगणी ने इसपर एक व्याख्यान लिखा है। एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि भी है। जयसोमगणी ने इसपर एक स्तबक लिखा है तथा सोमसुन्दरगणी ने

---

१ एक का कर्ता श्रुतसागर का शिष्य है।

२ यह अनेक स्थानो से प्रकाशित हुआ है। महाराजा सयाजीराव विश्व-विद्यालय, बडौदा ने सन् १९५३ मे 'षष्टिशतकप्रकरण' के नाम से यह प्रकाशित किया है। उसमें सोमसुन्दरसूरि, जिनसागरसूरि और मेरुसुन्दर इन तीनो के बालावबोध एवं 'जिणवण्णण' एव 'पासनाहथोत्त' भी छपा है। इसके अतिरिक्त गुणरत्न की टीका के साथ मूल कृति 'सत्यविजय जैन ग्रन्थमाला', अहमदाबाद ने सन् १९२४ मे और गुजराती अनु-वाद के साथ मूल कृति हीरालाल हसराज ने वि० सं० १९७६ मे प्रकाशित की है।

वि० स० १४९६ मे, जिनसागरसूरि ने वि० सं० १५०१ में, धर्मदेव ने वि० स० १५१५ में तथा मेरुसुन्दर ने वि० स० १५०० से १५५० के बीच एक एक बालावबोध लिखा है ।[1]

दाणसीलतवभावणाकुलय (दानशीलतपभावनाकुलक) .

वि० स० १३२७ में स्वर्गवासी होनेवाले तपागच्छ के देवेन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री के ८० पद्यो में इसकी[2] रचना की है । इसमें उन्होने दान, शील, तप एव भावना का बीस-बीस गाथाओ मे वर्णन किया है ।

टीकाएँ—इसपर १२००० श्लोक-परिमाण एक टीका राजविजयगणी के शिष्य देवविजयगणी ने वि० स० १६६६ में लिखी है । दूसरी एक ५५०० श्लोक-परिमाण टीका लाभकुशलगणी ने लिखी है । इसकी वि० स० १७६६ में लिखी एक हस्तलिखित प्रति मिलती है ।

दाणुवएसमाला (दानोपदेशमाला) :

जैन महाराष्ट्री मे रचित इस कृति के प्रणेता देवेन्द्रसूरि है । यह सघतिलक-सूरि के पट्टधर शिष्य थे । इसमे दान के बारे में उपदेश दिया गया है ।

टीका—इसपर स्वय कर्ता ने वि० स० १४१८ में वृत्ति लिखी है ।

दानप्रदीप :

६६६५ श्लोक-परिमाण बारह प्रकाशो मे विभक्त यह ग्रन्थ[3] चारित्ररत्नगणी ने वि० स० १४९९ में चित्रकूट (चित्तौड) मे लिखा है। ये जिनसुन्दरसूरि एवं सोमसुन्दरसूरि के शिष्य थे ।

इसके पहले प्रकाश मे कहा है कि दान आदि चार प्रकार के धर्मों मे दान से ही अवशिष्ट तीन प्रकार के धर्मों की स्थिरता होती है तथा तीर्थंकर की प्रथम देशना भी दान-धर्म के विषय मे होती है, अत दानरूप धर्म ही मुख्य है। दान के तीन प्रकार है . १ ज्ञान-दान, २. अभय-दान और ३. उपष्टम्भ-

---

१ इसका गुजराती अनुवाद हीरालाल हंसराज ने प्रकाशित किया है ।

२ यह कृति हीरालाल हसराज ने धर्मरत्नमजूषा एव लाभकुशलगणीकृत टीका के साथ तीन भागो मे सन् १९१५ में प्रकाशित की है ।

३ यह जैन आत्मानन्द सभा ने वि० स० १९७४ मे प्रकाशित किया है। इसका गुजराती अनुवाद, बारहो प्रकाशो के गुजराती साराश के साथ, इसी सभा ने वि० स० १९८० मे छपवाया है ।

दान। चित्त, वित्त और पात्र की विशुद्धि शास्त्रानुसार विस्तार से समझाने के लिये इसमे मेघरथ राजा की कथा दी गई है।

दूसरे प्रकाश मे दान के तीनो प्रकारो की स्पष्टता करके ज्ञान-दान के प्रकार तथा ज्ञान लेते-देते समय ध्यान मे रखने योग्य काल आदि आठ आचारो का निरूपण किया गया है। इन आठ आचारो से सम्बद्ध आठ कथाएँ और खास करके विजय राजा का दृष्टान्त दिया गया है।

तीसरे प्रकाश मे अभय-दान की महिमा, उसका विवेचन, अशत: और सर्वांशत दया की विचारणा और इस विषय मे शख श्रावक की कथा—इस प्रकार विविध बातें आती है। प्रसगोपात्त अजैन कपिल ऋषि, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रत स्वामी, महावीर स्वामी, मेतार्य मुनि, धर्मरुचि और कुमारपाल की दया-विषयक प्रवृत्तियो का निर्देश किया गया है।

चौथे प्रकाश में अपष्टम्भ-दान का अर्थ समझाकर और जघन्यादि तीन पात्रो का उल्लेख करके दान के आठ प्रकार तथा वसति, शयन इत्यादि का वर्णन किया है। इसके पश्चात् वकचूलि की कथा कह कर शय्या-दान के विषय में कोशा की, उपाश्रय के दान के विषय मे अवन्तीसुकुमाल की और वसति-दान के सम्बन्ध मे ताराचन्द्र एव कुरुचन्द्र की कथा कही गई है।

पाँचवें प्रकाश में शयन-दान का अर्थ समझाकर इस दान के सम्बन्ध मे प्रज्ञाकर राजा की कथा दी गई है।

छठे प्रकाश में आसन दान का वर्णन करके इस पर कविराज की कथा दी है। साथ ही गर्भिन धन के ऊपर दण्डवीर्य का तथा धर्म के ऊपर धर्मबुद्धि मन्त्री का वृत्तान्त भी दिया है।

सातवें प्रकाश में आहार-दान के प्रकार तथा उससे सम्बद्ध कनकरथ की कथा दी गयी है। श्रेयासकुमार, शालिभद्र, भद्र और अतिभद्र के दृष्टान्त भी दिये गये है।

आठवें प्रकाश में आरनाल इत्यादि नौ प्रकार के प्रासुक जल का तथा द्राक्षोदक आदि बारह प्रकार के जल का विस्तृत विवेचन किया गया है। पान-दान के विषय में रत्नपाल राजा की कथा दी गई है।

नवें प्रकाश मे औषध-दान के विषय मे विचार किया गया है। इसके सम्बन्ध में मुख्यत धनदेव एव धनदत्त की कथा देकर ऋषभ-

देव द्वारा पूर्वभव में की गयी मुनि की चिकित्सा की बात उपस्थित की गयी है।

दसवे प्रकाश में जिनकल्पी की बारह उपाधियाँ, सचेलक और अचेलक दो प्रकार का धर्म, वस्त्रदान की महिमा और उस पर ध्वजभुजग राजा की कथा—इस तरह विविध बातो का निरूपण किया गया है।

ग्यारहवें प्रकाश मे तुम्बा, लकडी और मिट्टी—इन तीनो प्रकार के पात्रो का उल्लेख करके पात्र-दान के विषय मे धनपति श्रेष्ठी की कथा दी गई है।

बारहवें प्रकाश मे आशंसा, अनादर, पश्चात्ताप, विलम्ब और गर्व—दान के इन पाँच दोषो का और इनके विपरीत पाँच गुणो का निरूपण करके इनके बारे में दो वृद्धा स्त्रियो की, यक्ष श्रावक एव धन व्यापारी की, भीम की, जीर्णश्रेष्ठी की, निधिदेव और भोगदेव की, सुधन और मदन की, कृतपुण्य और दशार्णभद्र की, धनसारश्रेष्ठी तथा कुन्तलदेवी की कथाएँ दी गई है।

अन्त मे प्रशस्ति है, जिसमे कर्ता ने अपने गुरु की परम्परा, दानप्रदीप का रचना-स्थान और रचना-वर्ष इत्यादि के ऊपर प्रकाश डाला है।

सीलोवएसमाला (शीलोपदेशमाला)

जयसिंहसूरि के शिष्य जयकीर्ति की जैन महाराष्ट्री मे रचित इस कृति[1] मे आर्या छन्द के कुल ११६ पद्य है। इसमे शील अर्थात् ब्रह्मचर्य के पालन के लिए दृष्टान्तपूर्वक उपदेश दिया गया है। शील का फल, स्त्री-सग का दोष, स्त्री को साथ मे रखने से अपवाद, स्त्री की निन्दा और प्रशसा आदि बातो का निरूपण है।

टीकाएँ—रुद्रपल्लीयगच्छ के सघतिलकसूरि के शिष्य सोमतिलकसूरि[2] ने वि० स० १३९४ मे लालसाधु के पुत्र छाजू के लिए इस ग्रन्थ पर शीलतरगिणी नाम की वृत्ति लिखी है। इसके प्रारम्भ के सात-श्लोको मे मगलाचरण है और

---

१ सोमतिलकसूरि की शीलतरगिणी नाम की टीका के साथ यह मूल कृति हीरालाल हसराज ने सन् १९०९ मे प्रकाशित की है। इसके पहले सन् १९०० मे मूल कृति शीलतरगिणी के गुजराती अनुवाद के साथ 'जैन विद्याशाला' अहमदाबाद ने प्रकाशित की थी।

२ इनका दूसरा नाम विद्यातिलक है।

अन्त मे चौदह श्लोको की प्रशस्ति है । मूल मे सूचित दृष्टान्तो के स्पष्टीकरण के लिए ३९ कथाएँ दी गई है । वे कथाएँ इस प्रकार हैं गुणसुन्दरी और पुण्यपाल, द्वैपायन और विश्वामित्र, नारद, रिपुमर्दन नृप, विजयपाल नृप, ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, आर्द्रकुमार, नन्दिषेण मुनि, रथनेमि, नेमिनाथ, मल्लिनाथ, स्थूलभद्र, वज्रस्वामी, सुदर्शन श्रेष्ठी, वकचूल, सुभद्रा, मदनरेखा, सुन्दरी, अजना, नर्मदासुन्दरी, रतिसुन्दरी, ऋषिदत्ता, दवदन्ती, कमला, कलावती, शीलवती, नन्द यति, रोहिणी, कुलवालक, द्रौपदी, नूपुरपण्डिता, दत्तदुहिता, अगडदत्त, प्रदेशी नृप, सीता और धनश्री ।

इसके अतिरिक्त इस पर एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति भी है । ललितकीर्ति एव पुण्यकीर्ति ने मूल ग्रन्थ पर एक-एक टीका लिखी है ।

खरतरगच्छ के रत्नमूर्ति के शिष्य मेरुसुन्दर ने इस पर एक वालाववोध लिखा है ।[1]

१ धर्मकल्पद्रुम :

प्रासगिक कथाओ और सुभाषितो से अलकृत यह कृति[2] ४२४८ श्लोको मे आगम-गच्छ के मुनिसागर के शिष्य उदयधर्मगणी ने लिखी है । इन्होने वि० स० १५४३ मे मलयसुन्दरीरास और १५५० मे कथावत्तीसी की रचना की है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ दान-धर्म, शील-धर्म, तपो-धर्म और भाव-धर्म—इन चार शाखाओ मे विभक्त है । इनमे से पहली शाखा के तीन, दूसरी के दो, तीसरी का एक और चौथी के दो पल्लव है । इस तरह अष्टपल्लवयुक्त यह कृति दान आदि चतुर्विध धर्म का वोध कराती है । इसमे क्रमश ३४०, ५२५, ६४४, ४५७, ८६७, ६२८, ४०० और ३८७ पद्य हैं । प्रथम पल्लव में धर्म की महिमा का वर्णन है । इस ग्रन्थ का सशोधन धर्मदेव ने किया ।

२ धर्मकल्पद्रुम :

यह पूर्णिमागच्छ के धर्मदेव की वि० स० १६६७ की रचना है, ऐसा उल्लेख मिलता है ।

---

१ मूल कृति एव शीलतरगिणी टीका का गुजराती अनुवाद जैन विद्याशाला के किसी शास्त्री ने किया है और वह छपा भी है ।

२ यह कृति देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने वि० स० १९७३ मे प्रकाशित की थी, किन्तु उसमे अशुद्धियाँ होने से जैनधर्म प्रसारक सभा ने वि० स० १९८४ में दूसरी आवृत्ति प्रकाशित की ।

३. धर्मकल्पद्रुम .

इस नाम की दो अज्ञातकर्तृक कृतियाँ भी है ।

विवेगमजरी (विवेकमञ्जरी)

जैन महाराष्ट्री मे रचित १४४ पद्य की यह कृति[1] आसड ने वि० स० १२४८ मे लिखी है । इसके पहले पद्य मे महावीरस्वामी को वन्दन किया गया है । इसके पश्चात् विवेक की महिमा बताई गई है और उसके भूपण के रूप मे मन की शुद्धि का उल्लेख किया गया है । इस शुद्धि के चार कारण बतला कर उनका विस्तार से निरूपण किया गया है । वे चार कारण इस प्रकार है १. चार शरणो की प्रतिपत्ति अर्थात् उनका स्वीकार, २. गुणो की सच्ची अनुमोदना, ३ दुष्कृत्यो की—पापो की निन्दा और ४. बारह भावनाएँ ।[2]

तीर्थकर, सिद्ध, साधु और धर्म—इन चारो को मगल कहकर इन की शरण लेने के लिए कहा है । इसमें वर्तमान चौबीसी के नाम देकर उन्हे तथा अतीत चौबीसी आदि के तीर्थङ्करो को नमस्कार किया गया है । प्रसगोपात्त दृष्टान्तो का भी निर्देश किया गया है । गाथा ५०–३ मे भिन्न-भिन्न मुनियो के तथा गाथा ५६–८ मे सीता आदि सतियो के नाम आते है । इसके प्रारम्भ की सात गाथाओ मे से छ गाथाएँ तीर्थकरो की स्तुतिपरक है ।

टीका—इसपर बालचन्द्र की एक वृत्ति है । इसकी वि० स० १३२२ की लिखी हुई एक हस्तलिखित प्रति मिली है । इस वृत्ति के मूल में सूचित दृष्टातो के स्पष्टीकरण के लिये सस्कृत श्लोको मे छोटी-बडी कथाएँ दी गई है । उदाहरणार्थ-बाहुबलि की कथा ('भारत-भूषण' नाम के चार सर्गों के रूप मे महाकाव्य के नाम से अभिहित), सनत्कुमारकी कथा, स्थूलिभद्र की कथा, शालिभद्र की कथा, वज्रस्वामी की कथा, अभयकुमार की कथा (चार प्रकार की बुद्धि के ऊपर एक-एक प्रकाश के रूप मे), सीता की कथा ('सीताचरित' नाम के चार सर्गों मे

---

१ 'जैन त्रिविध साहित्य शास्त्रमाला' मे यह (गा० १-५८) बालचन्द्र की वृत्ति के साथ प्रथम भाग के रूप में बनारस से वि० स० १९७५ मे छपी थी । इसका दूसरा भाग वि० स० १९७६ मे प्रकाशित हुआ था । इसमे ५९ से १४४ गाथाएँ दी गई हैं ।

२ इन चारो को चार द्वार कहकर वृत्तिकार ने प्रत्येक द्वार के लिए 'परिमल' सज्ञा का प्रयोग किया है । प्रथम परिमल में २५ गाथाएँ है ।

महाकाव्य के रूप से सूचित), दवदन्ती की चार सर्गों मे कथा, विलासवती की कथा, अजनासुन्दरी की कथा तथा नर्मदासुन्दरी की कथा ।

विवेगविलास (विवेकविलास)

यह ग्रन्थ[1] वायडगच्छ के जीवदेवसूरि[2] के शिष्य जिनदत्तसूरि ने १३२३ पद्यो मे रचा है । इसमे बारह उल्लास है । यह एक सर्वमामान्य कृति है । इसकी रचना सन् १२३१ में स्वर्गवासी होनेवाले जाबालिपुर के राजा उदयसिंह[3], उसके मन्त्री देवपाल और उसके पुत्र धनपाल को प्रसन्न करने के लिये हुई थी । इसमें मानव जीवन को सफल बनाने के लिये जिन बातो का सामान्य ज्ञान आवश्यक है उनका निरूपण किया गया है । पहले के पाँच उल्लासो मे दिनचर्या की, छठें उल्लास मे ऋतुचर्या की, सातवें मे वर्षचर्या की और आठवें मे जन्मचर्या की अर्थात् समग्र भव के जीवन-व्यवहार की जानकारी सक्षेप मे दी गई है । नवें और दसवे उल्लास मे अनुक्रम से पाप और पुण्य के कारण बतलाये गये है । ग्यारहवे उल्लास मे आध्यात्मिक विचार और ध्यान का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है । बारहवाँ उल्लास मृत्यु-समय के कर्तव्य का तथा परलोक के साधनो का बोध कराता है । अन्त में दस पद्यो की प्रशस्ति है ।

दिनचर्या अर्थात् दिन-रात का व्यवहार । इसके पाँच भाग किये गये है १ पिछली रात्रि के आठवें भाग अर्थात् अर्ध प्रहर रात्रिसे लेकर प्रहर दिन, २ ढाई प्रहर दिन, ३ साढे तीन प्रहर दिन, ४ सूर्यास्त तक का दिन और ५ साढे तीन प्रहर रात्रि । इनमे से प्रत्येक भाग के लिये अनुक्रम से एक-एक उल्लास है । प्रारम्भ मे स्वप्न, स्वर एव दन्तधावन-विधि (दतुअन) के विषय में निरूपण है ।

---

१ यह ग्रन्थ 'सरस्वती ग्रन्थमाला' मे वि० स० १९७६ मे छपा है । इसके अतिरिक्त प० दामोदर गोविन्दाचार्यकृत गुजराती अनुवाद के साथ यह मूल ग्रन्थ सन् १८९८ मे भी छपा है । इस विवेकविलास का माधवाचार्य ने सर्व-दर्शन-सग्रह मे उल्लेख किया है ।

२ प्रथम उल्लास के तीसरे पद्य के आद्य अक्षरो से यह नाम सूचित होता है ।

३ इसके वश का नाम 'बाहुमा' है । देखिए—प्रशस्ति, श्लोक ५

टीका—इसपर भानुचन्द्रगणी ने वि० स० १६७१ मे एक वृत्ति लिखा है। इसका सशोधन जयविजय ने किया है।[1]

१ वद्धमाणदेसणा (वर्धमानदेशना) :

३१६३ पद्य तक जैन महाराष्ट्री में तथा १० पद्य तक सस्कृत मे रचित इस कृति[2] के कर्ता शुभवर्धनगणी हैं। इसका रचना-समय वि० स० १५५२ है। जावड[3] की अभ्यर्थना से उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा है। ये लक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य साधुविजय के शिष्य थे। वर्धमान स्वामी अर्थात् महावीर स्वामी ने 'उवासगदसा' नामक सातवें अग का जो अर्थ कहा था वह सुधर्मा स्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा। उसी को इसमे स्थान दिया गया है, अत इस कृति को 'वर्धमानदेशना' कहते हैं। यह दस उल्लासो मे विभक्त है। उल्लासानुसार इसकी पद्य-सख्या क्रमश ८०३, ७२४, ३६०, २४४, १३५, २२५, १८६, १७८, १०७ और २११ है। इस प्रकार इसमे कुल पद्य-सख्या ३१७३ है। प्रत्येक उल्लास के अन्त मे एक पद्य सस्कृत मे है और वह सब मे एक-सा है।

प्रत्येक उल्लास मे आनन्द आदि दस श्रावको मे से एक-एक का अधिकार है। प्रथम उल्लास मे सम्यक्त्व के बारे मे आरामशोभा की कथा दी गयी है। उसमे श्रावक के बारह व्रतो को समझाने के लिये हरिबल मच्छीमार, हस नृप, लक्ष्मीपुञ्ज, मदिरावती, धनसार, चारुदत्त, धर्म नृप, सुरसेन और महासेन, केसरी चोर, सुमित्र मन्त्री, रणशूर नृप और जिनदत्त इन बारह व्यक्तियो की एक-एक कथा दी गयी है।

रात्रिभोजनविरमण के बारे मे हस और केशव की कथा दी गयी है। शेष नौ उल्लासो मे जो एक-एक अवान्तर कथा आती है उसकी तालिका इस प्रकार है

---

१ इसका गुजराती अनुवाद प० दामोदर गोविन्दाचार्य ने किया है और वह छपा भी है।

२ यह ग्रन्थ जैनधर्म प्रसारक सभा ने दो भागो मे वि० स० १९८४ और १९८८ मे छपवाया है। प्रथम भाग मे तीन उल्लास और दूसरे मे बाकी के सब उल्लास हैं। इसके पहले वि० स० १९६० मे बालाभाई छगनलाल ने यह प्रकाशित किया था।

३. ये गयासुद्दीन खिलजी के कोशाधिकारी थे। इन्हे 'लघुशालिभद्र' भी कहा जाता है।

परिग्रह-परिमाण के विषय में रत्नसार की, जैनधर्म की आराधना के सम्बन्ध मे सहस्रमल्ल की, धर्म का माहात्म्य सूचित करने के लिये घृष्टक[1] को, सुपात्रदान के विषय मे धनदेव और धनमित्र की, शील अर्थात् परस्त्री के त्याग के विषय मे कुलध्वज की, तप के बारे मे दामन्नक की, भावना के विषय मे असम्मत की, जीवदया के विषय मे भीम की और ज्ञान के विषय मे सागरचन्द्र की।

इस कृतिमे बारह व्रतो के अतिचार और सम्यक्त्व आदि के आलापक भी आते है।

२ वद्धमाणदेसणा

यह उवासगदसा का पद्यात्मक प्राकृत रूपान्तर है। इसके कर्ता का नाम ज्ञात नही है। इसका प्रारम्भ 'वीरजिणंदं' से होता है।

३ वर्धमानदेशना :

यह सर्वविजय का ३४०० श्लोक-परिमाण ग्रन्थ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० स० १७१५ की मिलती है।

४ वर्धमानदेशना :

यह गद्यात्मक कृति[2] रत्नलाभगणी के शिष्य राजकीर्तिगणी ने लिखी है। यह दस उल्लासो मे विभक्त है। इसमें अनुक्रम से आनन्द आदि श्रावको का वृत्तान्त दिया गया है। यह कृति विषय एव कथाओ की दृष्टि से शुभवर्धनगणीकृत 'वद्धमाणदेसणा' के साथ मिलती-जुलती है।[3]

---

१ इसकी कथा के द्वारा, दुष्ट स्त्रियाँ अपने पति को वश मे करने के लिए कैसे-कैसे दुष्कृत्य करती है तथा मन्त्र-औषधि का प्रभाव कैसा होता है, यह वतलाया है।

२ यह कृति हीरालाल हसराज ने वीर सवत् २४६३ मे प्रकाशित की है। इसके पहले हरिशकर कालिदास शास्त्री का गुजराती अनुवाद मगनलाल हठीसिह ने सन् १९०० मे छपवाया था। इसके बारे मे विशेष जानकारी 'जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास' (खण्ड २, उपखण्ड १) में दी है।

३ इसका गुजराती में अनुवाद हरिशकर कालिदास शास्त्री ने किया है और वह छपा भी है।

सबोहपयरण (सम्बोधप्रकरण) अथवा तत्तपयासग (तत्त्वप्रकाशक)

१५९० पद्य की यह कृति[1] हरिभद्रसूरि ने मुख्य रूप[2] से जैन महाराष्ट्री में लिखी है। यह बारह अधिकारो मे विभक्त है। इसमे देव, सद्गुरु, कुगुरु, सम्यक्त्व, श्रावक और उसकी प्रतिमा एव व्रत, सज्ञा, लेश्या, ध्यान, आलोचना आदि बातो का निरूपण है। इसकी कई गाथाएँ रत्नशेखरसूरि ने सबोहसत्तरि मे उद्धृत की है।[3]

१ सबोहसत्तरि (सम्बोधसप्तति)

यह कृति हरिभद्रसूरि ने लिखी थी ऐसा कई लोगो का मानना है, परन्तु इसकी एक भी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नही है।

२ सबोहसत्तरि (सम्बोधसप्तति) :

७५ या ७६ पद्य की जैन महाराष्ट्री मे रचित इस कृति[4] के प्रणेता रत्नशेखरसूरि है। ये जयशेखरसूरि के शिष्य वज्रसेनसूरि के शिष्य थे। यह पुरोगामियो के ग्रन्थो मे से गाथाएँ उद्धृत करके रचित कृति है। इसमे देव, गुरु, कुगुरु, धर्म का स्वरूप, सम्यक्त्व की दुर्लभता, सूरि के ३६ गुण, सामान्य साधु एव श्रावक के गुण, जिनागम का माहात्म्य, द्रव्यस्तव और भावस्तव का फल, शील की प्रधानता, कषाय, प्रमाद, निद्रा, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ, अब्रह्म और मास के दोष, जिनद्रव्य और पूजा—इन विविध बातो का निरूपण है।

टीकाएँ—इस पर अमरकीर्तिसूरि की एक वृत्ति है। ये मानकीर्तिगणी के शिष्य थे। इस वृत्ति के प्रारम्भ मे दो तथा अन्त में तीन पद्य है। यह वृत्ति

---

१ यह जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९१६ मे छपवाया है। इसमे अनेक यत्र है। इसे सम्बोधतत्त्व भी कहते है।

२ द्वितीय अधिकार के ५ से १२ पद्य सस्कृत मे है।

३ इसका गुजराती अनुवाद विजयोदयसूरि के शिष्य प० मेरुविजयगणी ने किया है। यह अनुवाद जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९५१ मे प्रकाशित किया है। इसके अन्तिम पृ० २६५-३०० पर हरिभद्रकृत पूयापचासग, जिणचेइयवदणविहि और दिक्खापयरण के गुजराती अनुवाद दिये गये है।

४ यह अमरकीर्तिसूरि की टीका के साथ हीरालाल हसराज ने सन् १९११ मे छपाई है। इसमे मूल की ७६ गाथाएँ है। इसके अलावा यही मूल कृति गुणविनय की वृत्ति के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० स० १९७२ में प्रकाशित की है। इसमे ७५ गाथाएँ है।

प्रकाशित हो चुकी है। इस मूल वृत्ति पर एक दूसरी वृत्ति जयसोम के शिष्य गुणविनय ने वि० स० १६५१ मे लिखी है। इसके प्रारम्भ में पाँच पद्य है और अन्त में चौंतीस पद्यो की प्रशस्ति तथा उसके पश्चात् वृत्तिकार की ग्यारह पद्यो की पट्टावली है।[१]

३. सम्बोहसत्तरि (सम्बोधसप्तति)

जैन महाराष्ट्री के ७० पद्यो मे रचित इस कृति[२] के कर्ता अचल-गच्छ के जयशेखरसूरि है ऐसा जिनरत्नकोश (खण्ड १, पृ० ४२२) मे उल्लेख है, परन्तु वह विचारणीय है। यह उपर्युक्त कृति ही होगी ऐसा प्रतीत होता है।

टीकाएँ—इस पर यशोविजयनी की टीका है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अहमदाबाद के विमलगच्छ के उपाश्रय में है।[३] इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि की वि० स० १५३७ की हस्तलिखित प्रति मिलती है। वि० स० १५२८ में मेरुसुन्दर ने एक बालावबोध भी लिखा है।

सुभाषितरत्नसन्दोह

यह[४] माथुरसंघ के माधवसेन के शिष्य अमितगति[५] की कृति है। इसमे

---

१ इस मूल कृति का गुजराती अनुवाद कई स्थानो मे प्रकाशित हुआ है।

२ यह कृति गुणविनय के विवरण और बालावबोधसहित जैन आत्मानन्द सभा ने सन् १९२२ में प्रकाशित की है।

३ देखिए—जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ४२२)। यह जयशेखरसूरिकृत सबोहसत्तरि की टीका है ऐसा माना है। अवचूरि और बालावबोध के लिए भी ऐसा ही मान लिया है। मुझे तो ये तीनो रत्नशेखरीय कृति पर ही ऐसा लगता है।

४ यह कृति काव्यमाला (सन् १९०९, दूसरी आवृत्ति) में छपी है। इसके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद के साथ यह कृति 'हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला' कलकत्ता ने सन् १९१७ मे प्रकाशित की है। आर श्मिट और जोहानिस हर्टल ने मूल कृति का सम्पादन करके जर्मन भाषा में अनुवाद किया है और Z D M G (Vol 59 & 61) मे सन् १९०५ और १९०० में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त दयालजी गगाधर भणसाली और भोगीलाल अमृतलाल झवेरीकृत गुजराती अनुवाद के साथ मूल कृति हीरजी गगाधर भणसाली ने वि० स० १९८८ मे प्रकाशित की है।

५ इनकी विविध कृतियो का उल्लेख मैंने अपने 'जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास' (खण्ड १, पृ० २४४-५) मे किया है।

९२२ श्लोक हैं। यह बत्तीस प्रकरणो में विभक्त है। २३ वें प्रकरण मे आप्त के स्वरूप का वर्णन करते समय वैदिक देवो की समालोचना की गई है। इसके अन्त के २१७ श्लोको द्वारा श्रावको के धर्म पर प्रकाश डाला गया है।[1]

सिन्दूरप्रकर :

इसे[2] सूक्तिमुक्तावली और सोमशतक भी कहते है। इसमे १०० पद्य हैं। इसके कर्ता 'शतार्थी' सोमप्रभसूरि हैं। ये विजयसिंहसूरि के शिष्य थे। इसमें देव, गुरु, धर्म, सघ, अहिंसा आदि पाँच महाव्रत, क्रोध आदि चार कषाय, दान, शील, तप एव भाव का निरूपण है।

टीकाएँ—इसके टीकाकारो के नाम इस प्रकार हैं गुणकीर्तिसूरि (वि० स० १६६७), चरित्रवर्धन (वि० स० १५०५), जिनतिलकसूरि, धर्मचन्द्र, भावचरित्र, विमलसूरि और हर्षकीर्ति। कई विद्वान् इस नामावली में गुणाकरसूरि एव प्रमोदकुशलगणी के नाम भी गिनाते हैं।[3]

सूक्तावली :

पद्मानन्द महाकाव्य इत्यादि के रचयिता अमरचन्द्रसूरि की यह कृति है ऐसा चतुर्विंशतिप्रबन्ध (पृ० १२६)[4] मे कहा गया है, परन्तु इसकी एक भी हस्तलिखित प्रति नही मिलती

वज्जालग्ग :

इसे[5] पद्यालय, वज्रालय, विज्जाहल एव विद्यालय भी कहते हैं। इसके कर्ता जयवल्लभ हैं। इसमे जैन महाराष्ट्री मे रचित ७९५ और बडी वाचना के

---

१ इसका गुजराती अनुवाद दयालजी गगाधर भणसाली और भोगीलाल अमृतलाल झवेरी के सयुक्त प्रयास का परिणाम है। यह अनुवाद छपा है। इसका हिन्दी अनुवाद भी छप चुका है। इसके अतिरिक्त जर्मन भाषा मे आर० श्मिट और जोहानिस हर्टल द्वारा किया गया अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

२ यह काव्यमाला (गुच्छक ७) मे प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा हर्षकीर्तिसूरिकृत टीका के साथ यह कृति सन् ११२४ में छपी है।

३ इसका पवोलिनी ने इटालियन भाषा मे अनुवाद किया है।

४. फार्बस गुजराती सभा द्वारा प्रकाशित और मेरे द्वारा सम्पादित सस्करण का यह पृष्ठाक है।

५ यह कृति 'बिब्लिओथिका इण्डिका' कलकत्ता से तीन भागो मे सन् १९१४, १९२३ और १९४४ मे प्रो० ज्यूलियस लेबर ने प्रकाशित की है।

अनुसार १३३० पद्य हैं। यह ९५ वज्जा अर्थात् पद्धति में विभक्त है, जैसे कि सोयार-वज्जा, गाहा-वज्जा इत्यादि। इसके बहुत-कुछ पद्य गुजराती हैं। यह गाहा-सत्तसई का स्मरण कराता है। प्रस्तुत कृति में धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का निरूपण आता है।

टीका—इस पर रत्नदेवगणी ने एक टीका वि० स० १३९३ में हरिभद्रसूरि के शिष्य धर्मचन्द्र की विज्ञप्ति से लिखी है। इस टीका में 'गउडवह' से उद्धरण दिये गये हैं।

नीतिधनद यानी नीतिशतक :

देहड के पुत्र धनद—धनदराज सघपति ने वि० स० १४९० में मण्डप-दुर्ग में यह[1] लिखा है। इसी प्रकार उन्होंने वैराग्यशतक और शृगारशतक भी लिखे हैं। इन तीनो को धनशतकत्रय अथवा धनदत्रिशती भी कहते हैं। इन तीनों मे शृगारशतक सबसे प्रथम लिखा गया है। यह उसके चौथे श्लोक से ज्ञात होता है। यह धनद खरतर जिनभद्रसूरि के शिष्य थे। इन्होने नीतिशतक विविध छन्दो मे लिखा है। उसमें १०३ श्लोक हैं। प्रथम श्लोक मे कर्ता ने खरतरगच्छ के मुनि के पास उनका अभ्यास किया था तथा प्रस्तुत कृति का नाम 'नयधनद' है इस बात का उल्लेख किया है। इसके प्रारम्भ मे नीति की महत्ता का वर्णन आता है। इसके बाद नृपति की नीति के बारे में निरूपण है। राजा, मंत्री और सेवक कैसे होने चाहिए इस बात का भी इसमे उल्लेख है।

वैराग्यधनद यानी वैराग्यशतक

यह भी उपर्युक्त धनद की कृति है। इसकी रचना नीतिधनद के बाद हुई होगी ऐसा लगता है। इसमें १०८ पद्य हैं और वे स्रग्धरा छन्द मे हैं। दूसरे श्लोक में इसे 'शमशतक' कहा है और कर्ता के श्रीमाल कुल का निर्देश है।

इसमे सस्कृत छाया, रत्नदेवगणी की टीका में से उद्धरण एव प्रारम्भ के ९० पद्यो के पाठान्तर दिये गये हैं। इसमें प्रस्तावना आदि भी है।

प्रो० एन० ए० गोरे ने सन् १९४५ में प्रारम्भ के ३०० पद्य छपवाये थे। उसके बाद उन्होंने प्रारम्भ के २०० पद्य अंग्रेजी अनुवाद के साथ सन् १९४७ में प्रकाशित किये हैं।

1. यह शतक तथा धनदकृत वैराग्यशतक एव शृगारशतक काव्यमाला, गुच्छक १३ के द्वितीय सस्करण में छपे हैं।

इसमे योग, काल की करालता, विपयो की विडम्बना और वैराग्यपोपक तत्त्वो का निरूपण है।

पद्मानन्दशतक यानी वैराग्यशतक

यह[1] धनदेव[2] के पुत्र पद्मानन्द की रचना है। इसमे १०३ पद्य शार्दूल-विक्रीडित छन्द मे है। इसमे वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है और सच्चे योगी एव कामातुर जनो का स्वरूप बतलाया गया है।

अणुसासणकुसकुलय (अनुशासनाकुशकुलक)

अगुलसत्तरि इत्यादि के प्रणेता मुनिचन्द्रसूरिरचित इस कृति मे जैन महाराष्ट्री की २५ गाथाएँ है। इनका स्वर्गवास वि० स० ११७८ मे हुआ था।

रणयत्तकुलय (रत्नत्रयकुलक)

यह[3] भी उपर्युक्त मुनिचन्द्रसूरिरचित कुलक है। इसमे ३१ गाथाएँ हैं और उनमे देव, गुरु एव धर्म—इन तीन तत्त्वो का—रत्नो का स्वरूप समझाया है।

गाहाकोस (गाथाकोश)

इसे रसाउल तथा रसाउलगाहाकोस भी कहते हैं। यह भी उपर्युक्त मुनिचन्द्रसूरि की रचना है। इसका श्लोक-परिमाण ३८४ है।

मोक्षोपदेशपचाशत

यह[4] भी मुनिचन्द्रसूरि की ५१ पद्य की कृति है। इसमे ससार को विषवृक्ष कहकर उसके मूल, शाखा आदि का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् नरक आदि चार गतियो के दु खो का वर्णन आता है। इसके बाद ससार, विवेक, देव (परमेश्वर), गुरु और धर्म का स्वरूप सक्षेप मे दिया है।

---

१ इसकी चौथी आवृत्ति 'काव्यमाला' गुच्छक ७ प्रकाशित हुई है।

२ इस श्रेष्ठी ने जिनवल्लभसूरि का उपदेश सुनकर नागपुर (नागोर) मे नेमिनाथ का चैत्यालय बनवाया था, यह प्रस्तुत कृति के १०२ वें श्लोक से ज्ञात होता है।

३. यह कुलक 'प्रकरणसमुच्चय' के पत्र ४१–४३ मे छपा है।

४ यह कृति उपर्युक्त 'प्रकरणसमुच्चय' के पत्र १९–२२ मे छपा है।

हिओवएसकुलय (हितोपदेशकुलक) :

इस[1] नाम की मुनिचन्द्रसूरि की दो रचनाएँ हैं। इन दोनों में जैन महाराष्ट्री में २५-२५ गाथाएँ हैं। इनमें हितकर उपदेश दिया गया है।

उवएसकुलय (उपदेशकुलक) :

यह[2] भी मुनिचन्द्रसूरि की कृति है। इसमें ३३ गाथाएँ जैन महाराष्ट्री में हैं। इसमें 'शोक' को विशाच कहकर उसे दूर करने का उपदेश दिया गया है। इसी से इसे 'सोगहर-उवएसकुलय' भी कहते हैं। इसमें धार्मिक उपदेश दिया गया है, अतः इसे 'धम्मोवएस' भी कहते हैं।

नाणप्पयास (ज्ञानप्रकाश) :

अनेकविध स्तोत्र आदि के रचयिता खरतर जिनप्रभसूरि की यह अपभ्रंश रचना है। इसमें ११३ पद्य हैं। 'कुलक' के नाम से प्रसिद्ध इस कृति का विषय ज्ञान का निरूपण है।

टीका—इसकी संस्कृत टीका के कर्ता का नाम अज्ञात है।

धम्माधम्मवियार (धर्माधर्मविचार) :

यह भी उपर्युक्त जिनप्रभसूरि की अपभ्रंश रचना है। इसमें १८ पद्य हैं। इसका प्रारम्भ 'अह जण निसुणिज्जउ' से हुआ है। इसमें धर्म एवं अधर्म का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

सुबोधप्रकरण :

यह हरिभद्रसूरि की कृति है ऐसा कई मानते हैं, परन्तु अब तक यह अप्राप्य है।

सामण्णगुणोवएसकुलय (सामान्यगुणोपदेशकुलक)

यह अगुलमित्तरि इत्यादि के कर्ता उपर्युक्त मुनिचन्द्रसूरि की जैन महाराष्ट्री में रचित २५ पद्यों की कृति है। इसमें सामान्य गुणों का उपदेश दिया गया होगा ऐसा इसके नाम से ज्ञात होता है।

---

१ इस नाम की दो कृतियाँ प्रकरणसमुच्चय में अनुक्रम से २५-२७ और २७-२८ पत्रों पर छपी हैं।

२ यह भी प्रकरणसमुच्चय (पत्र ३६-८) में छपा है।

आत्मबोधकुलक :

यह जयशेखरसूरि की रचना है।

विद्यासागरश्रेष्ठिकथा

५० पद्यो की यह कृति चैत्रगच्छ के गुणाकरसूरि ने लिखी है।

गद्यगोदावरी

यह यशोभद्र ने लिखी है ऐसा कई लोगो का मानना है।

कुमारपालप्रन्बध

यह[1] सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जिनमण्डनगणी की अशत गद्य में और अशत पद्य मे २४५६ श्लोक-परिमाण वि० स० १४९२ मे रचित कृति है। इसमे कुमारपाल नृपति का अधिकार वर्णित है।

दुवालसकुलय (द्वादशकुलक) :

यह[2] खरतर जिनवल्लभसूरि ने जैन महाराष्ट्री मे भिन्न-भिन्न छन्दों मे लिखा है। इसकी पद्य-सख्या २३२ है।

टीकाएँ—इस पर ३३६३ श्लोक-परिमाण एक टीका जिनपाल ने वि० स० १२९३ मे लिखी है। इसके अतिरिक्त इस पर एक विवरण उपलब्ध है, जो भाण्डागारिक नेमिचन्द्र ने लिखा है ऐसा कई लोगो का मानना है।

●

---

१. यह प्रबन्ध जैन आत्मानद सभा ने वि० स० १९७१ मे प्रकाशित किया है।

२ यह जिनपाल की टीका के साथ 'जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड' ने सन् १९३४ में प्रकाशित किया है।

चतुर्थ प्रकरण

योग और अध्यात्म

योग के विविध अर्थ होते है। प्रस्तुत में ससार मे अनादि काल से परि-भ्रमण करते जीव के दु ख का सर्वथा नाश करके शाश्वत आनन्द की दशा प्राप्त कराने वाला—परमात्मा बनाने वाला साधन 'योग' है। सक्षेप में कहें तो मुक्ति का मार्ग उन्मुक्त करनेवाला साधन 'योग' है। यह दैहिक और भौतिक आसक्ति के उच्छेद मे शक्य है। ऐसा होने से हमारे देश में—भारतवर्ष में और कालान्तर मे अन्यत्र तप को योग मानने की वृत्ति उत्पन्न हुई। आगे चलकर ध्यानरूप आभ्यन्तर तप को श्रेष्ठ मानने पर योगी को ध्यान मे तल्लीन रहना चाहिए ऐसी मान्यता रूढ हुई। इसके पश्चात् योग का अर्थ समदर्शिता किया जाने लगा। इस प्रकार योग का बाह्य स्वरूप बदलता रहा है, जबकि उसका आन्तरिक तथा मौलिक स्वरूप एव ध्येय तो स्थिर रहा है।

हमारा यह देश योग एव अध्यात्म की जन्मभूमि माना जाता है। इस अवसर्पिणी काल में जैनो के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए है। उन्हें वैष्णव एव शैवमार्गी अपने-अपने ढङ्ग मे महापुरुष या अवतारी पुरुष मानते है। कई उन्हें 'अवधूत'[1] कहते है। वे एक दृष्टि से देखें तो आद्य योगी ही नही, योगीराज है। ऐसा माना जाता है कि उन्ही मे योग-मार्ग का प्रवर्तन हुआ है। अतएव योगविषयक साहित्य की विपुल मात्रा में रचना हुई है, परन्तु वह सर्वांशत आज उपलब्ध नही है, उसमे से अधिकाश तो नामशेष रह गया है। जैन साहित्य के एक अगरूप योग-साहित्य के लिए भी यही परिस्थिति है। जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स (बम्बई) द्वारा प्रकाशित 'जैन ग्रन्थावली' के पृ० १०९ से ११३ पर 'अध्यात्म ग्रन्थ' शीर्षक के नीचे पचास ग्रन्थो की तालिका दी है। इस विषय के अन्य कई ग्रथो का उसमें अन्यान्य शीर्षको के नीचे निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थो के प्रकाशन के पश्चात् दूसरे कई ग्रथ ज्ञात हुए है। उनमें

---

१ इसका धूतरूप अश आचाराग (श्रुत० १) के छठे अध्ययन के नाम 'धुय' (स० धूत) का स्मरण कराता है।

से जितने शक्य है उतने ग्रन्थो के बारे मे प्रायः शतकबार मैं यहाँ परिचय देने का प्रयत्न करूँगा। इसका आरम्भ महर्षि पतजलिकृत 'योगदर्शन' विषयक जैन वक्तव्य से करता हूँ।

सभाष्य योगदर्शन की जैन व्याख्या

महर्षि पतजलि ने १९५ सूत्रो मे उपर्युक्त योगदर्शन की रचना की है और उसे चार पादो मे विभक्त किया है। उन पादो के नाम तथा प्रत्येक पाद के अन्तर्गत सूत्रो की सख्या इस प्रकार है

१	समाधिपाद	५१
२	साधननिर्देश	५५
३	विभूतिपाद	५५
४	कैवल्यपाद	३४

साख्यदर्शन के अनुसार सागोपाग योगप्रक्रिया का निरूपण करनेवाले इस योगदर्शन पर व्यास ने एक महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है। उसका यथायोग्य उपयोग करके न्यायविशारद न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी गणी ने इस योगदर्शन के २७ सूत्रो पर व्याख्या लिखी है।[1] इस व्याख्या के द्वारा उन्होंने दो कार्य किये हैं : १ साख्यदर्शन और जैनदर्शन के बीच जो भेद है वह स्पष्ट किया है, और २ इन दोनो दर्शनो के बीच जहाँ मात्र परिभाषा का ही भेद है वहाँ उन्होंने समन्वय किया है।

पं० श्री सुखलालजी सघवी ने इस व्याख्या का हिन्दी मे सार दिया है और वह प्रकाशित भी हुआ है।

योगदर्शन के द्वितीय पाद के २९वें सूत्र मे योग के निम्नाकित आठ अग गिनाये है यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमे से यम, नियम और आसन के बदले तर्क के और प्राणायाम से लेकर समाधि तक के पाँच योगागो के सिंहसूरिगणीकृत निरूपण पर अब हम विचार करेंगे।

---

१. यह व्याख्या विवरण एव हिन्दी सार के साथ प्रकाशित हुई है।

योग के छ अग

सिंहसूरिगणी वादिक्षमाश्रमण ने 'द्वादशारनयचक्र'[1] के तीसरे आरे की न्यायागमानुसारिणी नाम की वृत्ति (वि० १, पृ० ३३२) मे निम्नलिखित पद्य 'को योग ?' के उल्लेख के साथ दिया है

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्क समाधिरित्येष षडङ्गो योग उच्यते ॥

यह श्लोक अमृतनाद उपनिषद् (६) मे 'तर्कश्चैव समाधिश्च' इस प्रकार के तीसरे पाद के साथ तथा अत्रिस्मृति मे दृष्टिगोचर होता है। इस उद्धरण का स्पष्टीकरण उपर्युक्त वृत्ति (पृ० ३३२) मे आता है। उसमे प्राणायाम के रेचक, कुम्भक और पूरक इन तीन भेदो का निर्देश करके इन तीनो का स्वरूप सक्षेप मे समझाया है। तर्क के स्पष्टीकरण मे पल्यक, स्वस्तिक और वीरासन इन तीन आसनो का उल्लेख आता है। अन्त मे इस षडग योग द्वारा सर्वत्र पृथ्वी इत्यादि मूर्तिरूप ईश्वर का दर्शन कर भावित आत्मा उसे अपनी आत्मा मे किस प्रकार देखता है इसका निर्देश किया गया है।

इस प्रकार योग के छ अंगो का उल्लेख करने वाले उपर्युक्त क्षमाश्रमण ने मध्यस्थलक्षी हरिभद्रसूरि की अथवा अपने पुरोगामी सिद्धसेनगणी की भाँति अपनी इस वृत्ति मे बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति का अथवा उनकी किसी कृति का उल्लेख नही किया। फलत वे सिद्धसेनगणी से पहले हुए हैं ऐसा माना जाता है।

योगनिर्णय

गुणग्राही और सत्यान्वेषक श्री हरिभद्रसूरि[2] ने योगदृष्टिसमुच्चय (श्लो० १) की स्वोपज्ञ वृत्ति (पत्र २ अ) में उत्तराध्ययन के साथ 'योगनिर्णय' का योग-विषयक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नही हुआ। उसमे योगदृष्टिसमुच्चय में निर्दिष्ट इच्छा-योग, शास्त्र-योग और सामर्थ्य-योग का निरूपण होगा, मित्रा आदि आठ दृष्टियो का या पाच समिति और

---

१ इसका प्रकाशन चार आरा तक के भाष्य तथा उसकी टीका आदि के साथ आत्मानन्द सभा ने इस वर्ष (१९६७) भावनगर से किया है। इसका सम्पादन टिप्पण आदि के साथ मुनि श्री जम्बूविजयजी ने किया है।

२ इनका परिचय करानेवाली अपनी कृतियो का निर्देश मैंने आगे किया है।

तीन गुप्तियो का अथवा योगविषयक कोई अन्य बात होगी यह बताना सम्भव नही है। इस योगनिर्णय का श्री हरिभद्रसूरि ने ही उल्लेख किया है। किसी अजैन विद्वान् ने किया हो तो ज्ञात नही। इसके अतिरिक्त इसके साथ उत्तराध्ययन का उल्लेख होने से यह एक जैन कृति होगी ऐसा मेरा मानना है। इसके रचनाकाल की उत्तरावधि विक्रम की ८ वी सदी है

योगाचार्य की कृति :

योगदृष्टिसमुच्चय के श्लोक १४, १९, २२, २५ और ३५ की स्वोपज्ञ वृत्ति मे 'योगाचार्य' का उल्लेख आता है। 'ललितविस्तरा' (प० ७६ अ) मे 'योगाचार्या' ऐसा उल्लेख है। ये दोनों उल्लेख एक ही व्यक्ति के विषय मे होगे। ऐसा लगता है कि कोई जैन योगाचार्य हरिभद्रसूरि के पहले हुए है। उनकी कोई कृति इस समय उपलब्ध नही है। यह कृति विक्रम की सातवी शती की तो होगी ही।

हारिभद्रीय कृतियाँ

समभावभावी श्री हरिभद्रसूरि[1] ने योगविषयक अनेक ग्रन्थ लिखे है, जैसे १ योगबिन्दु, २ योगदृष्टिसमुच्चय, ३ योगशतक, ४ ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय, ५ जोगविंशिका और ६ षोडशक के कई प्रकरण (उदाहरणार्थ १०–१४ और १६)। अन्य ग्रन्थो मे भी प्रसगोपात्त योगविषयक बातो को हरिभद्रसूरि ने स्थान दिया है। इन सब कृतियो मे से 'ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय' के बारे मे अभी थोडे दिन पहले ही जानकारी प्राप्त हुई है। उसके तथा अन्य कृतियो के प्रकाश के विषय मे आगे निर्देश किया गया है।

योगबिन्दु

अनुष्टुप् छन्द के ५२७ पद्यो मे रचित हरिभद्रसूरि की यह कृति[2] अध्यात्म

---

१ इनके जीवन एव रचनाओ के बारे मे मैंने 'अनेकान्त-जयपताका' के खण्ड १ (पृ० १७ २९) और खण्ड २ (पृ० १०–१०६) के अपने अग्रेजी उपोद्घात मे तथा श्री हरिभद्रसूरि, षोडशक की प्रस्तावना, समराइच्चकहाचरिय के गुजराती अनुवादविषयक अपने दृष्टिपात आदि में कतिपय बातो का निर्देश किया है। उपदेशमाला और ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय भी उनकी कृतियाँ है। इनमे भी उपदेशमाला तो आज तक अनुपलब्ध ही है।

२ यह कृति अज्ञातकर्तृक वृत्ति के साथ 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने सन् १९११ मे प्रकाशित की है। इसका सम्पादन डा० एल० सुआली

पर प्रकाश डालती है। इसमे विविध विषयो का निरूपण आता है; जैसे— योग का प्रभाव, योग की भूमिका के रूप मे पूर्वसेवा, विष, गर, अनुष्ठान, तद्धेतु और अमृत ये पाँच प्रकार के अनुष्ठान[1], सम्यक्त्व की प्राप्ति में साधनभूत यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का विवेचन, विरति, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, कार्य की सिद्धि मे स्वभाव, काल आदि पाँच कारणो का बलाबल, महेश्वरवादी एव पुरुषाद्वैतवादी के मतो का निरसन, अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसक्षेप इन पाँच आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओ में से प्रथम चार का पतजलि के कथनानुसार सम्प्रज्ञात के रूप में और अन्तिम का असम्प्रज्ञात के रूप मे निर्देश, गोपेन्द्र[2] और कालातीत[3] के मन्तव्य तथा सर्वदेव-

---

(L Suali) ने किया है। इसके पश्चात् यही कृति 'जैन ग्रन्थ प्रसारक सभा' ने सन् १९४० में प्रकाशित की है। केवल मूल कृति गुजराती अर्थ (अनुवाद) और विवेचन के साथ 'बुद्धिसागर जैन ज्ञानमन्दिर' ने 'सुख-सागरजी ग्रन्थमाला' के तृतीय प्रकाशन के रूप में सन् १९५० में प्रकाशित की है। आजकल यह मूल कृति अग्रेजी अनुवाद आदि के साथ लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद की ओर से छप रही है।

१ वैयाकरण विनयविजयगणी ने 'श्रीपालराजानो रास' शुरू किया था, परन्तु वि० स० १७३८ मे उनका अवसान होने पर अपूर्ण रहा था। न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी ने तृतीय खण्ड की पाँचवी ढाल अथवा उसके अमुक अश मे आगे का भाग पूर्ण किया है। उन्होने चतुर्थ खण्ड की सातवी ढाल के २९ वें पद्य में इन विषादि पाँच अनुष्ठानो का उल्लेख करके पद्य ३०–३३ में उनका विवेचन किया है। इसके अलावा २६ वें पद्य मे भी अनुष्ठान मे सम्बद्ध प्रीति, भक्ति, वचन और असंग का उन्होने निर्देश किया है।

२ श्री हरिभद्रसूरि ने अन्य सम्प्रदायो के जिन विद्वानो का मानपूर्वक निर्देश किया है उनमे से एक यह गोपेन्द्र भी है। इन साख्ययोगाचार्य के मत के साथ उनका अपना मत मिलता है ऐसा उन्होने कहा है। हरिभद्रसूरि ने ललितविस्तरा (प० ४५ आ) मे 'भगवद्गोपेन्द्र' ऐसे सम्मानसूचक नाम के साथ उनका उल्लेख किया है। गोपेन्द्र अथवा उनकी किसी कृति के बारे में किसी अजैन विद्वान् ने निर्देश किया हो तो ज्ञात नही।

३ ये परस्पर विरुद्ध बातो का समन्वय करते है। इस दृष्टि से इस क्षेत्र मे

नमस्कार की उदारवृत्ति के बारे मे 'चारिसजीवनी' न्याय और कालातीत की अनुपलब्ध कृति मे से सात अवतरण।

योगबिन्दु के श्लोक ४५९ मे "समाधिराज"[1] नामक बौद्ध ग्रन्थ का उल्लेख आता है, परन्तु वृत्तिकार को इसकी स्मृति न होने से उसका कोई दूसरा ही अर्थ किया है।

योगबिन्दु मे योग के अधिकारी-अनधिकारी का निर्देश करते समय मोह में मुग्ध—अचरमावर्त में विद्यमान ससारी जीवो को उन्होंने 'भवाभिनन्दी' कहा है, जबकि चरमावर्त में विद्यमान शुक्लपाक्षिक, भिन्नग्रन्थि और चारित्री जीवो को योग के अधिकारी माना है। इस अधिकार की प्राप्ति पूर्वसेवा से हो सकती है—ऐसा कहते समय पूर्वसेवा का अर्थ मर्यादित न करके विशाल किया है। उन्होंने उसके चार अग गिनाये है १ गुरुप्रतिपत्ति अर्थात् देव आदि का पूजन, २ सदाचार, ३ तपश्चर्या और ४ मुक्ति के प्रति अद्वेष। गुरु अर्थात् माता, पिता, कलाचार्य, सगे-सम्बन्धी (ज्ञातिजन), वृद्ध और धर्मोपदेशक। इस प्रकार हरिभद्रसूरि ने 'गुरु' का विस्तृत अर्थ किया है। आजकल पूर्वसेवा का

ये हरिभद्रसूरि के पुरोगामी कहे जा सकते हैं। 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' (पृ० ८०) मे ये शैव, पाशुपत या अवधूत परम्परा के होगे ऐसी कल्पना की गई है।

१. यह बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर की तरह मिश्र सस्कृत मे रचा गया है। इसका उल्लेख श्लो० ४५९ मे नैरात्म्यदर्शन से मुक्ति माननेवाले के मन्तव्य की आलोचना करते समय आता है। इस मन्तव्य का निरूपण 'समाधिराज' (परिवर्त ७, श्लो० २८-२९) में आता है। यह समाधिराज ग्रन्थ दो स्थानो से प्रकाशित हुआ है १ गिलिगट मेन्युस्क्रिप्ट्स के द्वितीय भाग में सन् १९४१ मे और २ मिथिला इन्स्टिट्यूट, दरभगा (विहार) से सन् १९६१ में। प्रथम प्रकाशन के सम्पादक डा० नलिनाक्ष-दत्त है और दूसरे के डा० पी० एल० वैद्य। डा० वैद्य द्वारा सम्पादित समाधिराज बौद्ध सस्कृत ग्रन्थावली के द्वितीय ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित हुआ है।

समाधिराज के तीन चीनी अनुवाद हुए है। चौथा अनुवाद भोट भाषा मे हुआ है। इस चौथे अनुवाद मे सर्वाधिक प्रक्षिप्ताश है, ऐसा माना जाता है।

जो ह्रास हो रहा है वह शोचनीय है। आधुनिक शिक्षा में पूर्वसेवा को धार्मिक शिक्षा की नीव के रूप में मान्य रखा जाय तो आज की विषम परिस्थिति में खूब लाभ हो सकता है।

वृत्ति—'सद्योगचिन्तामणि' से शुरू होनेवाली इस वृत्ति का श्लोक-परिमाण ३६२० है। योगबिन्दु के स्पष्टीकरण के लिए यह वृत्ति अति महत्त्व की है। कई लोग इसे स्वोपज्ञ मानते हैं, परन्तु 'समाधिराज' का जो भ्रान्त अर्थ किया गया है उससे यह मान्यता अनुचित सिद्ध होती है। योगदृष्टिसमुच्चय तथा योगशतक पर एक-एक स्वोपज्ञ वृत्ति है और वह मिलती भी है। योगबिन्दु पर भी स्वोपज्ञ वृत्ति होगी, ऐसी कल्पना होती है।[1]

योगशतक (जोगसयग):

श्री हरिभद्रसूरि ने सस्कृत मे जैसे योगविषयक ग्रन्थ लिखे हैं वैसे प्राकृत मे भी लिखे हैं। उनमें से एक है योगशतक[2] तथा दूसरा है वीसवीसिया की जोग-

---

१ प्रो० मणिलाल न० द्विवेदी ने योगबिन्दु का गुजराती अनुवाद किया था और वह 'वडोदरा देशी केलवणीखातु' ने सन् १८९९ में प्रकाशित किया था।

योगबिन्दु एव उसकी अज्ञातकर्तृक वृत्ति आदि के बारे में विशेष जानकारी के लिए लेखक के 'श्री हरिभद्रसूरि' तथा 'जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास' ग्रन्थ देखिए।

२ यह गुजराती अर्थ, विवेचन, प्रस्तावना, विषय-सूची तथा छ परिशिष्टो के साथ अहमदाबाद से 'गुजरात विद्यासभा' ने प्रकाशित किया है। इसका सम्पादन डा० इन्दुकला हीराचन्द झवेरी ने किया है। इस कृति का नाम 'योगशतक' रखा है। सन् १९६५ में यही कृति स्वोपज्ञ वृत्ति तथा ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय के साथ 'योगशतक' के नाम से लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद ने प्रकाशित की है। इसका सम्पादन मुनि श्री पुण्यविजयजी ने किया है। उनकी अपनी सस्कृत प्रस्तावना, डा० इन्दुकला ही० झवेरी के अग्रेजी उपोद्घात, सस्कृत मे विषयानुक्रम, डा० के० के० दीक्षितकृत योगशतक का अग्रेजी अनुवाद, आठ परिशिष्ट तथा योगशतक एव ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय की ताडपत्रीय प्रतियो के एक-एक पत्र की प्रतिकृति से यह समृद्ध है।

डा० इन्दुकला झवेरी द्वारा सम्पादित योगशतक का हिन्दी अनुवाद भी गुजरात विद्यासभा ने प्रकाशित किया है।

विहाणवीसिया नाम की १७वी वीसिया। प्रस्तुत योगशतक ग्रन्थ मे निम्नलिखित विषय आते हैं

नमस्कार, योग का निश्चय एव व्यवहार दोनो दृष्टियो से लक्षण, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन तीनो के लक्षण, व्यवहार मे योग का स्वरूप, निश्चय योग से फल की सिद्धि, योगी का स्वरूप, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध, योग के अधिकारी के लक्षण, अपुनर्बन्धक का लक्षण, सम्यग्दृष्टि के शुश्रूषा, धर्म का राग और गुरु एव देव का वैयावृत्त्य (सेवा) ये तीन लिंग, चारित्री के लिंग, योगियो की तीन कथाएँ और तदनुसार उपदेश, गृहस्थ का योग, साधु की सामाचारी, अपात्र को योग देने से पैदा होने वाले अनिष्ट, योग की सिद्धि, मतान्तर, उच्च गुणस्थान की प्राप्ति की विधि, अरति दूर करने के उपाय, अनभ्यासी के कर्तव्य, राग, द्वेष एव मोह का आत्मा के दोषो के रूप मे निर्देश, कर्म का स्वरूप, ससारी जीव के साथ उसका सम्बन्ध, कर्म के कारण, कर्म की प्रवाह रूप से अनादिता, मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा पर प्रभाव, रागादि दोषो का स्वरूप तथा तद्विषयक चिन्तन, मैत्री आदि चार भावनाएँ, आहारविषयक स्पष्टीकरण, सर्वसम्पत्कारी भिक्षा, योगजन्य लब्धियाँ और उनका फल, कायिक प्रवृत्ति की अपेक्षा मानसिक भावना की श्रेष्ठता के सूचक दृष्टान्तो के रूप में मण्डूकचूर्ण और उसकी भस्म तथा मिट्टी का घडा और सुवर्ण-कलश, विकास-साधक के दो प्रकार, आशयरत्न का वासीचन्दन के रूप में उल्लेख तथा कालज्ञान के उपाय।

योगशतक की गा० ९, ३७, ६२, ८५, ८८, ९२, और ९७ मे निर्दिष्ट बातें ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय के ३७, १३६, १६३, २६३-६५, १७१, ४१३ और ३९२-९४ मे पाई जाती हैं।[1]

जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है, योगबिन्दु मे आने वाली योगविषयक कितनी ही बातें योगशतक मे सक्षेप मे आती है।[2] इस बात का समर्थन योगशतक की स्वोपज्ञ टीका मे आने वाले योगबिन्दु के उद्धरणो से होता है।

स्वोपज्ञ व्याख्या—यह व्याख्या स्वय हरिभद्रसूरि ने लिखी है। इसका अथवा मूल सहित इस व्याख्या का परिमाण ७५० श्लोक है। इस सक्षिप्त व्याख्या

---

१. देखिए—मुनि श्री पुण्यविजयजी की प्रस्तावना, पृ० ४

२. देखिए—*योगशतक की गुजराती प्रस्तावना* पृ० ५४-५५.

की रचना इस प्रकार हुई है कि उसके आधार पर मूल के प्राकृत पद्यो की सस्कृत छाया सुगमता से तैयार की जा सकती है। इसमे अपने तथा अन्यकर्तृक[1] ग्रन्थो मे से हरिभद्रसूरि ने उद्धरण दिये है। जैसे कि—योगबिंदु (श्लो० ६७-६९, १०१-१०५, ११८, २०१-२०५, २२२-२२६, ३५८, ३५९), लोकतत्त्वनिर्णय (श्लो० ७) शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्त० ७, श्लो० २-३) और अष्टकप्रकरण (अष्टक २९)। ये सब स्वरचित ग्रन्थ है। निम्नाकित प्रतीक वाले उद्धरणो के मूल अज्ञात है

श्रेयासि बहुविघ्नानि० (पृ० १), शक्ति सफलैर्व० (पृ० ५), ऊर्ध्वाध समाधि० (पृ० ९), सम्भृतसुगुप्त० (पृ० १०), सासिद्धिक० (पृ० १६), आग्रही बत० (पृ० ३९), द्विविध हि भिक्षव.। पुण्य० (पृ० ३८) धर्मधाता० (पृ० ४०), पञ्चाहात्० (पृ० ४२), प्रध्मान० (पृ० ४३) और जल्लेसे मरइ (पृ० ४३)।[2]

योगदृष्टिसमुच्चय ·

यह कृति[3] श्री हरिभद्रसूरि ने २२६ पद्यो में रची है। इसमें योग के १ इच्छा-योग, २ शास्त्र-योग और ३ सामर्थ्य-योग इन तीन भेदो का तथा सामर्थ्य-योग के धर्मसन्यास और योगसन्यास इन दो उपभेदो का निरूपण किया

---

१ पृ० ११ पर षष्टितत्र और भगवद्गीता के उद्धरण हैं।

२. ये पद्य अन्यकर्तृक है, परन्तु योगबिन्दु मे इस तरह गूँथ लिये है कि वे मूलके से प्रतीत होते है।

३. यह कृति स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था, सूरत ने सन् १९११ में प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त वृत्ति के साथ मूल कृति जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा ने सन् १९४० मे प्रकाशित की है। मूल कृति, उसका दोहो मे गुजराती अनुवाद, प्रत्येक पद्य का अक्षरश गद्यात्मक अनुवाद, हारिभद्रीय वृत्ति का अनुवाद, इस वृत्ति के आधार पर 'सुमनोनन्दिनी बृहत् टीका' नामक विस्तृत विवेचन, प्रत्येक अधिकार के अन्त मे उसके साररूप गुजराती पद्य, उपोद्घात और विषयानुक्रमणिका—इस प्रकार डा० भगवानदास म० महेता द्वारा तैयार की गई विविध सामग्री के साथ श्री मनसुखलाल ताराचन्द महेता ने 'योगदृष्टिसमुच्चय सविवेचन' नाम से बम्बई से सन् १९५० मे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया है।

गया है। इसके अनन्तर १ मित्रा, २. तारा, ३ बला, ४ दीप्रा, ५. स्थिरा, ६ कान्ता, ७ प्रभा और ८. परा—इन आठ दृष्टियो का विषय विशद एव मननीय निरूपित है। दीप्रा नाम की चौथी दृष्टि के निरूपण मे अवेद्यसवेद्य पद[1], वेद्यसवेद्य पद, कुतर्कनिन्दा, सर्वज्ञ-तत्त्व और सर्वज्ञो मे अभेद, सर्वज्ञ की देशना और सर्वज्ञवाद जैसे विविध अधिकार है। अन्त मे १ गोत्रयोगी, २. कुलयोगी, ३ प्रवृत्तचक्रयोगी और ४ निष्पन्नयोगी के बारे मे स्पष्टता की गई है। प्रस्तुत कृति मे ससारी जीव की अचरमावर्तकालीन अवस्था को 'ओघदृष्टि' और चरमावर्तकालीन अवस्था को 'योगदृष्टि' कहा है। आठ योगदृष्टियो मे से पहली चार मे मिथ्यात्व का अश होने से उन्हें अवेद्यसवेद्यपदवाली और अस्थिर एव सदोष कहा है, जबकि अवशिष्ट चार को वेद्यसवेद्यपदवाली कहा है। पहली चार दृष्टियो मे चौदह गुणस्थानो मे से आद्य गुणस्थान होता है, पाँचवी और छठी मे उसके बाद के तीन गुणस्थान, सातवी मे उनके बाद के दो और आठवी मे अवशिष्ट छ का समावेश होता है।

उपर्युक्त आठ दृष्टियो के विषय का आलेखन न्यायाचार्य श्री यशोविजय-गणी ने द्वात्रिशद्-द्वात्रिशिका की द्वात्रिशिका २१-२४ मे तथा 'आठ योग-दृष्टिनी सज्झाय' मे किया है। स्व मोतीचन्द गि कापडिया ने इस विषय को लेकर गुजराती मे 'जैन दृष्टिए योग'[2] नाम की पुस्तक लिखी है। इसके अतिरिक्त इस विषय का निरूपण न्यायविशारद न्यायतीर्थ मुनि श्री न्यायविजयजी ने अध्यात्म-तत्त्वालोक मे किया है।

स्वोपज्ञ वृत्ति—११७५ श्लोक-परिमाण यह वृत्ति ग्रन्थकार ने स्वय रचकर मूल के विषय का विशद स्पष्टीकरण किया है। मित्रा आदि आठ दृष्टियो की पातजल योगदर्शन (२-२९) मे आये यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्या-हार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ योगागो के साथ जैसे मूल मे तुलना की है, उसी प्रकार उसकी तुलना श्लो० १६ की वृत्ति मे खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान,

---

१. जिसमे बाह्य वेद्य विषयो का यथार्थ रूप से सवेदन अर्थात् ज्ञान नही होता।

२ इसकी दूसरी आवृत्ति श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई ने वि स २०१० मे प्रकाशित की है।

भ्रान्ति, अन्यमुद्, रोग और आसग[1] के साथ तथा इसी श्लोक की वृत्ति मे अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमासा, शुद्ध प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति[2] के साथ की है। इस प्रकार जो त्रिविध तुलना की गई है वह क्रमश पतजलि, भास्करबन्धु और दत्त के मन्तव्य प्रतीत होते है।[3]

टीका—यह सोमसुन्दरसूरि के शिष्य साधुराजगणी की ४५० श्लोक-परिमाण रचना है। यह अबतक अप्रकाशित है।[4]

ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय

इसके[5] प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरि है ऐसा मुनि श्री पुण्यविजयजी का मन्तव्य है और मुझे वह यथार्थ प्रतीत होता है। उनके मत से इसकी एक खण्डित ताडपत्रीय प्रति जो उन्हे मिली थी वह विक्रम की बारहवी शताब्दी मे लिखी गई थी।

इस मस्कृत ग्रन्थ के ४२३ पद्य ही मुश्किल से मिले है और वे भी पूर्ण नही है। आद्य पद्य मे महावीर को नमस्कार करके ब्रह्मादि की प्रक्रिया, उसके सिद्धान्त के अनुसार, जताने की प्रतिज्ञा की है। इस ग्रन्थ का महत्त्व एक दृष्टि से यह है कि इसमे सर्व-दर्शनो का समन्वय साधा गया है। श्लोक ३९२-९४ मे मृत्युसूचक चिह्नो का उल्लेख है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे हारिभद्रीय कृतियो मे से जो कतिपय पद्य मिलते है उनका निर्देश श्री पुण्यविजयजी ने किया है, जैसेकि श्लोक ६२ ललितविस्तरा मे आता है। षोडशक प्रकरण में अद्वेष, जिज्ञासा आदि आठ अगो का जैसा उल्लेख है वैसा इसके श्लोक ३५ मे भी है। इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग का जो निरूपण श्लोक १८८-१९१ मे है वह ललितविस्तरा और योगदृष्टिसमुच्चय की याद दिलाता है। प्रस्तुत कृति के श्लोक ५४ मे अपुनर्बन्धक का उल्लेख है। यह योगदृष्टिसमुच्चय में भी है।

---

१ इन खेद आदि के स्पष्टीकरण के लिए देखिए—षोडशक (षो० १४, श्लो० २-११)।

२ देखिए—षोडशक (षो० १६, श्लो० १४)।

३ देखिए—समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ८६

४ प० भानुविजयगणी ने योगदृष्टिसमुच्चयपीठिका नाम की कृति लिखी है जो प्रकाशित है।

५ यह नाम मुनि श्री पुण्यविजयजी ने दिया है। यह कृति प्रकाशित है।

जोगविहाणवीसिया (योगविधानविंशिका)

श्री हरिभद्रसूरि ने जो 'वीसवीसिया' लिखी है वह बीस विभागो मे विभक्त है। उनमे से सत्रहवे विभाग का नाम 'जोगविहाणवीसिया'[1] है। उसमे बीस गाथाएँ है। उसका विपय 'योग' है। गा० १ मे कहा है कि जो प्रवृत्ति मुक्ति की ओर ले जाय वह 'योग' है। इस प्रकार यहाँ योग का लक्षण दिया गया है। गा० २ मे योग के पाँच प्रकार गिनाये हैं १ स्थान, २ ऊर्ण, ३ अर्थ, ४ आलबन और ५ अनालम्बन।[2] इनमें से प्रथम दो 'कर्मयोग' है और अवशिष्ट तीन 'ज्ञानयोग' है। इन पाँचो प्रकारो मे से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि ऐसे चार-चार भेद हैं। इस प्रकार यहाँ योग के ८० भेदो का निरूपण किया गया है। गाथा ८ मे अनुकम्पा, निर्वेद, सवेग और प्रशम का निर्देश है। इस तरह यहाँ तत्त्वार्थसूत्र (अ० १, सू० २) की हारिभद्रीय टीका की भाँति सम्यक्त्व के आस्तिक्य आदि पाँच लक्षण पश्चादानुपूर्वी से दिये है। गाथा १४ मे कहा है कि तीर्थ के रक्षण के बहाने अशुद्ध प्रथा चालू रखने से तीर्थ का उच्छेद होता है। गाथा १७-२० मे शुद्ध आचरण के चार प्रकारो का उल्लेख है।

---

१ यह कृति वीसविसिया का एक अश होने से उसके निम्नलिखित दो प्रकाशनो मे इसे स्थान मिला है

(अ) ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम का वीसवीसिया इत्यादि के साथ मे सन् १९२७ का प्रकाशन।

(आ) प्रो० के० वी० अभ्यकर द्वारा सम्पादित और सन् १९३२ मे प्रकाशित आवृत्ति। इस द्वितीय प्रकाशन मे वीसवीसिया की सस्कृत-छाया, प्रस्तावना, अग्रेजी टिप्पण और साराश आदि दिये गये है।

(इ) 'योगदर्शन तथा योगविंशिका' नामक जो पुस्तक आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा से सन् १९२२ मे प्रकाशित हुई है उसमे प्रस्तुत कृति, उसका न्यायाचार्यकृत विवरण तथा कृति का हिन्दी-सार दिया गया है।

(ई) 'पातजल योगदर्शन' पर 'योगानुभवसुखसागर' तथा हरिभद्रसूरिरचित 'योगविंशिका गुर्जर भाषानुवाद' नामक ग्रन्थ श्रीमद् बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, विजापुर (उत्तर गुजरात) ने वि० स० १९९७ मे प्रकाशित किया है। उसमे ऋद्धिसागरसूरिकृत जोगविहाणवीसिया का अर्थ, भावार्थ एव टीकार्थ दिया गया है।

२ इन पाँचो का षोडशक (षो० १३, ४) मे निर्देश है।

इस कृति मे आध्यात्मिक विकास की प्राथमिक भूमिका का विचार न करके आगे की भूमिकाओ का निर्देश किया है।

प्रस्तुत कृति की विषय तथ शैली की दृष्टि से षोडशक के साथ तुलना की जा सकती है।

विवरण—जोगविहाणवीसिया के ऊपर न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी गणी ने संस्कृत मे विवरण लिखा है। उसमे तीर्थ का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा है कि जैनो का समूह तीर्थ नही है। यदि वह समूह आज्ञारहित हो तो उसे 'हड्डियो का ढेर' समझना चाहिए। सूत्रोक्त यथोचित क्रिया करनेवाले साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का समुदाय ही 'तीर्थ' है।

इस विवरण में आनेवाली कतिपय चर्चाओ मे तर्कशैली का उपयोग किया गया है। योगबिन्दुगत अध्यात्म आदि योग के पाँच भेदो को उपाध्यायजी ने क्रमश स्थान आदि मे घटाया है।[1]

परमप्पपयास (परमात्मप्रकाश) .

यह ३४५ दोहो में अपभ्रंश में जोगसार के कर्ता जोइन्दु (योगीन्दु) की कृति[2] है। इसमें परमात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। यह दो अधिकारो मे विभक्त है। इसका आरम्भ परमात्मा तथा पचपरमेष्ठी के नमस्कार के साथ हुआ है। भट्ट प्रभाकर की अभ्यर्थना से योगीन्दु परमात्मा का स्वरूप उसे समझाते है। ऐसा करते समय कुन्दकुन्दाचार्य[3] और पूज्यपाद[4] की भाँति

---

१ इसके स्पष्टीकरण के लिए देखिए—योगशतक की गुजराती प्रस्तावना, ५७ (टिप्पण)।

२ यह 'रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' मे ब्रह्मदेव की टीका के साथ सन १९१५ मे प्रकाशित हुआ है। उसी वर्ष रिखबदास जैन के अंग्रेजी अनुवाद के साथ भी यह प्रकाशित हुआ है। अंग्रेजी मे विशिष्ट प्रस्तावना तथा जोगसार के साथ इसका सम्पादन डा० ए० एन० उपाध्ये ने किया है जो 'रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' में सन् १९३७ मे छपा है। इसकी द्वितीय आवृत्ति सन् १९६० मे प्रकाशित हुई है और उसमे अंग्रेजी प्रस्तावना का हिन्दी मे सार भी दिया गया है। द्वितीय सस्करण के अनुसार इसमे कुल ३५३ दोहे है।

३ देखिए—मोक्खपाहुड, गा० ५–८.

४ देखिए—समाधिशतक, पृ० २८१–९६ (सनातन जैन ग्रन्थमाला का प्रकाशन)।

वे आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों का निरूपण करते है। आत्मा के स्वरूप के निर्देशक अजैन मन्तव्य भी इन्होने बतलाये है और जैन दृष्टि के अनुसार उसकी आलोचना भी की है। इसमे परमात्मा के विकल और सकल इन दो भेदो का निर्देश करके उनका सक्षिप्त परिचय दिया गया है। प्रसगोपात्त द्रव्य, गुणपर्याय, कर्म, निश्चयनय के अनुसार सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व, मोक्ष, नैश्चयिक और व्यावहारिक मोक्षमार्ग और शुद्ध उपयोग पर भी प्रकाश डाला है।

टीकाएँ—इस परमप्पयास परब्रह्मदेव, प्रभाचन्द्र तथा अन्य किसी ने एक-एक टीका लिखी है। पहली प्रकाशित है।

समान नामक कृति—पद्मनन्दी ने सस्कृत मे १३०० श्लोक-परिमाण 'परमात्म प्रकाश' नाम की एक कृति रची है।

जोगसार (योगसार) अथवा दोहासार

यह अपभ्रंश के १०८ दोहो मे परमप्पयास के कर्ता जोइन्दु (योगीन्दु) की अध्यात्मविषयक कृति[1] है। इसके अन्तिम पद मे इसके कर्ता का नामोल्लेख 'जोगिचद मुणि' के रूप मे मिलता है। इससे इसे योगिचन्द्र की कृति कहा जाता है। इसके प्रथम प्रकाशन (पृ० १६) मे कर्ता का नाम योगीन्द्रदेव दिया गया है, परन्तु सही नाम तो योगीन्दु है। इसके साथ ही नियप्पट्ठग (निजात्माष्टक) और अमृताशीति तथा परमप्पयास (परमात्मप्रकाश) भी इन्ही की रचनाएँ है ऐसा यहाँ उल्लेख है। नियमसार की पद्मप्रभ मलधारिदेवकृत टीका मे जो उद्धरण आता है वह अमृताशीति मे तो उपलब्ध नही होता, अत वह "तथा चोक्त श्रीयोगीन्द्रदेवै — मुक्त्यगनालिमपुनर्भवसाख्यमूल" ऐसा

---

१ इस कृति को 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' के २१ वें ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित 'सिद्धान्तसारादिसग्रह' मे सस्कृत-छाया के साथ पृ० ५५–७४ मे स्थान मिला है। इसके आलावा इसी ग्रन्थ मे ८२ पद्यों में रचित अमृताशीति (पृ० ८५–१०१) और आठ पद्यो का निजात्माष्टक भी छपे हैं।

यह योगसार 'रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' मे परमात्मप्रकाश के परिशिष्टरूप से सन् १९३७ मे प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन डा० ए० एन० उपाध्ये ने किया है। सन् १९६० मे इसका द्वितीय सस्करण भी छपा है।

उनके अध्यात्मसन्दोह अथवा किसी अन्य कृति का होगा—ऐसा इसकी प्रस्तावना मे कहा है। योगसार की एक हस्तप्रति वि० स० ११९२ मे लिखी हुई मिली है। इसका मुख्य विषय परमप्पयास से मिलता है।

टीकाएँ—जोगसार पर सस्कृत मे दो टीकाएँ लिखी गई है। एक के कर्ता अमरकीर्ति के शिष्य इन्द्रनन्दी है। दूसरी टीका अज्ञातकर्तृक है।

समान नामक कृतियाँ—'वीतराग' अमितगति ने 'योगसार'[1] नाम की एक औपदेशिक कृति लिखी है। वह नौ विभागो मे विभक्त है। गुरुदास ने भी 'योगसार' नाम की एक दूसरी कृति रची है। इसके अलावा 'योगसार' नाम की एक कृति किसी विद्वान् ने लिखी है और उस पर अज्ञातकर्तृक टीका भी है। यह योगसार वही तो नही है, जिसका परिचय आगे दिया गया है।

योगसार

इस पद्यात्मक कृति[2] के आद्य पद्य मे कर्ता ने अपनी इस कृति का यह नाम सूचित किया है। उन्होने समग्र कृति मे अपने सक्षिप्त परिचय की तो बात ही क्या, अपना नाम तक नही दिया है। यह कृति १ यथावस्थितदेवस्वरूपोपदेशक, २ तत्त्वसारधर्मोपदेशक, ३ साम्योपदेश, ४ सत्त्वोपदेश और ५ भावशुद्धि-जनकोपदेश इन पाँच प्रस्तावो मे विभक्त है। इन पाँचो प्रस्तावो की पद्यसख्या क्रमश ४६, ३८, ३१, ४२ और ४९ है। इस प्रकार इसमे कुल २०६ पद्य है और वे सुगम सस्कृत मे अनुष्टुप् छन्द मे रचित हैं।

उपर्युक्त पाँचो प्रस्तावो के नाम इस कृति में आनेवाले विषयो के द्योतक है। इस कृति का मुख्य विषय अनादिकाल से भवभ्रमण करनेवाला जीव किस प्रकार परम पद प्राप्त कर सकता है यह दिखलाना है। इसके उपाय स्पष्ट रूप से यहाँ दरसाये है। इस कृति मे अभय, कालशौकरिक, वीर आदि नाम दृष्टिगोचर होते है।

---

१ यह कृति 'सनातन जैन ग्रन्थावली' के १६ वे ग्रन्थरूप में सन् १९१८ मे प्रकाशित हुई है।

२ यह कृति श्री हरगोविन्ददास त्रिकमलाल सेठ के गुजराती अनुवाद के साथ 'जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला कार्यालय' वाराणसी ने वि० स० १९६७ मे प्रकाशित की थी। यह सस्करण अब दुष्प्राप्य है, अत 'जैन साहित्य विकास मण्डल' ने इसे पुन छपवाया है। इसमे पाठान्तर, अनुवाद और परिशिष्ट के रूप मे पद्यो के प्रतीको की सूची दी गई है। प्राक्कथन में प्रत्येक प्रस्ताव मे आनेवाले विषयो का सक्षेप मे निरूपण है।

रचना-समय—प्रस्तुत कृति की रचना कब हुई इसका इसमे निर्देश नही है, परन्तु इसकी पूर्वसीमा द्वितीय प्रस्ताव के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर निश्चित की जा सकती है

"नाञ्चलो मुखवस्त्रं न न राका न चतुर्दशी।
न श्राद्धादिप्रतिष्ठा वा तत्त्व किन्त्वमल मन"॥ २४॥

इसमें निम्नलिखित मतान्तरो का उल्लेख है -

१ 'अचल' मत[1] प्रतिक्रमण करते समय वस्त्र का छोर मुख के आगे रखता है, तो अन्य मत मुखवस्त्रिका (मुहपत्ति) रखने का आग्रह करता है।

२ एक मत के अनुसार पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा के दिन करना चाहिए, तो दूसरे के अनुसार चतुर्दशी को।

३ एक मत के अनुसार श्रावको द्वारा की गई प्रतिष्ठा स्वीकार्य है, तो दूसरे के अनुसार आचार्यो द्वारा की गई प्रतिष्ठा।

इस प्रकार यहाँ जिन मत-मतान्तरो का निर्देश किया गया है उसके आधार पर इन मतो की उत्पत्ति के पश्चात् प्रस्तुत कृति की रचना हुई है, ऐसा फलित होता है। अत यह विक्रम की बारहवी शती से पूर्व की रचना नही है।

योगशास्त्र अथवा अध्यात्मोपनिषद् -

यह[2] कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि की कृति है जो बारह प्रकाशो मे विभक्त है। इन प्रकाशो की पद्य-सख्या क्रमश ५६, ११५, १५६, १३६, २७३, ८,

---

१ इस मत की उत्पत्ति वि० स० ११६९ मे हुई है।

२. इसका प्रकाशन सन् १९१२ मे 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने किया था। उसके पश्चात् इसी सभा ने धर्मदासगणिकृत उवएसमाला (उपदेशमाला) के साथ सन् १९१५ मे यह पुन प्रकाशित किया था। इसी सभा ने स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ यह योगशास्त्र सन् १९२६ मे छपाया है। शास्त्र-विशारद धर्मविजयजी (विजयधर्मसूरि) ने स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ इसका जो सम्पादन किया था उसका कुछ अश 'बिब्लियोथिका इण्डिका' मे प्रकाशित हुआ। समग्र मूल कृति 'विजयदानसूरीश्वर ग्रन्थमाला' में सन् १९३९ मे प्रकाशित हुई है। हीरालाल हसराजकृत गुजराती अनुवाद तथा स्वोपज्ञ वृत्ति (विवरण) के भावार्थ के साथ यह सम्पूर्ण कृति भीमसिंह माणेक ने सन् १८९९ मे प्रकाशित की थी। ई० विण्डिश

२८, ८१, १६, २४, ६१ और ५५ हैं। इस प्रकार इसमे कुल ११९९ श्लोक हैं।

प्रका० १२, श्लो० ५५ तथा प्रका० १ श्लो० ४ की स्वोपज्ञ वृत्ति के अनुसार प्रस्तुत कृति योगोपासना के अभिलाषी कुमारपाल की अभ्यर्थना का परिणाम है। शास्त्र, सद्गुरु की वाणी और स्वानुभव के आधार पर इस योगशास्त्र की रचना की गई है। मोहराजपराजय (अक ५) मे निर्दिष्ट सूचना के अनुसार मुमुक्षुओ के लिये यह कृति वज्रकवच के समान है। वीतरागस्तोत्र के बीस प्रकाशो के साथ इस कृति के बारह प्रकाशो का पाठ परमार्हत कुमारपाल अपनी दन्तशुद्धि के लिये करता था, ऐसा कहा जाता है।

विषय—प्रकाश १, श्लो० १५ मे कहा है कि चार पुरुषार्थो मे श्रेष्ठ मोक्ष का कारण ज्ञान, दर्शन एव चारित्ररूप 'योग' है। इसका निरूपण ही इस योगशास्त्र का मुख्य विषय है। प्रका० १, श्लो० १८-४६ मे श्रमणधर्म का स्वरूप बतलाया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ का अधिकाश भाग गृहस्थधर्म से सम्बद्ध है। इसके २८२ पद्य है।

(E Windisch) ने प्रारम्भ के चार प्रकाशो का सम्पादन किया है उन्होने इसका जर्मन भाषा मे अनुवाद भी किया है। इस अनुवाद के साथ प्रकाश १-४ Z D M G (Vol 28, p 185 ff) मे छपे है। श्री महावीर जैन विद्यालय ने (प्रकाश १-४) गुजराती अनुवाद तथा दृष्टान्तो के सार के साथ इसकी दूसरी आवृत्ति सन् १९४९ मे प्रकाशित की है। इसकी प्रथम आवृत्ति सन् १९४१ में उसने छापी थी। उसके सम्पादक तथा मूल के अनुवादक श्री खुशालदास है। इसमे हेमचन्द्रसूरि की जीवनरेखा, उनके ग्रन्थ, योग से सम्बद्ध कुछ अन्य जानकारी, तीन परिशिष्ट, पद्यानुक्रम, विषयानुक्रम, विशिष्ट शब्दो की सूची इस प्रकार विविध विषयो का समावेश किया गया है। इसमें कहा है कि प्रका० २ का श्लो० ३९ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका (श्लो० ११) की स्याद्वादमजरी मे आता है। इसके बारहो प्रकाशो का छायानुवाद दस प्रकरणो मे श्री गोपालदास पटेल ने किया है। उपोद्घात, विषयानुक्रमणिका, टिप्पण, पारिभाषिक शब्द आदि सूचियो, सुभाषितात्मक मूल श्लोक और उनके अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ 'पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला' में 'योगशास्त्र' के नाम से सन् १९३८ मे प्रकाशित हुआ है।

इस समग्र ग्रन्थ के दो विभाग किये जा सकते हैं। प्रकाश १ से ४ के प्रथम विभाग मे मुख्यत गृहस्थधर्म के लिए उपयोगी बाते आती है, जबकि शेष ५ से १२ प्रकाशो के द्वितीय भाग मे प्राणायाम आदि की चर्चा आती है।

द्वितीय प्रकाश मे सम्यक्त्व एव मिथ्यात्व तथा श्रावको के बारह व्रतो में से प्रारम्भ के पाँच अणुव्रतो का विचार किया गया है।

तृतीय प्रकाश मे श्रावको के अवशिष्ट सात व्रत, बारह व्रतो के अतिचार, महाश्रावक की दिनचर्या और श्रावक के मनोरथ—इस प्रकार विविध बाते आती है।

चतुर्थ प्रकाश मे आत्मा की सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय के साथ एकता, बारह भावनाएँ, ध्यान के चार प्रकार और आसनो के बारे मे कहा गया है।

पाँचवे प्रकाश मे प्राणायाम के प्रकारो और कालज्ञान का निरूपण है।

छठे प्रकाश में पातजल योगदर्शन मे निर्दिष्ट परकायप्रवेश के ऊपर प्रकाश डाला गया है।

सातवे प्रकाश मे ध्याता, ध्येय, धारणा और ध्यान के विषयो की चर्चा आती है।

आठवे से ग्यारहवे प्रकाशो मे क्रमश पदस्थ ध्यान, रूपस्थ ध्यान, रूपातीत ध्यान और शुक्ल ध्यान का स्वरूप समझाया गया है।

बारहवे प्रकाश मे दो बाते आती है १ योग की सिद्धि और २ प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का हेतु। यहाँ राजयोग की सिफारिश की गई है।

स्वोपज्ञ वृत्ति—स्वय ग्रन्थकार ने यह वृत्ति[1] लिखी है। इसके अन्त मे दो श्लोक आते है। पहले मे इसका 'वृत्ति' के रूप मे और दूसरे मे 'विवृति' के रूप मे निर्देश है, जबकि प्रत्येक प्रकाश के अन्त मे इसका 'विवरण' के नाम से उल्लेख मिलता है। १२००० श्लोक-परिमाण प्रस्तुत वृत्ति बीच-बीच में आनेवाले श्लोको एव विविध अवतरणो से समृद्ध है। प्रका० ३, श्लो० १३० की वृत्ति (पत्र २४७ आ से पत्र २५० अ) मे प्रतिक्रमण की विधि से सम्बद्ध

---

१. इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि. स. १२९२ की पाटन के एक भडार मे है। वि सं १२५० की एक ताडपत्रीय प्रति भी है, ऐसा ज्ञात हुआ है।

३३ गाथाएँ[1] किसी प्राचीन कृति मे से उद्धृत की है। 'ईरियावहिय', 'तस्स उत्तरी', 'अन्नत्थ', 'नमुत्थुण', 'अरिहतचेइयाण', 'लोगस्स', 'पुक्खरवर' 'सिद्धाणं बुद्धाण', 'जय वीयराय'—इन सूत्रो का इस वृत्ति मे स्पष्टीकरण किया गया है।

इस वृत्ति मे प्रसगोपात्त अनेक कथाएँ आती है। इनके द्वारा निम्नलिखित व्यक्तियो की जीवन-रेखा दी गई है

अभयकुमार, आदिनाथ अथवा ऋषभदेव, आनन्द, कुचिकर्ण, कौशिक, कामदेव, कालसौरिकपुत्र, कालकाचार्य, चन्द्रावतसक, चिलातिपुत्र, चुलिनीपिता, तिलक, दृढप्रहारी, नन्द, परशुराम, ब्रह्मदत्त, भरत चक्रवर्ती, मरुदेवी, मण्डिक, महावीर स्वामी, रावण, रौहिणेय, वसु (नृपति), सगर चक्रवर्ती, सगमक, सनत्कुमार चक्रवर्ती, सुदर्शन श्रेष्ठी, सुभूम चक्रवर्ती और स्थूलभद्र।

इनके बारे मे कुछ अधिक जानकारी 'जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास' (खण्ड २, उपखण्ड २) में दी गई है।

योगिरमा—यह टीका[2] दि० अमरकीर्ति के शिष्य इन्द्रनन्दी ने शक सवत् ११८० मे चन्द्रमती के लिए लिखी है।[3] इसमे योगशास्त्र का योगप्रकाश तथा योगसार के नाम से निर्देश आता है। इस टीका के आरम्भ मे तीन श्लोक है।

---

१ ये गाथाएँ गुजराती अनुवाद के साथ 'प्रतिक्रमणसूत्र-प्रबोधटीका' (भा० ३, पृ० ८२४-३२) मे उद्धृत की गई है।

२. इस टीका की एक हस्तप्रति कारजा (अकोला) के शास्त्रभडार मे है। उसमें प्रत्येक पृष्ठ पर ११ से १२ पक्तियाँ और प्रत्येक पक्ति मे ५५ से ६० अक्षर है। इसमें ७७ पत्र है। प्रत्येक पत्र का नाप ११ २५" × ४ ७५" है। यह ४००-५०० वर्ष प्राचीन है, ऐसा कहा जाता है। इस हस्तप्रति पर प० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने एक लेख 'आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर एक प्राचीन दिगम्बर टीका' नाम से लिखा था। यह लेख 'श्रमण' (व० १८, अ० ११) मे छपा था। उसके आधार पर इस टीका का परिचय दिया है।

३ टीका मे 'खाष्टेशे' इतना ही उल्लेख है। किसी प्रकार के सवत् का उल्लेख नही है, परन्तु वह वैक्रमीय तो हो ही नही सकता।

पहले श्लोक मे वीर जिनेश्वर को वन्दन किया है, दूसरे मे टीकाकार ने अपने गुरु को प्रणाम किया है। साथ ही, अपने गुरु का 'चतुर्धागमवेदी' इत्यादि विशेषणो द्वारा निर्देश किया है। अन्त मे प्रशस्तिरूप एक श्लोक है। उसमें प्रस्तुत टीका का नाम, रचना-वर्ष तथा किसके बोधार्थ यह टीका लिखी है ये सब बाते आती है। इस टीका मे योगशास्त्र के प्रणेता हेमचन्द्रसूरि को 'विद्वद्विशिष्ट' एव 'परमयोगीश्वर' कहा है।

हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्र के बारहो प्रकाशों पर उनका स्वोपज्ञ विवरण है, परन्तु उसके अधिकाश भाग मे प्रकाश १-४ का स्पष्टीकरण ही आता है।[1] पाँचवाँ प्रकाश सबसे बडा है। यह योगिरमा टीका नौ अधिकारों में विभक्त है। इसमे ५८ श्लोको का 'गर्भोत्पत्ति' नामक प्रथम अधिकार है। यह अब तक प्रकाशित योगशास्त्र अथवा उसके स्वोपज्ञ विवरण मे नही है। इस आधार पर श्री जुगलकिशोरजी ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की है कि योगशास्त्र की प्रथम लिखित प्रतियो मे वह रहा होगा, परन्तु निरर्थक लगने पर आगे जाकर निकाल दिया गया होगा।

यह योगिरमा टीका अन्तिम आठ प्रकाशों पर सविशेष प्रकाश डालती है। उसके आठ अधिकार अनुक्रम से प्रकाश ५ से १२ है। इसमे मूल के नाम से निर्दिष्ट श्लोको की सख्या योगशास्त्र के साथ मिलाने पर कमोबेश मालूम होती है। इसके अलावा उसमे पाठभेद भी हैं। चौथे तथा पाँचवें अधिकारो मे जो स्पष्टीकरण आता है उसमे आनेवाले कई मंत्र और यत्र योगशास्त्र अथवा उसके स्वोपज्ञ विवरण मे उपलब्ध नही हैं। सातवे अधिकार के कतिपय श्लोक स्वोपज्ञ विवरणगत आन्तर-श्लोक है।

वृत्ति—यह अमरप्रभसूरि ने लिखी है। वे पद्मप्रभसूरि के शिष्य थे। इस वृत्ति की एक हस्तप्रति वि० स० १६१९ की लिखी मिलती है।

टीका-टिप्पण—यह अज्ञातकर्तृक रचना है।

अवचूरि—इसके कर्ता का नाम ज्ञात नही है।

बालावबोध—इस गुजराती स्पष्टीकरण के प्रणेता सोमसुन्दरसूरि हैं। वे तपागच्छ के देवसुन्दरसूरि के शिष्य थे। उनकी इस कृति की एक हस्तप्रति

---

१. इन चारो प्रकाशों में तृतीय प्रकाश सबसे बडा है।

वि० सं० १५०८ में लिखी उपलब्ध है। मेरुसुन्दरगणी ने वि० स० १५०८ में वालावबोध लिखा था ऐसा जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ३२४) मे उल्लेख आता है। गणीजी ने उपर्युक्त वालावबोध को लिपिबद्ध तो नही किया होगा? ऐसा प्रश्न होता है।

वार्तिक—इसके रचयिता का नाम इन्द्रसौभाग्यगणी है।

ज्ञानार्णव, योगार्णव अथवा योगप्रदीप :

यह कृति[2] दिगम्बर शुभचन्द्र ने २०७७ श्लोकों में रची है। यह ४२ सर्गों में विभक्त है। ज्ञानार्णव की रचना अशत शिथिल है। यह उपदेशप्रधान ग्रन्थ है। इससे ऐसा लगता है कि कालान्तर में इसमें प्रक्षेप होते रहे होंगे। इसकी भाषा सुगम और शैली हृदयंगम है। इससे यह कृति सार्वजनीन बन सकती है, परन्तु शुभचन्द्र के मत मे गृहस्थ योग का अधिकारी नही है, इस बात मे ज्ञानार्णव हेम योगशास्त्र मे भिन्न है। इसीलिए इसमे महाव्रत और उनकी भावनाओं का हेम योगशास्त्र की अपेक्षा विशेष निरूपण है।

ज्ञानार्णव (सर्ग २१-२७) में कहा है कि आत्मा स्वय ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उसे कषायरहित बनाने का नाम ही मोक्ष है। इसका उपाय इन्द्रिय पर विजयप्राप्ति है। इस विजयप्राप्ति का उपाय चित्तकी शुद्धि, इस शुद्धि का उपाय राग-द्वेषविजय, इस विजय का उपाय समत्व और समत्व की प्राप्ति ही ध्यान की योग्यता है। इस प्रकार जो विविध बातें इसमें आती है उनकी तुलना योगशास्त्र (प्रका० ४) के साथ करने योग्य है।

ज्ञानार्णव में प्राणायाम के विषय का निरूपण लगभग १०० श्लोकों मे आता है, यद्यपि हेमचन्द्रसूरि की तरह इसके कर्ता भी प्राणायाम को निरुपयोगी और अनर्थकारी मानते है। ज्ञानार्णव में अनुप्रेक्षाविषयक लगभग २००

---

१ सम्पूर्ण मूल कृति तथा उसके प्र० १ से ४ का गुजराती एव जर्मन मे अनुवाद हुआ है और वे सब प्रकाशित भी है। आठवें प्रकाश का गुजराती अनुवाद 'महाप्रभाविक नवस्मरण' नामक पुस्तक में पृ० १२२-१३४ पर छपा है। उससे सम्बन्ध रखनेवाले ५ से २३ अर्थात् १९ चित्र उसमे दिये गये है। पाँचवाँ चित्र ध्यानस्थ पुरुष का है, जबकि अवशिष्ट पदस्थ ध्यान से सम्बन्धित है।

२ यह कृति 'रायचन्द जैन शास्त्रमाला' मे सन् १९०७ मे प्रकाशित हुई है।

श्लोक है। इसके सर्ग २९ से ४२ में प्राणायाम तथा ध्यान के बारे मे विस्तृत विवेचन है। ज्ञानार्णव मे, पवनजय से मृत्यु का भाविसूचन होता है, ऐसा कहा है, परन्तु इसके लिए शकुन, ज्योतिष आदि अन्य उपायो का निर्देश नही है।

रचना-समय—ज्ञानार्णव के कई श्लोक इष्टोपदेश की वृत्ति में दिगम्बर आशाधर ने उद्धृत किये है। इस आधार पर वि० स० १२५० के आसपास इसकी रचना हुई होगी, ऐसा माना जा सकता है। ज्ञानार्णव मे दिगम्बर जिनसेन एव अकलक का उल्लेख है, अत उस आधार पर इसकी पूर्वसीमा निश्चित की जा सकती है। जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १५०) में ज्ञानार्णव की एक हस्तप्रति वि० स० १२८४ मे लिखी होने का उल्लेख है। यह इस कृति की उत्तर-सीमा निश्चित करने में सहायक होती है। ज्ञानार्णव की रचना हैम योग-शास्त्र से पहले हुई है या पश्चात्, इसके बारे मे जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास (खण्ड २, उपखण्ड १) मे चर्चा की गई है।

ज्ञानार्णव पर निम्नलिखित तीन टीकाएँ है ·

१. **तत्त्वत्रयप्रकाशिनी**—यह दिगम्बर श्रुतसागर की रचना है। ये देवेन्द्रकीर्ति के अनुगामी विद्यानन्दी के शिष्य थे। इनकी यह कृति इनके गुरुभाई सिंह-नन्दी की अभ्यर्थना के फलस्वरूप लिखी गई है।

२ **टीका**—इसके कर्ता का नाम नयविलास है।

३ **टीका**—यह अज्ञातकर्तृक है।

ज्ञानार्णवसारोद्धार ·

इसका जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १५०) मे उल्लेख आता है। यह उपर्युक्त ज्ञानार्णव का अथवा न्यायाचार्य श्री यशोविजयगणी के ज्ञानार्णव का सक्षिप्त रूप है, यह ज्ञात नही।

ध्यानदीपिका

यह कृति[1] खरतरगच्छ के दीपचन्द्र के शिष्य देवचन्द्र ने वि० स० १७६६ में तत्कालीन गुजराती भाषा मे रची है। शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव का जो लाभ

---

१. यह कृति 'अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल' द्वारा श्रीमद् देवचन्द्र (भा० २) की सन् १९२९ मे प्रकाशित द्वितीय आवृत्ति के पृ० १ से १२३ मे आती है। वहाँ उसका नाम पुष्पिका के अनुसार 'ध्यानदीपिका चतुष्पदी' रखा है, परतु ग्रन्थकार ने तो अन्तिम पद्य में 'ध्यानदीपिका' नामनिर्देश किया है। अत यहाँ यही नाम रखा गया है।

नही ले सकते उनके लिए उसके साररूप मे यह लिखी गई है। यह छः खण्डों मे विभक्त है। प्रथम खण्ड मे अनित्यत्व आदि बारह भावनाओ का, द्वितीय खण्ड मे सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और पाँच महाव्रतो का, तृतीय खण्ड में पाँच समिति, तीन गुप्ति और मोहविजय का, चतुर्थ खण्ड मे ध्यान और ध्येय का, पाँचवें खण्ड मे धर्मध्यान, शुक्लध्यान, पिण्डस्थ आदि ध्यान के चार प्रकार तथा यन्त्रो का और छठे खण्ड मे स्याद्वाद का निरूपण है।

प्रस्तुत कृति का आरम्भ दोहे से किया गया है। इसके पश्चात् ढाल और दोहा इस क्रम से अवशिष्ट भाग रचा गया है। भिन्न-भिन्न देशियो मे कुल ५८ ढाल है।

अन्त में राजहस के प्रसाद मे इसकी रचना करने का तथा कुम्भकरण नाम के मित्र के मग का उल्लेख आता है। कर्ता ने अन्तिम ढाल में रचना-वर्ष, ढालो की सख्या और खण्ड नही किन्तु अधिकार के रूप मे छ अधिकारो का निर्देश किया है। 'खण्ड' शब्द पुष्पिकाओ मे प्रयुक्त है।

योगप्रदीप

यह १४३ पद्यो मे रचित कृति[1] है। इसमें सरल सस्कृत भाषा मे योग-विषयक निरूपण है। इसका मुख्य विषय आत्मा है। उसके यथार्थ स्वरूप का इसमें निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें परमात्मा के साथ इसके शुद्ध और शाश्वत मिलन का मार्ग—परमपद की प्राप्ति का उपाय बतलाया है। इस कृति मे प्रसगोपात्त उन्मनीभाव, समरसता, रूपातीत ध्यान, सामायिक, शुक्ल ध्यान, अनाहत नाद, निराकार ध्यान इत्यादि बाते आती हैं। चिन्तन के अभाव से मन मानो नष्ट हो गया हो ऐसी उसकी अवस्था को उन्मनी कहते है।

इस ग्रन्थ के प्रणेता का नाम ज्ञात नही। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ-कार ने इसके प्रणयन में हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्र, शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव तथा

---

१. यह कृति श्री जीतमुनि ने सम्पादित की थी और जोधपुर से वीर सवत् २४४८ में प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार प० हीरालाल हसराज सम्पादित यह कृति सन् १९११ मे प्रकाशित हुई है। 'जैन साहित्य विकास मडल' ने यह ग्रन्थ अज्ञातकर्तृक बालावबोध, गुजराती अनुवाद और विशिष्ट शब्दो की सूची के साथ सन् १९६० में प्रकाशित किया है। इसमे कोई-कोई पद्य अशुद्ध देखा जाता है, अन्यथा मुद्रण आदि प्रशसनीय है।

किसी-किसी उपनिषद् का उपयोग किया होगा। एक अज्ञातकर्तृक योगसार के साथ इसका अमुक अश मे साम्य है, ऐसा कहा जाता है।

नेमिदासरचित 'पचपरमेष्ठीमत्रराजध्यानमाला' मे योगशास्त्र और पतजलिकृत योगसूत्र के साथ इसका उल्लेख आने से उस जमाने मे प्रस्तुत कृति प्रचलित होगी, यह अनुमान होता है।

बालावबोध—इस कृति पर किसी ने पुरानी गुजराती मे बालावबोध लिखा है। भाषा के अभ्यासियों के लिए यह एक अवलोकनीय साधन है।[1]

झाणज्झयण अथवा झाणसय :

इसके सस्कृत नाम ध्यानाध्ययन और ध्यानशत[2] है। हरिभद्रसूरि ने इसका ध्यानशतक नाम से निर्देश किया है। मैंने जो हस्तप्रतियाँ देखी है उनमे १०६ गाथाएँ है, जबकि इसकी मुद्रित आवृत्तियो मे १०५ गाथाएँ है। अतएव सर्वप्रथम १०६ ठी गाथा DCGCM (Vol XVII, pt 3, p 416) के अनुसार यहाँ उद्धृत की जाती है

पचुत्तरेण गाहासएण झाणस्स यं (ज) समक्खाय।
जिणभद्दखमासमर्णेहि कम्मविसोहीकरण जइणो ॥१०६॥

इस प्रकार यहाँ पर प्रस्तुत कृति की १०६ गाथाएँ होने का सूचन है। साथ ही इसके कर्ता जिनभद्र क्षमाश्रमण है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। ये जिनभद्र विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता प्रतीत होते हैं, क्योकि इसपर हरिभद्रसूरि ने जो टीका लिखी है उसमे उन्होने इस कृति को शास्त्रान्तर और महान् अर्थवाली कहा है। वह उल्लेख इस प्रकार है

---

१ प्रस्तुत कृति का गुजराती मे अनुवाद भी हुआ है।

२. यह कृति आवस्सयनिज्जुत्ति और हारिभद्रीय शिष्यहिता नाम की टीका के साथ आगमोदय समिति ने चार भागो मे प्रकाशित की है। उसके पूर्वभाग (पत्र ५८२ अ–६११ अ) मे आवस्सय की इस निर्युक्ति की गा० १२७१ के पश्चात् ये १०५ गाथाएँ आती है। यह झाणज्झयण हारिभद्रीय टीका तथा मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत टिप्पनक के साथ 'विनय-भक्ति-सुन्दर-चरण ग्रन्थमाला' के तृतीय पुष्परूप से वि० स० १९९७ में प्रकाशित हुआ है और उसमे इसके कर्ता जिनभद्र कहे गये है। इस कृति की स्वतत्र हस्तप्रति मिलती है।

'ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद् वस्तुत शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह ।'

हरिभद्रसूरि ने अथवा उनकी शिष्यहिता के टिप्पनकार ने इस कृति के कर्ता कौन हैं यह नही लिखा। यह आवश्यक की निर्युक्ति के एक भागरूप (प्रतिक्रमणनिर्युक्ति के पश्चात्) है, अत इसके कर्ता निर्युक्तिकार भद्रबाहु हैं ऐसी कल्पना हो सकती है और प० दलसुखभाई मालवणिया तो वैसा मानने के लिए प्रेरित भी हुए हैं।[1] इस तरह प्रस्तुत कृति के कर्ता के रूप मे कोई जिनभद्र क्षमाश्रमण का, तो कोई भद्रबाहु स्वामी का निर्देश करते हैं। प्रथम पक्ष मान्य रखने पर क्षमाश्रमण के सत्ता-समय का विचार करना चाहिये। विचारश्रेणी के अनुसार जिनभद्र का स्वर्गवास वीर-सवत् ११२० में अर्थात् वि० स० ६५० मे हुआ था, परन्तु धर्मसागरीय पट्टावली के अनुसार वह वि० स० ७०५ से ७१० के बीच माना जाता है। विशेषावश्यक की एक हस्तप्रति में शकसवत् ५३१ अर्थात् वि० स० ६६६ का उल्लेख है। इस परिस्थिति मे प्रस्तुत कृति की पूर्व-सीमा आवश्यक-निर्युक्ति के आस-पास का समय तथा उत्तरसीमा जिनभद्र के वि० स० ६५० में हुए स्वर्गवास का समय माना जा सकता है। यहाँ पर इस कृति के कर्ता और उसके समय के बारे मे इससे अधिक कुछ नही कहा जा सकता।

हाँ, इसमे आनेवाले विषय के बारे मे कुछ कहना अवसरप्राप्त है। इसकी आद्य गाथा मे महावीर स्वामी को प्रणाम किया गया है। ऐसा करते समय उनको जोगीसर (योगीश्वर) कहा गया है। इससे पहले किसी ग्रन्थकार ने क्या ऐसा कहा है ?

प्रस्तुत कृति का विषय ध्यान का निरूपण है। दूसरी गाथा में ध्यान का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि स्थिर अध्यवसाय ही ध्यान है, जो चल—अनवस्थित है वह चित्त है और इस चित्त के ओघदृष्टि से भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता ये तीन प्रकार है।

इसके अनन्तर निम्नाकित बातो का निरूपण है छद्मस्थ के ध्यान के समय के रूप मे अन्तर्मुहूर्त्त का उल्लेख, योगो का अर्थात् कायिक आदि प्रवृत्तियो का निरोध ही जिनो का—केवलज्ञानियो का ध्यान-काल, ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म्य (धर्म) और शुक्ल—ये चार प्रकार तथा उनके फल, आर्तध्यान के चार

१. देखिए—गणधरवाद की प्रस्तावना, पृ० ४५

भेदो का स्वरूप, आर्तध्यान के राग, द्वेष और मोह ये तीन बीज, आर्तध्यान करनेवाले की लेश्या और उसके लिंग, रौद्र ध्यान के चार भेद, रौद्र ध्यान करनेवाले की लेश्या और उसके लिंग, धर्म्य (धर्म) ध्यान को लक्ष्य मे रखकर ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना और वैराग्यभावना—इन चार भावनाओ का स्वरूप, ध्यान से सम्बद्ध देश, काल, आसन और आलम्बन, धर्म्य (धर्म) ध्यान के चार भेद, उसके तथा शुक्लध्यान के चार भेदो में से आद्य दो भेदो के ध्याता, धर्म्य ध्यान के पश्चात् की जानेवाली अनुप्रेक्षा अर्थात् भावना, धर्म्य ध्यान करनेवाले की लेश्या और उसके लिंग; शुक्ल ध्यान के लिए आलम्बन, केवलज्ञानियो द्वारा किए जाते योग-निरोध की विधि, शुक्ल ध्यान में ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या और लिंग, धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान के फल और १०५वी गाथा द्वारा उपसहार।

टीका—झाणज्झयण पर समभावी हरिभद्रसूरि ने जो टीका लिखी है उससे पहले (पत्र ५८१ आ में) ध्यान के बारे मे सक्षिप्त जानकारी दी है। इसके पश्चात् १०५ गाथाओ पर अपनी टीका लिखी है और वह प्रकाशित भी हुई है। इसका टिप्पण भी छपा है। इसपर एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

ध्यानविचार :

इसकी[1] एक हस्तप्रति पाटन के किसी भण्डार मे है। गद्यात्मक वह सस्कृत कृति ध्यान-मार्ग के चौबीस प्रकार, चिन्ता, भावना-ध्यान, अनुप्रेक्षा, भवनयोग और करणयोग जैसे विविध विषयो पर प्रकाश डालती है। यह प्रत्येक

---

१ यह कृति 'जैन साहित्य विकास मडल' की ओर से सन् १९६१ में प्रकाशित 'नमस्कारस्वाध्याय' (प्राकृत विभाग) के पृ० २२५ से २६० मे गुजराती अनुवाद, सन्तुलना आदि के लिए टिप्पण और सात परिशिष्टो के साथ छपी है। यह प्राकृत विभाग जब छप रहा था उसी समय यह समग्र रचना इसी सस्था ने सन् १९६० मे स्वतत्र पुस्तिका के रूप मे आरम्भ मे देह-षट्कोणयन्त्र (भारतीय यन्त्र) और अन्त मे दो यत्रचित्रो के साथ प्रकाशित की है। इनमे से प्रथम यत्रचित्र चौबीस तीर्थंकरो की माताएँ अपने तीर्थंकर बननेवाले पुत्र की ओर देखती है उससे सम्बन्धित है, जबकि दूसरा ध्यान के बीसवे प्रकार 'परममात्रा' का चौबीस वलयो के सहित आलेखन है। यह यत्रचित्र तो उपर्युक्त नमस्कारस्वाध्याय मे भी है।

विषय कम-ज्यादा विस्तार से इस कृति मे निरूपित हुआ है। इनका यहाँ क्रमश विचार किया जाता है।

ध्यानमार्ग के चौवीस प्रकारो के नाम दो हिस्सो मे निम्नाकित हैं १ ध्यान, २ शून्य, ३ कला, ४ ज्योति, ५ बिन्दु, ६ नाद, ७ तारा, ८ लय, ९ लव, १० मात्रा, ११ पद और १२ सिद्धि।

इन वारहो के साथ प्रारम्भ मे 'परम' शब्द लगाने पर दूसरे बारह प्रकार होते है, जैसे—परम ध्यान, परम शून्य आदि। दोनो नामो का जोड लगाने पर कुल २४ होते है। इन चौबीस प्रकारो का स्वरूप समझाते समय शून्य के द्रव्य-शून्य और भावशून्य ऐसे दो भेद करके द्रव्यशून्य के बारह प्रभेद अवतरण द्वारा गिनाये है, जैसे—क्षिप्त चित्त, दीप्त चित्त इत्यादि। कला से लेकर पद तक के नवो के भी द्रव्य और भाव से दो-दो प्रकार किये है। भावकला के बारे मे पुण्य-(प्य) मित्र का दृष्टान्त दिया है। परमबिन्दु के स्पष्टीकरण में ११ गुणश्रेणी गिनाई है। द्रव्यलय अर्थात् वज्रलेप[1] इत्यादि द्रव्य द्वारा वस्तुओ का सश्लेष होता है ऐसा कहा है।

ध्यान के २४ प्रकारो को करण के ९६ प्रकारो से गुनने पर २३०४ होते हैं। इसे ९६ करणयोगो से गुनने पर २, २१, १८४ भेद होते है। इसी प्रकार उपर्युक्त २३०४ को ९६ भवनयोगो से गुनने पर २, २१, १८४ भेद होते है। इन दोनो की जोड ४, ४२, ३६८ है।

परमलव यानी उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी।[2] परममात्रा अर्थात् चौबीस वलयो द्वारा वेष्टित आत्मा का ध्यान। ऐसा कहकर प्रथम वलय के रूप मे शुभाक्षर वलय से आरम्भ करके अन्तिम ९६ करणविषयक वलयो का उल्लेख अमुक के स्पष्टीकरण के साथ किया गया है।

चिन्ता के दो प्रकार और प्रथम प्रकार के दो उपप्रकार बतलाये है। योगारूढ होनेवाले के अभ्यास के ज्ञानभावना आदि चार प्रकार और उनके उपप्रकार, भवनयोगादि के योग, वीर्य आदि आठ प्रकार, उनके तीन-तीन उपप्रकार और उनके प्रणिधान आदि चार-चार भेद—इस प्रकार कुल मिलाकर ९६ भेद, प्रणिधान आदि को समझाने के लिए अनुक्रम से प्रसन्नचन्द्र, भरतेश्वर, दमदन्त

---

१ वृहत्सहिता मे इसका वर्णन है। विशेष के लिए देखिए—सानुवाद वस्तु-सारप्रकरण (वत्थुसारपयरण) के पृ १४७-४८

२ इसके लिए देखिए—लेखक का कर्मसिद्धान्तसम्बन्धी साहित्य, पृ० ९५

और पुण्यभूति के दृष्टान्तो का उल्लेख, भवनयोग और करणयोग का स्पष्टीकरण, ९६ (१२ × ८) करण, छद्मस्थ के ध्यान के ४, ४२, ३६८ प्रकार और योग के २९० आलम्बनो के बारे मे इस कृति मे निर्देश है।

मरुदेवा की भाँति जो योग सहज भाव से होते है, वे भवनयोग और ये ही योग उपयोगपूर्वक किये जाते है तब करणयोग कहे जाते हैं।

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १९९) मे एक अज्ञातकर्तृक ध्यानविचार का उल्लेख है। वह यही कृति है या दूसरी, यह तो उसकी हस्तप्रति देखने पर ही कहा जा सकता है।

ध्यानदण्डकस्तुति :

वज्रसेनसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि ने जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १०६), के उल्लेखानुसार वि० स० १४४७ मे 'गुणस्थानक्रमारोह' लिखा है।[1] उसके श्लो० ५२ की स्वोपज्ञ वृत्ति (पत्र ३७) मे ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए और श्लो० ५४ की वृत्ति (पत्र ३८) में प्राणायाम का स्पष्टीकरण करते समय ध्यान-दण्डकस्तुति का उल्लेख करके उसमे से निम्नलिखित एक-एक श्लोक उद्धृत किया है

नासावशाग्रभागास्थितनयनयुगो मुक्तताराप्रचार
शेषाक्षक्षीणवृत्तिस्त्रिभुवनविवरोद्भ्रान्तयोगैकचक्षु ।
पर्यङ्कातङ्कशून्य. परिकलितघनोच्छ्वासनिश्वासवात
स ध्यानारूमूर्ढतिश्चिरमवतु जिनो जन्मसम्भूतिभीते ॥

सकोच्यापानरन्ध्र हुतवहसदृशं तन्तुवत् सूक्ष्मरूप
धृत्वा हृत्पद्मकोशे तदनु च गलके तालुनि प्राणशक्तिम् ।
नीत्वा शून्यातिशून्या पुनरपि खगति दीप्यमाना समन्तात्
लोकालोकावलोका कलयति स कला यस्य तुष्टो जिनेश ॥

इन दोनो उद्धरणो पर विचार करने से नीचे की बाते ज्ञात होती हैं

प्रस्तुत कृति सस्कृत मे है। वह पद्यात्मक होगी। यह जिनेश्वर की स्तुति-रूप है, अत यह जैन रचना है। इसका मुख्य विषय ध्यान का निरूपण है।

---

१. यह ग्रन्थ भिन्न-भिन्न सस्थाओं की ओर प्रकाशित हुआ है। इसका विशेष परिचय आगे आएगा।

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १९९) मे ध्यानविषयक जिन कृतियो का निर्देश है उनमे से ध्यानविचार एव ध्यानशतक पर विचार किया गया। अब अवशिष्ट कृतियो के बारे मे किञ्चित् विचार किया जाता है।

ध्यानचतुष्टयविचार

इसके नाम के अनुसार इसमे आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान के चार प्रकारो का निरूपण होना चाहिए।

ध्यानदीपिका

यह सकलचन्द्र ने वि० स० १६२१ मे रची है।

ध्यानमाला :

यह नेमिदास की कृति है।

ध्यानसार

इस नाम की दो कृतियाँ है। एक के कर्ता यश कीर्ति है, दूसरे के कर्ता का नाम अज्ञात है।

ध्यानस्तव

यह भास्करनन्दी की सस्कृत रचना है।

ध्यानस्वरूप

इसमे भावविजय ने वि० स० १६९६ मे ध्यान का स्वरूप निरूपित किया है।

अनुप्रेक्षा .

इसे भावना भी कहते है। इसका निरूपण श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ने प्राकृत, सस्कृत, कन्नड, गुजराती आदि भाषाओ मे एक या दूसरे रूप से किया है। मरणसमाहि नामक प्रकीर्णक (श्वेताम्बरीय आगम) मे अनुप्रेक्षा से सम्बन्धित ७० गाथाएँ है।

१ बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)

दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्द की इस कृति[1] मे ९१ गाथाएँ है। इसके नाम से सूचित निम्नलिखित बारह अनुप्रेक्षाओ का इसमे निरूपण आता है

१. यह 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' मे वि० स० १९७७ मे प्रकाशित हुई है।

१. अध्रुवत्व, २. अशरणत्व, ३ एकत्व, ४ अन्यत्व, ५ ससार, ६. लोक, ७ अशुचित्व, ८ आश्रव, ९ सवर, १०. निर्जरा, ११. धर्म और १२. बोधिदुर्लभता।

इस विषय का निरूपण वट्टकेर ने मूलाचार (प्रक० ८) मे और शिवार्य (शिवकोटि) ने भगवती आराधना मे किया है। धवल ने अपभ्रश मे रचित अपने हरिवशपुराण मे, सिंहनन्दी ने अनुप्रेक्षा के बारे मे कोई रचना की थी, ऐसा कहा है।

२ बारसानुवेक्खा अथवा कार्तिकेयानुप्रेक्षा

कार्तिकेय (अपर नाम कुमार) रचित इस कृति[1] मे ४८९ गाथाएँ है। इसमे उपर्युक्त बारह अनुप्रेक्षाओ का विस्तृत विवेचन किया गया है।

टीका—मूलसघ के विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र ने वि० स० १६१३ मे यह टीका लिखी है।

३ द्वादशानुप्रेक्षा

इस नाम की तीन सस्कृत कृतियाँ है १. सोमदेवकृत, २ कल्याणकीर्तिकृत और ३ अज्ञातकर्तृक।

द्वादशभावना

इस नाम की एक अज्ञातकर्तृक रचना का परिमाण ६८३ श्लोक है।

द्वादशभावनाकुलक

यह भी एक अज्ञातकर्तृक रचना है।

शान्तसुधारस

गीतगोविन्द जैसे इस गेय काव्य[2] के प्रणेता वैयाकरण विनयविजयगणी हैं।

---

१ यह नाथारग गाँधी ने प्रकाशित की है। इसके अलावा 'सुलभ जैन ग्रन्थमाला' मे भी सन् १९२१ मे यह प्रकाशित हुई है।

२. यह कृति प्रकरणरत्नाकर (भा० २) मे तथा सन् १९२४ मे श्रुतज्ञानअमीधारा मे प्रकाशित हुई है। जैनधर्म प्रसारक सभा ने गम्भीरविजयगणीकृत टीका के साथ यह कृति वि० स० १९६९ मे प्रकाशित की थी। इसके अतिरिक्त इसी सभा ने मोतीचन्द गिरधरलाल कापडिया के अनुवाद एव विवेचन के साथ यह कृति दो भागो मे क्रमश सन् १९३६ और १९३७ मे प्रकाशित की है। इस पर म० कि० महेता ने भी अर्थ और विवेचन लिखा है।

इन्होने गन्धपुर (गान्धार) नगर मे २३४ श्लोको मे यह कृति वि० स० १७२३ में लिखी है। इसमें इन्होने बारह भावनाओ के अतिरिक्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओ को भी स्थान दिया है।

टीका—गम्भीरविजयजी ने तथा किसी तेरापथी ने भी प्रस्तुत कृति पर एक-एक टीका सस्कृत मे लिखी है।

अनुवाद और विवेचन—मूल के अनुवाद और विवेचन लिखे गये है और वे छपे भी है।

१. समाधितन्त्र :

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ४२१) मे यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा ऐसा उल्लेख आता है। इसपर दो टीकाएँ लिखी गई हैं १ पर्वतधर्म-रचित और २. नाथुलालकृत। ये दोनो टीकाएँ तथा मूल अप्रकाशित ज्ञात होते है, अत इस विषय मे सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि इसमे समाधि के बारे में निरूपण होना चाहिए।

२ समाधितन्त्र अथवा समाधिशतक

यह[1] दिगम्बराचार्य पूज्यपाद की १०५ पद्यो की रचना है। इसका 'समाधिशतक' नाम १०५ वें पद्य मे आता है। डा० पी० एल० वैद्य के मत से यह पद्य तथा पद्यसख्या २, ३, १०३ और १०४ प्रक्षिप्त है। इस कृति मे आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदो पर प्रकाश डाला गया है।

---

१ यह कृति 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' मे सन् १९०५ में प्रकाशित हुई है। फतेचन्द देहली ने यही कृति दिल्ली से अन्वयार्थ और हिन्दी भावार्थ के साथ वि० स० १९७८ मे छपवाई है। इसके पहले अग्रेजी अनुवाद के साथ एम० एन० द्विवेदी ने अहमदाबाद से सन् १८९५ मे यह कृति छपवाई थी। मराठी अनुवाद के साथ इसकी द्वितीय आवृत्ति सोलापुर के आर० एन० शाह ने सन् १९४० मे प्रकाशित की है।

प्रस्तुत कृति पर दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रकृत टोका है। उसका तथा मूल का अनुवाद मणिलाल नभुभाई द्विवेदी ने किया है। वह एक ग्रन्थ के रूप मे 'समाधिशतक' नाम से 'वडोदरा देवी केलवणी खातु' की ओर से सन् १८९१ मे प्रकाशित हुआ है।

चार विवरण—प्रस्तुत कृति पर तीन टीकाएँ और एक वृत्ति इस प्रकार कुल चार विवरण लिखे गये हैं। टीकाकारो के नाम अनुक्रम से प्रभाचन्द्र, पर्वतधर्म और यशश्चन्द्र हैं। वृत्तिकार का नाम मेघचन्द्र है।

प्रस्तुत कृति सब धर्मो के अनुयायियो के लिये और विशेषत जैनों के लिये उपयोगी होने से न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी[1] ने इसके उद्धरणरूप १०४ दोहों मे गुजराती मे 'समाधिशतक'[2] नामक ग्रन्थ लिखा है।

समाधिद्वात्रिंशिका .

यह अज्ञातकर्तृक कृति है। इसमे बत्तीस पद्य हैं।

समताकुलक

यह भी अज्ञातकर्तृक कृति है। यह सभवत- प्राकृत में है।

साम्यशतक

यह विजयसिंहसूरि की १०६ श्लोको में रचित कृति[3] है। ये 'चन्द्र' कुल के अभयदेवसूरि के शिष्य थे।

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ३२१–२२) में 'योग' शब्द से प्रारम्भ होनेवाली कुछ कृतियो का निर्देश है। उनमे से निम्नलिखित कृतियो के रचयिताओं के नाम नही दिये गये हैं। अत यथेष्ठ साधनो के अभाव मे उन नामो का निर्धारण करना शक्य नही है। इन कृतियो के नाम इस प्रकार है

योगदृष्टिस्वाध्यायसूत्र, योगभक्ति, योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका[4], योगरत्नसमुच्चय[5], योगरत्नावली, योगविवेकद्वात्रिंशिका, योगसकथा, योगसग्रह, योगसंग्रहसार, योगानुशासन[6] और योगावतारद्वात्रिंशिका।

---

१ इन्होने वैराग्यकल्पलता (स्तबक १, श्लो० १२७ से २५९) में समाधि का विस्तृत निरूपण किया है। हिन्दी मे भी १०५ दोहों मे इन्होने समताशतक अथवा साम्यशतक लिखा है।

२. इसका परिचय यशोदोहन (पृ० २९५–९७) में दिया है।

३ यह पुस्तक ए० एम० एण्ड कम्पनी ने बम्बई से सन् १९१८ मे प्रकाशित की है।

४ इसमे योग का प्रभाव ३२ या उससे एकाध अधिक पद्यों में बतलाया होगा।

५ इसका श्लोक-परिमाण ४५० है।

६ यह ग्रन्थ १५०० श्लोक-परिमाण है।

योगविषयक अधोलिखित तेरह कृतियाँ भी उल्लेखनीय है

१ योगकल्पद्रुम—४१५ श्लोक-परिमाण की अज्ञातकर्तृक इस कृति मे से एक उद्धरण पत्तनस्थ जैन भाण्डागारीय ग्रन्थसूची (भा० १, पृ० १८६) मे दिया गया है।

२ योगतरगिणी—इस पर जिनदत्तसूरि ने टीका लिखी है।

३ योगदीपिका—इसके कर्ता आशाधर है।

४ योगभेदद्वात्रिंशिका—इसकी रचना परमानन्द ने की है।

५ योगमार्ग—यह सोमदेव की कृति है।

६ योगरत्नाकर—यह जयकीर्ति की रचना है।

७ योगलक्षणद्वात्रिंशिका—इसके प्रणेता का नाम परमानन्द है।

८ योगविवरण—यह यादवसूरि की रचना है।

९ योगसग्रहसार—इसके कर्ता जिनचद्र है। इस नाम की एक अज्ञातकर्तृक कृति का उल्लेख पूर्व मे किया गया है।

१० योगसग्रहसारप्रक्रिया अथवा अध्यात्मपद्धति—नन्दीगुरु की इस कृति मे से पत्तन-सूची (भा० १, पृ० ५६) मे उद्धरण दिये गये है।

११ योगसार—यह गुरुदास की रचना है।

१२ योगाग—४५०० श्लोक-परिमाण इन ग्रन्थ के प्रणेता शान्तरस है। इसमे योग के अगो का निरूपण होगा।

१३ योगामृत—यह वीरसेनदेव की कृति है।

अध्यात्मकल्पद्रुम :

इस पद्यात्मक कृति[१] के प्रणेता 'सहस्रावधानी' मुनिसुन्दरसूरि है। यह निम्न-सोलह अधिकारों में विभक्त है
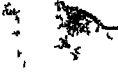
... में सन् १८८४ मे प्रकाशित हुआ है। यही ग्रन्थ ... अधिरोहिणी नाम की इसकी टीका के आधार पर योजित ... पारिभाषिक शब्दो के स्पष्टीकरणात्मक परिशिष्टों के ... निर्णयसागर मुद्रणालय की ओर से प्रकाशित हुआ ... मूल कृति धनविजयगणी की उपर्युक्त टीका के ... तथा जमनाभाई भगुभाई ने वि० स० १९७१

१ समता, २. स्त्रीममत्वलोचन, ३ अपत्यममत्वमोचन, ४ धनममत्व-मोचन, ५. देहममत्वमोचन, ६. विपयप्रमादत्याग, ७ कपायत्याग, ८ शास्त्राभ्यास, ९. मनोनिग्रह, १० वैराग्योपदेश, ११ धर्मशुद्धि, १२. गुरुशुद्धि, १३ यतिशिक्षा, १४ मिथ्यात्वादिनिरोध, १५. शुभवृत्ति और १६. साम्य-स्वरूप ।

ये सब शीर्षक अधिकारो में आनेवाले विपयो के बोधक है ।

यह कृति शान्तरम से अनुप्लावित है । यह मुमुक्षुओ को ममता के परित्याग, कपायादि के निवारण, मनोविजय, वैराग्य पथ के अनुरागी वनने तथा समता एव साम्य का सेवन करने का उपदेश देती है ।

पौर्वापर्य—उपदेशरत्नाकर के स्वोपज्ञ विवरण में अध्यात्मकल्पद्रुम में से कतिपय पद्य उद्धृत किये गये है । इस दृष्टि से अध्यात्मकल्पद्रुम इस विवरण की अपेक्षा प्राचीन समझा जा सकता है । रत्नचन्द्रगणी के कथनानुसार गुर्वावली की रचना अध्यात्मकल्पद्रुम से पहले हुई है ।

विवरण—प्रस्तुत कृति पर तीन विवरण हैं

१. धनविजयगणीकृत अधिरोहिणी ।

२ सूरत मे वि० स० १६२४ मे रत्नसूरिरचित अध्यात्मकल्पलता ।

३ उपाध्याय विद्यासागरकृत टीका ।

इनमें से पूर्व के दो ही विवरण प्रकाशित जान पडते है ।

बालावबोध—उपर्युक्त अध्यात्मकल्पलता के आधार पर हसरत्न ने अध्यात्म-कल्पद्रुम पर एक बालावबोध लिखा था । जीवविजय ने भी वि० स० १७८० में एक बालावबोध रचा था ।

में छपवाई थी । इसी टीका, रत्नचन्द्रगणीकृत अध्यात्मकल्पलता नाम की अन्य टीका, मूल का रगविलास द्वारा चौपाई मे किया गया अध्यात्मरास नामक अनुवाद तथा मो० द० देसाई के विस्तृत उपोद्घात के साथ 'देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था' ने सन् १९४० मे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया है । 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने मूल की, उसके मो० गि० कापडियाकृत गुजराती अनुवाद और भावार्थ तथा उपर्युक्त अध्यात्म-रास के साथ द्वितीय आवृत्ति सन् १९११ मे प्रकाशित की थी । प्रकरण-रत्नाकर (भा० २) मे मूल कृति हसरत्न के बालावबोध के साथ सन् १९०३ मे प्रकाशित की गई थी ।

अध्यात्मसार ·

यह पद्यात्मक कृति रंगविलास ने लिखी है। यह प्रकाशित है।

अध्यात्मसार।

यह न्यायाचार्य यशोविजयगणी की अध्यात्म-विषयक संस्कृत रचना[1] है। यह सात प्रबन्धो में विभक्त है। इन प्रबन्धो में क्रमश ४, ३, ४, ३, ३, २ और २ इस प्रकार कुल २१ अधिकार आते हैं। यह कृति १३०० श्लोक-परिमाण है। इसमें कुल ९४९ पद्य हैं।

विषय—२१ अधिकारो के विषय प्रबन्धानुसार अनुक्रम से इस प्रकार हैं :

प्रबन्ध १—अध्यात्मशास्त्र का माहात्म्य, अध्यात्म का स्वरूप, दम्भ का त्याग और भव का स्वरूप।

प्रबन्ध २—वैराग्य का सम्भव, उसके भेद और वैराग्य का विषय।

प्रबन्ध ३—ममता का त्याग, समता, सदनुष्ठान और चित्तशुद्धि।

प्रबन्ध ४—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व का त्याग तथा असद्ग्रह अथवा कदाग्रह का त्याग।

प्रबन्ध ५—योग, ध्यान और ध्यान (स्तुति)।

प्रबन्ध ६—आत्मा का निश्चय।

प्रबन्ध ७—जिनमत की स्तुति, अनुभव और सज्जनता।

प्रथम प्रबन्ध के अध्यात्मस्वरूप नामक द्वितीय अधिकार में एक-एक से

---

१. इस कृति को जैनशास्त्रकथासंग्रह (सन् १८८४ में प्रकाशित) की द्वितीय आवृत्ति में स्थान मिला है। यही कृति प्रकरणरत्नाकर (भा० २) में वीरविजय के टब्बे के साथ सन् १९०३ में प्रकाशित की गई थी। नरोत्तम भाणजी ने यह मूल कृति गम्भीरविजयगणी की टीका के साथ वि० सं० १९५२ में छपवाई थी। उन्होंने मूल उपर्युक्त टीका तथा मूल के गुजराती अनुवाद के साथ सन् १९१६ में छपवाया था। "जैनधर्म प्रसारक सभा' की ओर से मूल कृति उपर्युक्त टीका के साथ प्रकाशित की गई थी। यही मूल कृति अध्यात्मोपनिषद् और ज्ञानसार के साथ नगीनदास करमचन्द ने 'अध्यात्मसार-अध्यात्मोपनिषद्-ज्ञानसार-प्रकरणत्रयी' नाम से वि० सं० १९९४ में प्रकाशित की है।

अधिक निर्जरा करने वालो के बीस वर्गो का उल्लेख किया गया है ।[१] इसी प्रबन्ध के चौथे अधिकार में संसार को समुद्र इत्यादि विविध उपमाएँ दी गई हैं ।

टीका—गम्भीरविजयगणी ने वि० स० १९५२ मे इस पर टीका लिखी है और वह प्रकाशित भी हुई है । इसमे कही-कही त्रुटि देखी जाती है ।

टब्बा—इसके कर्ता वीरविजय है । यह भी छपा है ।

अध्यात्मोपनिषद् :

यह भी न्यायाचार्य यशोविजयगणी की कृति है ।[२] यह चार विभागो में विभक्त है और उनकी पद्य-सख्या अनुक्रम से ७७, ६५, ४४ और २३ है । इस प्रकार इसमे कुल २०३ पद्य हैं । इनमें से अधिकाश पद्य अनुष्टुप् मे है ।

विषय—प्रत्येक अधिकार का नाम अन्वर्थ है । वे नाम हैं : शास्त्रयोगशुद्धि, ज्ञानयोगशुद्धि, क्रियायोगशुद्धि और साम्ययोगशुद्धि ।

प्रारम्भ मे एवम्भूत नय के आधार पर अध्यात्म का अर्थ दिया गया है। ये अर्थ निम्नानुसार हैं .

१ आत्मा का ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार इन पाँच आचारो में विहरण 'अध्यात्म' है ।

२. बाह्य व्यवहार से महत्त्व प्राप्त चित्त को मैत्री आदि चार भावनाओं से वासित करना 'अध्यात्म' है ।

प्रस्तुत कृति के विषयो की विशेष जानकारी 'यशोदोहन' नामक ग्रन्थ (पृ० २७९-८०) मे दी गई है । साथ ही ज्ञानसार (पृ० २८०) मे, वैराग्य-कल्पलता (प्रथम स्तबक, पृ० २८१) में तथा वीतरागस्तोत्र (प्रक० ८) मे प्रस्तुत कृति के जो पद्य देखे जाते है उसका भी निर्देश किया गया है ।

---

१ इस विषय का निरूपण आचाराग (श्रु० १, अ० ४) और उसकी निर्युक्ति (गा० २२२–२३) की टीका (पत्र १६० आ) में शीलाकसूरि ने किया है ।

२. यह कृति 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने वि० स० १९६५ मे प्रकाशित की थी । उसके बाद 'श्री श्रुतज्ञान अमीधारा' के पृ० ४७ से ५७ मे यह सन् १९३६ मे छपी है । यह अध्यात्मसार और ज्ञानसार के साथ भी प्रकाशित हुई है ।

१ अध्यात्मबिन्दु :

इस नाम का एक ग्रन्थ न्यायाचार्य यशोविजयगणी ने लिखा था ऐसा कुछ लोगो का कहना है, परन्तु ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नही मिलता।

२ अध्यात्मबिन्दु :

यह उपाध्याय हर्षवर्धन की कृति है। इसमें ३२ श्लोक हैं। इसलिए इसे 'अध्यात्मबिन्दुद्वात्रिंशिका' भी कहते हैं। इसकी प्रशस्ति के आधार पर इसके कर्ता का नाम हसराज भी है, ऐसा प्रतीत होता है।[1]

अध्यात्मोपदेश :

यह श्री यशोविजयगणी की कृति है ऐसा कई लोग मानते हैं, परन्तु इसके लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण अब तक किसी ने उपस्थित नही किया है।

अध्यात्मकमलमार्तण्ड :

यह दिगम्बर राजमल्ल कवि विरचित २०० श्लोक-परिमाण की कृति है।[2] इसके अतिरिक्त इन्होंने वि० स १६४१ में लाटी सहिता, पचाध्यायी[3] (अपूर्ण) तथा वि० स० १६३२ में जम्बूस्वामिचरित ये तीन कृतियां भी रची हैं। प्रस्तुत कृति चार परिच्छेदो में विभक्त है और उनमे क्रमशः १४, २५, ४२ और २० श्लोक आते है। इस प्रकार इसमे कुल १०१ श्लोक हैं। इसकी एक हस्तप्रति मे इनके अलावा ५ पद्य प्राकृत में और चार सस्कृत में हैं। हस्तप्रति के लेखक ने प्रशस्ति के दो श्लोक लिखे हैं।

---

१. इस कृति की स्वोपज्ञ विवरणसहित जो चार हस्तप्रतियाँ बम्बई सरकार के स्वामित्व की है उनका परिचय D C G C M (Vol XVIII, Pt, 1, pp 162-66) मे दिया गया है।

२ यह 'माणिकचद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' में वि० स० १९९३ मे प्रकाशित हुआ है। प्रारम्भ में इसी कवि का जम्बूस्वामिचरित आता है। अन्त मे अध्यात्मकमलमार्तण्ड से सम्बन्धित अधिक पद्य भी दिये गये हैं।

३. इसके प्रणेता ने इसे मगलाचरण में ग्रन्थराज कहा है। इसमें दो प्रकरण है। पहले मे ७७० श्लोको में द्रव्यसामान्य का और दूसरे मे द्रव्यविशेष का निरूपण है। यह कृति धर्म का बोध कराने का सुगम साधन है।

प्रथम परिच्छेद में मोक्ष और मोक्षमार्ग, द्वितीय मे द्रव्यसामान्य का लक्षण, तृतीय में द्रव्यविशेष और चतुर्थ मे जीवादि सात तत्त्वो एव नौ पदार्थों का निरूपण है।

अध्यात्मतरंगिणी :

इसके[1] रचयिता दिगम्बर सोमदेव है।

अध्यात्माष्टक

इसकी[2] रचना वादिराज ने की है।

अध्यात्मगीता :

यह[3] खरतरगच्छ के देवचन्द्र ने गुजराती में ४९ पद्यो में लिखी है। ये दीपचन्द्र के शिष्य और ध्यानदीपिका के प्रणेता है। जिनवाणी और जिनागम को प्रणाम करके इस ग्रन्थ में आत्मा का सातो नयो के अनुसार निरूपण किया है। आत्मा के स्वभाव, परभाव, सिद्धावस्था आदि बातो का भी इस लघु कृति में निरूपण किया गया है। विषय गहन है।

जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० ५-६) में अध्यात्म से शुरु होने वाली विविध कृतियो का उल्लेख है जो इस प्रकार है अध्यात्मभेद, अध्यात्म-कलिका, अध्यात्मपरीक्षा, अध्यात्मप्रदीप, अध्यात्मप्रबोध, अध्यात्मलिंग और अध्यात्मसारोद्धार।

इनमे से किसी के भी कर्ता का नाम जिनरत्नकोश मे नही दिया है, अत ये सब अज्ञातकर्तृक ही कही जा सकती है।

गुणस्थानक्रमारोह, गुणस्थानक अथवा गुणस्थानरत्नराशि :

इसकी[4] रचना रत्नशेखरसूरि ने वि० स० १४४७ मे की है। ये वज्रसेनसूरि

१-२ 'माणिकचद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' के ग्रन्थाक १३ के रूप मे वि० स० १९७५ मे ये प्रकाशित हुए है।

३ यह श्रीमद् देवचन्द्र (भा० २) के पृ० १८८-९५ मे प्रकाशित हुई है।

४ यह कृति स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ 'देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था' ने सन् १९१६ मे प्रकाशित की थी। मूल कृति और उसके गुजराती भावानुवाद को साराभाई जेसिंगभाई द्वारा वि० सं० २०१३ मे प्रकाशित 'श्री स्वाध्यायसन्दोह' में स्थान मिला है। 'जैनधर्म प्रसारक सभा' ने

के शिष्य थे। प्रस्तुत कृति में निम्नलिखित १४ गुणस्थानो का निरूपण आता है : १. मिथ्यादृष्टि, २ सास्वादन, ३ मिश्र (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि), ४ अविरत, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तसयत, ७ अप्रमत्त, ८. अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिबादर-सम्पराय, १०. सूक्ष्मसम्पराय, ११ उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगी-केवली और १४ अयोगी केवली।

स्वोपज्ञवृत्ति—इसमें (पत्र ३७-३८) ध्यानदण्डकस्तुति में से दो उद्धरण दिये है तथा चर्पटिन् की किसी कृति में से पांच उद्धरण दिये है (पत्र ४०-४१)।

अवचूरि—यह अज्ञातकर्तृक है।

बालावबोध—यह श्रीसार ने लिखा है।

गुणस्थानकनिरूपण :

इसके कर्ता हर्षवर्धन है। 'गुणस्थानस्वरूप' इसी कृति का अपर नाम प्रतीत होता है।

गुणस्थानक्रमारोह :

इस नाम की एक कृति जैसे रत्नशेखरसूरि ने रची है वैसे ही दूसरी कृति २००० श्लोक-परिमाण विमलसूरि ने तथा तीसरी जयशेखरसूरि ने रची है।

गुणस्थानद्वार

इसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

गुणट्ठाणकमारोह (गुणस्थानक्रमारोह) :

इसे जिनभद्रसूरि ने रचकर 'लोकनाल' नाम की वृत्ति से विभूषित किया है।

गुणट्ठाणमय (गुणस्थानशत) :

यह देवचन्द्र ने १०७ पद्यो में लिखी है।

गुणट्ठाणमग्गणट्ठाण (गुणस्थानमार्गणास्थान)

यह नेमिचन्द्र की रचना है।

मूल कृति तथा स्वोपज्ञ वृत्ति के अनुवाद के साथ वि० स० १९८९ में यह प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त मूल कृति हिन्दी श्लोकार्थ और हिन्दी व्याख्यार्थ के साथ 'श्री आत्म-तिलक ग्रथ सोसायटी' की ओर से वि० सं० १९७५ में प्रकाशित हुई है।

इनके अतिरिक्त गुणस्थानो के बारे मे दूसरी कई रचनाएँ गुजराती मे हुई है। उनके नाम आदि का विवरण 'कर्म-सिद्धान्तसम्बन्धी साहित्य' पृ० ९३-९४ मे दिया गया है।

ससारी आत्मा के अध पतन मे—उसकी अवनति मे आठो कर्मो मे से 'मोहनीय' कर्म प्रमुख है और उसका योग सबसे अधिक है। उसका सम्पूर्ण क्षय होने पर ससारी आत्मा सर्वज्ञत्व और आगे चलकर परम पद प्राप्त करता है—परमात्मा बनता है।

उपशमश्रेणिस्वरूप और क्षपकश्रेणिस्वरूप

इन दोनो की एक-एक हस्तप्रति अहमदाबाद के डहेला के भडार मे है।

खवग-सेढी (क्षपक-श्रेणि) :

क्षपक श्रेणी का स्वरूप प्रसगवशात् विविध प्राचीन ग्रन्थो मे बतलाया गया है। उसके आधार पर यह कृति[1] मुनि श्री गुणरत्नविजय ने प्राकृत मे २७१ गाथाओ मे रची है तथा उस पर १७२५० श्लोक-प्रमाण सस्कृत वृत्ति भी लिखी है।

ठिइ-बध (स्थिति-बध) .

मूलप्रकृति-स्थितिबन्ध[2] के मूलगाथाकार मुनि श्री वीरशेखरविजय है। इसकी सस्कृत टीका मुनि श्री जगच्चन्द्रविजय ने लिखी है। मूलग्रन्थ मे ८७६ गाथाएँ है। खवग-सेढी तथा ठिइ-बध एव उनकी टीकाओ के प्रेरक, मार्गदर्शक और सशोधक आचार्य विजयप्रेमसूरि है।

●

---

१. टीकासहित भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाडा ने सन् १९६६ मे प्रकाशित की है।

२. यह कृति भी टीकासहित वही से सन् १९६६ में प्रकाशित हुई है।

पंचम प्रकरण

अनगार और सागार का आचार

प्रशमरति :

यह तत्त्वार्थसूत्र आदि के कर्ता उमास्वाति की ३१३ 'श्लोको की कृति' है। सक्षिप्त, सुबोधक और मनमोहक यह कृति निम्नलिखित बाईस अधिकारो मे विभक्त है .

१ पीठबन्ध, २ कषाय, ३. राग आदि, ४. आठ कर्म, ५–६. करणार्थ, ७ आठ मदस्थान, ८. आचार, ९. भावना, १०. धर्म, ११ कथा, १२ जीव, १३ उपयोग, १४. भाव, १५. षट्विध द्रव्य, १६ चरण, १७. शीलाग, १८ ध्यान, १९ क्षपकश्रेणी, २० समुद्घात, २१. योगनिरोध और २२. शिवगमन-विधान और फल।

इसके १३५ वें श्लोक मे मुनियो के वस्त्र एवं पात्र के विषय मे निरूपण है। इसमे जीव आदि नौ तत्त्वो का निरूपण भी आता है।

प्रस्तुत कृति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता की है ऐसा सिद्धसेनगणी तथा हरिभद्रसूरि ने कहा है।

---

१. यह मूल कृति तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि के साथ 'बिब्लिओथिका इण्डिका' मे सन् १९०४ में तथा एक अज्ञातकर्तृक टीका के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा की ओर से वि० स० १९६६ मे प्रकाशित की गई है। एक अन्य अज्ञातकर्तृक टीका और ए० बेलिनी (A Ballini) के इटालियन अनुवाद के साथ प्रस्तुत कृति Journal of the Italian Asiatic Society (Vol XXV & XXIX) मे छपी है। देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने हारिभद्रीय वृत्ति एव अज्ञातकर्तृक अवचूर्णि के साथ यह कृति वि० स० १९९६ मे प्रकाशित की है। कर्पूरविजयजीकृत गुजराती अनुवाद आदि के साथ प्रस्तुत कृति जैनधर्म प्रसारक सभा ने वि० स० १९८८ मे छापी है।

टीकाएँ—१८०० श्लोक-परिमाण की एक टीका वि० स० ११८५ में हरिभद्रसूरि ने लिखी है। इसके अतिरिक्त दो अज्ञातकर्तृक टीकाएँ भी है, जिनमे से एक की हस्तलिखित प्रति १४९८ की मिलती है। हारिभद्रीय टीका की प्रशस्ति (श्लो० ३) से ज्ञात होता है कि उसके पहले भी दूसरी टीकाएँ लिखी गई थी और वे बडी थी। किसी ने इस पर अवचूर्णि भी लिखी है।[1]

पंचसुत्तय (पचसूत्रक) :

अज्ञातकर्तृक यह कृति[2] पाँच सूत्रो मे विभक्त है। इसके विषय अनुक्रम से इस प्रकार है :

१. पाप का प्रतिघात और गुण के बीच का आधान, २ श्रमणधर्म की परिभावना, ३ प्रव्रज्या ग्रहण करने की विधि, ४ प्रव्रज्या का पालन, ५ प्रव्रज्या का फल—मोक्ष।

प्रथम सूत्र मे अरिहन्त आदि चार शरण का स्वीकार और सुकृत की अनुमोदना को स्थान दिया गया है। दूसरे सूत्र मे अधर्म-मित्रो का त्याग, कल्याण-मित्रो का स्वीकार तथा लोकविरुद्ध आचरणो का परिहार इत्यादि बातें कही गई है। तीसरे सूत्र मे दीक्षा के लिये माता-पिता की अनुज्ञा कैसे प्राप्त करनी चाहिए यह दिखलाया है और चौथे सूत्र मे आठ प्रवचन-माता का पालन, भावचिकित्सा के लिए प्रयास तथा लोकसज्ञा का त्याग—इन बातो का निरूपण है। पाँचवें सूत्र मे मोक्ष के स्वरूप का वर्णन आता है।

टीकाएँ—हरिभद्रसूरि ने इस पर ८८० श्लोक-परिमाण की एक टीका लिखी है। इन्होने मूल कृति का नाम 'पचसूत्रक' लिखा है, जबकि न्यायाचार्य यशो-

---

१. प्रो० राजकुमार शास्त्री ने हिन्दी मे टीका लिखी है और वह मूल एव हारिभद्रीय टीका के साथ 'रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला' मे छपी है। विशेष जानकारी के लिये देखिए—लेखक की प्रशमरति और सम्बन्धकारिका, उत्थानिका, पृ० १२-५

२ यह गुजराती अनुवाद के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० स० १९७० मे प्रकाशित किया है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने अग्रेजी प्रस्तावनासहित सन् १९३४ मे छपवाया है।

विजयजी ने इसे 'पचसूत्री' कहा है। इसपर मुनिचन्द्रसूरि तथा किसी अज्ञात लेखक ने एक-एक अवचूरि लिखी है।[1]

मूलायार (मूलाचार) :

इसे[2] 'आचाराङ्ग' भी कहते है। इसके कर्ता वट्टकेर ने इसे बारह अध्यायो मे बाँटा है। इसमे सामायिक आदि छ आवश्यको का निरूपण है।

यह एक सग्रहात्मक कृति है। श्री परमानन्द शास्त्री के मत से इसके कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न है। इसके कर्ता वट्टकेर ने कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे से, आवश्यक की निर्युक्ति मे से, सन्मति प्रकरण मे से तथा शिवार्यकृत आराधना मे से गाथाएँ उद्धृत की है।[3]

टीकाएँ—इसपर १२,५०० श्लोक-परिमाण की 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की टीका वसुनन्दी ने लिखी है और वह प्रकाशित भी हो चुकी है। इस मूलाचार के ऊपर मेघचन्द्र ने भी टीका लिखी है।

१ पचनियठी (पचनिर्ग्रन्थी) :

यह हरिभद्रसूरि की रचना मानी जाती है, जो अबतक अप्राप्य है। नाम से ज्ञात होता है कि इसमे पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक—इन पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थो का अधिकार होगा।

२ पचनियठी (पचनिर्ग्रन्थी) :

यह[4] नवागीवृत्तिकार अभयदेवसूरि ने जैन महाराष्ट्री मे १०७ पद्यो मे लिखी है। इसे 'पचनिर्ग्रन्थीविचारसग्रहणी' भी कहते है। यह वियाहपण्णत्ति (शतक

---

१ प्रस्तुत कृति का गुजराती अनुवाद हुआ है और वह छपा भी है। हारिभद्रीय टीका के आधार पर मूल कृति का गुजराती विवेचन मुनि श्री भानुविजयजी ने किया है। यह विवेचन 'पचसूत्र याने उच्च प्रकाशना पथे' के नाम से 'विजयदानसूरीश्वर ग्रन्थमाला' मे वि० स० २००७ मे छपा है।

२ सर्वार्थसिद्धि टीका के साथ यह 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' मे छपा है।

३ देखिए—अनेकान्त, वर्ष २, पृ० ३१९-२४

४ अज्ञातकर्तृक अवचूरि के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० स० १९७४ मे प्रकाशित की है।

२५) के आधार पर आयोजित है। इसमे पुलाक, बकुश इत्यादि पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थो का निरूपण है।

पचवत्थुग (पचवस्तुक) :

यह हरिभद्रसूरि की जैन महाराष्ट्री मे रचित १७१४ पद्य की कृति[1] है। यह निम्नोक्त पाँच अधिकारो मे विभक्त है · १. प्रव्रज्या की विधि, २. प्रतिदिन की क्रिया, ३. व्रतो के विषय मे स्थापना, ४ अनुयोग और गण की अनुज्ञा और ५. सलेखना। इन पाँच वस्तुओ से सम्बद्ध पद्य-सख्या क्रमश २२८, ३८१, ३२१, ४३४ और ३५० है।

यह ग्रन्थ जैन श्रमणो के लिये विशेषरूप से मनन करने योग्य है। इसमें दीक्षा किसे, कब और कौन दे सकता है इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। द्वितीय वस्तु मे उपधि की प्रतिलेखना, उपाश्रय का प्रमार्जन, भिक्षा (गोचरी) की विधि, ईर्या-पथिकीपूर्वक कायोत्सर्ग, गोचरी की आलोचना, भोजन-पात्रो का प्रक्षालन, स्थण्डिल का विचार और उसकी भूमि तथा प्रतिक्रमण—इन सब का विचार किया गया है। चौथे अधिकार में 'थयपरिण्णा'[2] (स्तवपरिज्ञा), जोकि एक पाहुड माना जाता है, उद्धृत की गई है। यह इस ग्रन्थ की महत्ता में वृद्धि करती है। इसके द्वारा द्रव्य-स्तव और भाव-स्तव का निरूपण किया गया है।

टीका—५०५० श्लोक-परिमाण की 'शिष्यहिता' नाम की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार ने लिखी है। न्यायाचार्य यशोविजयजी ने 'मार्गविशुद्धि' नाम की कृति 'पचवत्थुग' के आधार पर लिखी है। इन्होने 'प्रतिमाशतक' के श्लोक ६७ की स्वोपज्ञ टीका में 'थयपरिण्णा' को उद्धृत करके उसका सक्षेप मे स्पष्टीकरण किया है।[3]

---

१. स्वोपज्ञ टीका के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्थाने सन् १९३२ में प्रकाशित किया है।
२. इसके विषय मे विशेष जानकारी 'जैन सत्यप्रकाश' (वर्ष २१, अक १२) मे प्रकाशित 'थयपरिण्णा (स्तवपरिज्ञा) अने तेनी यशोव्याख्या' नामक लेख मे दी गई है।
३. आगमोद्धारक आनन्दसागरसूरि ने इसका गुजराती अनुवाद किया है और वह ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था ने सन् १९३७ में प्रकाशित किया है।

दंसणसार (दर्शनसार)

जैन शौरसेनी मे विरचित ५१ पद्यो की यह कृति[1] देवसेन ने वि० स० ९९० मे लिखी है। इसमे इन्होने नौ अजैन सम्प्रदाय तथा जैन सम्प्रदायो मे से श्वेताम्बर सप्रदाय का विचार किया है। ये द्राविड, यापनीय, काष्ठा, माथुरा और भिल्लय सघो को जैनाभास मानते हैं। ये देवसेन विमलसेन के शिष्य और आराधनासार के रचयिता है।

दर्शनसारदोहा :

यह माइल्ल धवल की रचना है।

१. श्रावकप्रज्ञप्ति

इस नाम की सस्कृत कृति की रचना उमास्वाति ने की थी यह अनुमान धर्मसग्रह[2] की स्वोपज्ञ टीका, धर्मविन्दु की मुनिचन्द्रसूरिकृत टीका आदि मे आये हुए उल्लेखो से होता है, परन्तु यह आजतक उपलब्ध नही हुई है।

२ सावयपण्णत्ति (श्रावकप्रज्ञप्ति) :

जैन महाराष्ट्री में रचित ४०५ कारिका की यह कृति[3] प्रशमरति आदि के रचयिता उमास्वाति की है ऐसा कई हस्तलिखित प्रतियो के अन्त में उल्लेख आता है, किन्तु यह हरिभद्रसूरि की कृति है यह 'पचासग' की अभयदेवसूरिकृत वृत्ति लावण्यसूरिकृत द्रव्यसप्तप्ति आदि के उल्लेखो से ज्ञात होता है।

प्रस्तुत कृति में 'सावग' शब्द की व्युत्पत्ति, सम्यक्त्व, आठ प्रकार के कर्म, नव तत्त्व, श्रावक के वारह व्रतो का निरूपण और अन्त में श्रावक की सामाचारी—इस प्रकार विविध विषय आते है। श्रावक के पहले और नवें व्रत की विचारणा में कितनी ही महत्त्व की बातो का उल्लेख किया गया है।

---

१ यह Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute (Vol. XV, pp 198-206) मे छपा है। इसका सम्पादन डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने किया है।

२. देखिए—दूसरे व्रत को व्याख्या में 'अतिथि' के सम्बन्ध मे दिया गया अवतरण।

३ के० पी० मोदी द्वारा सम्पादित यह कृति सस्कृत-छाया के साथ 'ज्ञान प्रसारक मण्डल' बम्बई ने प्रकाशित की है।

टीका—इस पर स्वय हरिभद्रसूरि की 'दिक्प्रदा' नाम की सस्कृत टीका है। इसमें जीव की नित्यानित्यता एव ससारमोचक मत आदि कतिपय चर्चास्पद विपयो का निरूपण है।[1]

रत्नकरण्डकश्रावकाचार :

इसे 'उपासकाध्ययन' भी कहते हैं। यह[2] सात परिच्छेदो में विभक्त है। कई विद्वान् इसे आप्तमीमासा आदि के रचयिता समन्तभद्र की कृति मानते हैं। प्रभाचन्द्र की जो टीका छपी है उसमें तो समग्र कृति पाँच ही परिच्छेदो मे विभक्त की गई है। इनकी पद्य-सख्या क्रमश ४१, ५, ४४, ३१ और २९ है। इस तरह इसमें कुल १५० पद्य हैं।

प्रथम परिच्छेद मे सम्यग्दर्शन का स्वरूप वतलाया है। उसमें आप्त, सुदेव, आठ मद, सम्यक्त्व के नि.शकित आदि आठ अग आदि की जानकारी दी गई है। दूसरे परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान का लक्षण देकर प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का सक्षिप्त स्वरूप दिखलाया है। तीसरे परिच्छेद में चारित्र के सकल और विकल ये दो प्रकार वतलाकर विकल चारित्र के बारह भेद अर्थात् श्रावक के बारह व्रतो का निर्देश करके पाँच अणुव्रत और उनके अतिचारो का वर्णन किया गया है। चौथे परिच्छेद मे इसी प्रकार तीन गुणव्रतो का, पाँचवें मे चार शिक्षा-व्रतो का, छठे मे सलेखना (समाधिमरण) का और सातवे मे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ का निरूपण है।

---

१. मूल कृति का किसी ने गुजराती मे अनुवाद किया है। यह अनुवाद 'ज्ञान प्रसारक मण्डल' बम्बई ने प्रकाशित किया है। इसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि मूल में ४०५ गाथाएँ है, परन्तु ३२वी और ५२वी गाथा के बाद की एक-एक गाथा टीकाकार की हैं। अत ४०३ गाथाएँ मूल की मानी जा सकती हैं और अनुवाद भी उतनी ही गाथाओ का दिया गया है।

२ यह प्रभाचन्द्र की टीका तथा प० जुगलकिशोर मुख्तार की विस्तृत हिन्दी प्रस्तावना के साथ माणिकचद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला मे वि० सं० १९८२ मे प्रकाशित हुआ है। इससे पहले हिन्दी और अग्रेजी अनुवाद के साथ मूल कृति श्री चम्पतराय जैन ने सन् १९१७ मे छपाई थी। किसी ने मूल का मराठी अनुवाद भी छपवाया है।

टीकाएँ—इस पर प्रभाचन्द्र ने १५०० श्लोक-परिमाण टीका लिखी है। दूसरी एक टीका ज्ञानचन्द्र ने लिखी है। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

पचासग (पचाशक)

जैन महाराष्ट्री में रचित हरिभद्रसूरि की इस कृति' में १९ पचाशक है।[1] इसमे प्रत्येक विषय के लिए ५०-५० पद्य है। इन १९ पचाशको के नाम इस प्रकार हैं :—

१. श्रावकधर्म, २. दीक्षा, ३ चैत्यवन्दन, ४ पूजा, ५. प्रत्याख्यान, ६. स्तवन, ७ जिनभवन, ८ प्रतिष्ठा, ९ यात्रा, १०. श्रावकप्रतिमा, ११ साधु-धर्म, १२ यतिसामाचारी, १३ पिण्डविधि, १४ शीलाग, १५ आलोचनाविधि, १६ प्रायश्चित्त, १७ कल्पव्यवस्था, १८ साधुप्रतिमा और १९ तपोविधि।

आद्य पचाशक मे 'श्रावक' शब्द का अर्थ, श्रावक के बारह व्रत तथा उनके अतिचार, व्रतो का कालमान, सलेखना और श्रावको की दिनचर्या—इस तरह विविध बातें दी गई है।

टीकाएँ—अभयदेवसूरि ने वि० स० ११२४ मे एक वृत्ति लिखी है।[1] हरिभद्र ने इस पर टीका लिखी है ऐसा जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० २३१) मे उल्लेख है। इस पर एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।

वीरगणी के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने पहले पचाशक पर जैन महाराष्ट्री मे वि० स० ११७२ मे एक चूर्णि लिखी है।[2] इन्होने वि० स० ११८० में पक्खिसूत्र का विवरण लिखा है। इस चूर्णि के प्रारम्भ मे तीन पद्य और अन्त में प्रशस्ति के चार पद्य है। शेष समग्र ग्रन्थ गद्य मे है। इस चूर्णि मे सम्यक्त्व के प्रकार, उसके यतना, अभियोग और दृष्टान्त,[3] 'करेमि भते' से शुरू होनेवाला सामायिकसूत्र और उसका अर्थ तथा मनुष्य भव की दुर्लभता के दृष्टान्त—इस प्रकार अन्यान्य विषयो का निरूपण है। इस चूर्णि मे सामाचारी के विषय मे

१, यह अभयदेवसूरिकृत वृत्ति के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९१२ मे छपवाया है।

२ प्रथम पचाशक की यह चूर्णि पाँच परिशिष्टो के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९५२ मे छपवाई है।

२ यह तथा अन्य दृष्टान्तो की सूची ५वे परिशिष्ट मे दी गई है।

अनेक बार उल्लेख आते है; इस से ज्ञात होता है कि चूर्णिकार सामाचारी को बहुत महत्वपूर्ण मानते है। मुख्यतया मण्डनात्मक शैली मे रचित इस चूर्णि (पत्र १०४ आ) मे 'तुलादण्ड' न्याय का उल्लेख है।

आवश्यक की चूर्णि के देशविरति अधिकार की 'जारिसो जइभेओ' से शुरू होनेवाली गाथाओ के आधार पर जिस तरह नवपयपयरण मे नौ द्वारो का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी नौ द्वारो का निरूपण है।

इस चूर्णि की रचना मे आधारभूत सामग्री के रूप मे विविध ग्रन्थो का साक्ष्य दिया गया है और अन्त मे पचाशक की अभयदेवसूरिकृत वृत्ति, आवश्यक की चूर्णि और वृत्ति, नवपयपयरण और सावयपण्णत्ति के उपयोग किये जाने का उल्लेख है।[1]

धर्मसार:

यह हरिभद्रसूरि की कृति है। पचसग्रह की ८वी गाथा की टीका में (पत्र ११ आ) मलयगिरिसूरि ने इसका उल्लेख किया है, परन्तु अबतक यह अनुपलब्ध है।

टीका—देवेन्द्रसूरि ने 'छासीइ' कर्मग्रन्थ की अपनी वृत्ति (पृ० १६१) मे इसका उल्लेख किया है, परन्तु यह भी मूल की भाँति अबतक प्राप्त नही हो सकी है।

सावयधम्मतत (श्रावकधर्मतंत्र)

हरिभद्रसूरि को जैन महाराष्ट्री मे १२० गाथाओ की यह कृति[2] 'विरह' पद से अकित है। इसे श्रावकधर्मप्रकरण भी कहते हैं। इसमे श्रावक शब्द की

---

१ प्रथम पचाशक का मुनि श्री शुभकरविजयकृत गुजराती अनुवाद 'नेमिविज्ञान-ग्रन्थमाला (सन् १९४९) में प्रकाशित हुआ है और उसका नाम 'श्रावकधर्मविधान' रखा है।

प्रथम चार पचाशक एव उतने भाग की अभयदेवसूरि की वृत्ति का साराश गुजराती मे प० चन्द्रसागरगणी ने तैयार किया है। यह साराश *'सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति'* ने सन् १९४९ मे प्रकाशित किया है।

२ मानदेवसूरिकृत वृत्ति के साथ यह सन् १९४० मे 'केशरबाई जैन ज्ञानमन्दिर' ने 'श्री श्रावकधर्मविधिप्रकरणम्' के नाम से प्रकाशित की है। इसमे गुजराती मे विषयसूची तथा मूल एवं वृत्तिगत पद्यो की अकारादि क्रम से सूची दी गई है।

अन्वर्थता, धर्म के अधिकारी के लक्षण, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के प्रकार, पार्श्वस्थ आदि का परिहार करने की सूचना, अनुमति का स्वरूप, दर्शनाचार के निःशकित आदि आठ प्रकारो की स्पष्टता, आठ प्रभावको का निर्देश, श्रावक के बारह व्रत और उनके अतिचार—इस प्रकार विविध विषयो का निरूपण है।

टीका—श्री मानदेवसूरि ने इस पर एक वृत्ति लिखी है। अन्त की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि किसी प्राचीन वृत्ति के आधार पर उन्होने अपनी यह वृत्ति लिखी है। प्रारम्भ मे एक पद्य तथा अन्त मे प्रशस्ति के रूप में दो पद्य लिखे है।

नवपयपयरण (नवपदप्रकरण)

जैन महाराष्ट्री मे रचित १३७ पद्य की यह कृति[1] ऊकेशगच्छ[2] के देवगुप्तसूरि ने लिखी है। इनका पहले का नाम जिनचन्द्रगणी था। इन्होने 'नवतत्तपयरण' लिखा है। प्रस्तुत कृति में अरिहन्त आदि नौ पदो का निरूपण होगा ऐसा इस कृति का नाम देखने से प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। यहाँ तो मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, श्रावक के बारह व्रत और सलेखना इन विषयो का १ यादृश, २ यतिभेद, ३ यथोत्पत्ति, ४ दोष, ५ गुण, ६. यतना, ७ अतिचार, ८ भग और ९ भावना—इन नौ पदो द्वारा नौ-नौ गाथाओ मे विचार किया गया है। पहली गाथा मे मगल, अभिधेय आदि आते है, जबकि दूसरी गाथा आवश्यक की देशविरति-अधिकारविषयक चूर्णि में उद्धृत पूर्वगत गाथा है। इसके अलावा दूसरी भी कोई-कोई गाथा मूल या भावार्थ के रूप में इस चूर्णि की देखी जाती है।

टीकाएँ—स्वय कर्ता द्वारा वि० स० १०७३ मे रचित स्वोपज्ञ टीका का नाम श्रावकानन्दकारिणी है। इसमे कई कथाएँ आती है। इसके अतिरिक्त देवगुप्तसूरि के प्रशिष्य और सिद्धसूरि के शिष्य तथा अन्य सिद्धसूरि के गुरुभाई यशोदेव ने वि० स० ११६५ में एक विवरण लिखा है। इसे बृहद्वृत्ति भी कहते

---

१ यह श्रावकानन्दकारिणी नाम की स्वोपज्ञ टीका के साथ देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९२६ में तथा यशोदेव के विवरण के साथ सन् १९२७ मे छपाया है।

२ इस गच्छ में देवगुप्त, कक्कसूरि, सिद्धसूरि और जिनचन्द्र बार-बार आते है, अत विवरणकार के गुरु और गुरुभाई के जो एक ही नाम है वे यथार्थ हैं।

है । विवरणकार का दीक्षा-समय का नाम धनदेव था । यह विवरण उपर्युक्त १३७ गाथाओ के अतिरिक्त एक और गाथा पर भी है ।[1] स्वोपज्ञ टीका का विस्तृत स्पष्टीकरण इस विवरण मे है ।

इस विवरण में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का स्वरूप, मिथ्यात्व के आभिग्राहिक आदि प्रकार, जमालि के चरित्र मे 'क्रियमाण कृत' विषयक चर्चा, गोष्ठामाहिल के वृत्तान्त मे आर्यरक्षित से सम्बद्ध कई बाते, गोष्ठामाहिल के द्वारा मथुरा मे नास्तिक का किया गया पराजय, चिलातीपुत्र के अधिकार मे वैदिक वाद, प्रथम व्रत के स्वरूप का विचार करते समय २६३ कर्मादान, सामायिक के विषय मे नयविचार, पौषध के अतिचारो के कथन के समय स्थण्डिल के १०२४ प्रकार तथा सलेखना के विषय मे निर्यामक के प्रकार—इस प्रकार विविध बातो का निरूपण किया गया है ।

इस विवरण का चक्रेश्वरसूरि आदि ने सशोधन किया है । इस ९५०० श्लोक-परिमाण विवरण मे (पत्र २४२ आ) जिन वसुदेवसूरि का निर्देश है उनके 'खतिकुलय' के अलावा दूसरे ग्रथ जानने मे नही आये ।

सघतिलकसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि ने वि० स० १४५२ मे अभिनववृत्ति नाम की एक वृत्ति लिखी है ।

उपासकाचार

वि० सं० १०५० मे रचित यह पद्यात्मक सस्कृत कृति[2] सुभाषितरत्नसन्दोह के रचयिता और माथुर सघ के माधवसेन के शिष्य अमितगति की रचना है ।

---

१. यह १३८ वी गाथा विवरणकार को मिली होगी । बाकी मूल कर्ता ने न तो वह स्वतत्र दी है और न उस पर टीका ही लिखी है । उस गाथा मे कहा है कि कक्कसूरि के शिष्य जिनचन्द्रगणी ने आत्मस्मरण के लिए और अन्य लोगो पर उपकार करने की दृष्टि से इस नवपद (प्रकरण) की रचना की है ।

२ यह वि० स० १९७९ मे 'अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ है । इसकी प० भागचन्दकृत वचनिका से युक्त दूसरी आवृत्ति 'श्रावकाचार' के नाम से श्री मूलचन्द किसनदास कापडिया ने वि० स० २०१५ में छपवाई है ।

श्राद्धगुणश्रेणिसग्रह

इसे श्राद्धगुणसग्रह अथवा श्राद्धगुणविवरण[1] भी कहते है। इसकी रचना सोमसुन्दर के शिष्य जिनमण्डनगणी ने वि० स० १४९८ में की है। इन्होने ही वि० स० १४९२ मे कुमारपालप्रबन्ध लिखा है। धर्मपरीक्षा नाम की कृति भी इनकी रचना है। हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्र, प्रकाश १ के अन्त मे सामान्य गृहस्थधर्म के विषय मे जो दस श्लोक है उनमे मार्गानुसारिता के ३५ गुणो का निर्देश किया है। वे श्लोक प्रस्तुत कृति के आरम्भ मे (पत्र २ आ) उद्धृत किये गये हैं। उनका विस्तृत निरूपण इसमे आता है।

प्रारम्भ मे 'सावग' और 'श्रावक' शब्दो की व्युत्पत्ति दी गई है। ३५ गुणो को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कथाएँ दी गई हैं। बीच-बीच मे सस्कृत एव प्राकृत अवतरण दिये गये है। अन्त मे सात श्लोको की प्रशस्ति है। उसमे रचना-स्थान[2] और रचना-काल[3] का निर्देश किया गया है।

उपर्युक्त ३५ गुण इस प्रकार है

१. न्यायसम्पन्न वैभव, २. शिष्टाचार की प्रशसा, ३. कुल एव शील की समानतावाले अन्य गोत्र के व्यक्ति के साथ विवाह, ४ पापभीरुता, ५. प्रचलित देशाचार का पालन, ६ राजा आदि की निन्दा से अलिप्तता, ७ योग्य निवास-स्थान मे द्वारवाला मकान, ८ सत्सग, ९. माता-पिता का पूजन, १० उपद्रव-वाले स्थान का त्याग, ११ निन्द्य प्रवृत्तियो से अलिप्तता, १२. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार व्यय करने की वृत्ति, १३. सम्पत्ति के अनुसार वेशभूषा, १४ बुद्धि के शुश्रूषा आदि आठ गुणो से युक्तता, १५ प्रतिदिन धर्म का श्रवण, १६. अजीर्णता होने पर भोजन का त्याग, १७. भूख लगने पर प्रकृति के अनुकूल भोजन, १८ धर्म, अर्थ और काम का परस्पर बाधारहित सेवन, १९. अतिथि,

---

१ 'श्राद्धगुणविवरण' के नाम से यह ग्रन्थ जैन आत्मानद सभा ने वि० स० १९७० मे प्रकाशित किया है। इसका गुजराती अनुवाद प्रवर्तक कान्तिविजयजी के शिष्य श्री चतुरविजयजी ने किया है जो जैन आत्मानन्द सभा ने ही सन् १९१६ मे प्रकाशित किया है।

२ अणहिलपत्तननगर।

३. मनु-नन्दाष्टक अर्थात् १४९८। यहाँ 'अकाना वामतो गति' के नियम का पालन नही हुआ है।

साधु एवं दीनजन की यथायोग्य सेवा, २० सर्वदा कदाग्रह से मुक्ति, २१ गुण में पक्षपात, २२ प्रतिषिद्ध देश एवं काल की क्रिया का त्याग, २३. स्वपरबलाबल का परामर्श, २४ व्रतधारी और ज्ञानवृद्धजनों की पूजा, २५ पोष्यजनों का यथायोग्य पोषण, २६ दीर्घदर्शिता, २७ विशेषज्ञता अर्थात् अच्छे-बुरे का विवेक, २८ कृतज्ञता, २९ लोकप्रियता, ३० लज्जालुता, ३१ दयालुता, ३२ सौम्य आकार, ३३. परोपकार करने में तत्परता, ३४. अन्तरंग ६ शत्रुओं के परिहार के लिए उद्युक्तता और ३५. जितेन्द्रियता।

धर्मरत्नकरण्डक :

१५०० श्लोक-परिमाण यह कृति[1] अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि ने वि० सं० ११७२ में लिखी है।

टीका—इस पर स्वयं कर्ता ने वि० सं० ११७२ में वृत्ति लिखी है। इसका संशोधन अशोकचन्द्र, धनेश्वर, नेमिचन्द्र और पार्श्वचन्द्र इस प्रकार चार मुनियों ने किया है।

चेइअवंदणभास (चैत्यवन्दनभाष्य) :

देवेन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री में ६३ पद्य में इसकी[2] रचना की है। ये तपागच्छ के स्थापक जगच्चन्द्रसूरि के पट्टधर शिष्य थे। इन्होंने कम्मविवाग (कर्मविपाक) आदि पाँच नव्य कर्मग्रन्थ एवं उनकी टीका, गुरुवंदणभास एवं पच्चक्खाणभास, दाणाइकुलय, सुदंसणाचरिय तथा सड्ढदिणकिच्च और उसकी टीका आदि लिखे हैं। व्याख्यानकला में ये सिद्धहस्त थे। इनका स्वर्गवास वि० सं० १३२७ में हुआ था।

---

१ यह हीरालाल हंसराज ने दो भागों में सन् १९१५ में छपवाया है।

२ यह अनेक स्थानों से गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है। 'संघाचारविधि' के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था ने सन् १९३८ में यह प्रकाशित किया है। इसके सम्पादक श्री आनन्दसागरसूरि ने प्रारम्भ में मूल कृति देकर बाद में संघाचारविधि का संक्षिप्त एवं विस्तृत विषयानुक्रम संस्कृत में दिया है। इसके बाद कथाओं की सूची, स्तुति-स्थान, स्तुति-संग्रह, देशना-स्थान, देशना-संग्रह, सूक्तियों के प्रतीक, साक्षीरूप ग्रन्थों की नामावली, साक्षी-श्लोकों के प्रतीक और विस्तृत उपक्रम (प्रस्तावना) है। प्रस्तावना के अन्त में धर्मघोषसूरिकृत स्तुति-स्तोत्रों की सूची दी गई है।

इसकी पहली गाथा मे वन्दनीय को वन्दन करके चैत्यवन्दन आदि का निरूपण वृत्ति, भाष्य, चूर्णि इत्यादि के आधार पर करने की प्रतिज्ञा की गई है। इसके पश्चात् चैत्यवन्दन अर्थात् देववन्दन की विधि का पालन चौबीस द्वार से यथावत् होने से चौबीस द्वार के नाम प्रत्येक द्वार के प्रकारो को सख्या के साथ दिये गये है। वे द्वार इस प्रकार हैं

१. नैषध आदि दर्शनत्रिक, २. पाँच अभिगम, ३ देव को वन्दन करते समय स्त्री एव पुरुष के लिए खड़े होने की दिशा, ४ तीन अवग्रह, ५. त्रिविध वन्दन, ६ पचाग प्रणिपात, ७. नमस्कार, ८–१० नवकार आदि नौ सूत्रो के वर्ण की सख्या तथा उन सूत्रो के पदो एव सम्पदा की सख्या, ११. 'नमु त्थु ण' आदि पाँच दण्डक, १२. देववन्दन के बारह अधिकार, १३ चार वन्दनीय, १४. उपद्रव दूर करने के लिए समग्दृष्टि देवो का स्मरण, १५ नाम-जिन, स्थापना-जिन, द्रव्य-जिन और भाव-जिन, १६. चार स्तुति, १७ आठ निमित्त, १८ देववन्दन के बारह हेतु, १९. कायोत्सर्ग के सोलह आकार, २० कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष, २१. कायोत्सर्ग का प्रमाण, २२. स्तवनसम्बन्धी विचार, २३. सात बार चैत्यवन्दन और २४ दस आशातना।

इन चौबीस द्वारो के २०७४ प्रकार गिनाकर ६२ वी गाथा मे देववन्दन की विधि दी गयीहै।

सघाचारविधि :

यह ग्रन्थ उपर्युक्त देवेन्द्रसूरि के शिष्य धर्मघोषसूरि ने वि० स० १३२७ से पहले लिखा है। यह ८५०० श्लोक-परिमाण रचना है और सम्भवत' स्वय धर्मघोषसूरि की लिखी हुई वि० स० १३२९ की हस्तलिखित प्रति मिलती है। यह सघाचारविधि चेइयवन्दणसुत्त की वृत्ति है। इसमे लगभग पचास कथाएँ, देव और गुरु की स्तुतियाँ, विविध देशनाएँ सुभाषित, मतान्तर और उनका खण्डन इत्यादि आते हैं।

सावगविहि (श्रावकविधि) :

यह जिनप्रभसूरि की दोहा-छन्द मे अपभ्रश मे ३२ पद्यो मे रचित कृति है। इसका उल्लेख पत्तन-सूची मे आता है।

गुरुवदणभास (गुरुवन्दनभाष्य)

चेइयवदणभास इत्यादि के प्रणेता देवेन्द्रसूरि की जैन महाराष्ट्री मे रचित ४१

पद्यो की यह कृति[1] है। प्रथम गाथा मे गुरुवन्दन के तीन प्रकार—फिट्टा (स्फेटिका), छोभ (स्तोभ) और बारसावर्त (द्वादशावर्त) कहे है। इसके बाद वन्दन का हेतु, वन्दन के पाँच नाम[2] तथा वन्दन के बाईस द्वार—इस तरह विविध विषयो का निरूपण किया गया है। बाईस द्वार इस प्रकार है ·

१ वन्दन के पाँच नाम, २ वन्दन के बारे मे पाँच उदाहरण, ३. पार्श्वस्थ आदि अवन्दनीय, ४ आचार्य आदि वन्दनीय, ५-६ वन्दन के चार अदाता और चार दाता, ७ निषेध के तेरह स्थानक, ८ अनिषेध के चार स्थानक, ९ वन्दन के कारण, १० आवश्यक, ११ मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन, १२ शरीर का प्रतिलेखन, १३ वन्दन के बत्तीस दोष, १४ वन्दन के चार गुण, १५ गुरु की स्थापना, १६ अवग्रह, १७-१८ 'वदणयसुत्त' के अक्षरो एव पदो की सख्या, १९ स्थानक, २०. वन्दन में गुरुवचन, २१ गुरु की तैतीस आशातना और २२ वन्दन की विधि।

पच्चक्खाणभास (प्रत्याख्यानभाष्य) :

यह 'चेइयवन्दणभास' आदि के रचयिता देवेन्द्रसूरि की जैन महाराष्ट्री मे ग्रथित ४८ गाथाओ की कृति[3] है। इसमे प्रत्याख्यान के दस प्रकार, प्रत्याख्यान की चार विधि, चतुर्विध आहार, बाईस आकार, अद्विरुक्त, दस विकृति, तीस विकृतिगत (छ मूल विकृति के तीस निर्विकृतिक), प्रत्याख्यान के मूल गुण और उत्तर गुण ऐसे दो प्रकार, प्रत्याख्यान की छ शुद्धि और प्रत्याख्यान का फल—इस प्रकार नौ द्वारो का सविस्तर निरूपण है।

मूलसुद्धि (मूलशुद्धि) .

इसे सिद्धान्तसार तथा स्थानकसूत्र भी कहते है। जैन महाराष्ट्री के २५२ पद्यो मे रचित इस कृति के प्रणेता प्रद्युम्नसूरि है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि स ११८६ की मिली है। इसमें सम्यक्त्वगुण के विषय मे विवरण है।

---

१ चेइयवदणभास तथा गुरुवदणभास के साथ प्रस्तुत कृति 'चैत्यवन्दनादि-भाष्यत्रयम्' में गुजराती अनुवाद के साथ सन् १९०६ मे छपी है। प्रकाशक है यशोविजय जैन सस्कृत पाठशाला।

२ वन्दन, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म।

३ इसका किसी ने गुजराती मे अनुवाद किया है और वह प्रकाशित भी हुआ है।

टीका—इस पर देवचन्द्र ने वि स ११६० मे १३,००० श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है। ये कर्ता के प्रशिष्य थे। इन्होंने शान्तिनाथचरित्र लिखा है।

आराहणा (आराधना) :

इसे भगवई आराहणा (भगवती आराधना) तथा मूलाराहणा (मूलाराधना)[1] भी कहते हैं। इसमे २१६६ पद्य जैन शौरसेनी मे है। यह आठ परिच्छेदो मे विभक्त है। इसमे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-इन चार आराधनाओ का निरूपण है। यह ग्रन्थ मुख्यतया मुनिधर्म का प्रतिपादन करता है और समाधिमरण का स्वरूप समझाता है। विस्तार से कहना हो तो प्रस्तुत कृति मे निम्नलिखित बातो का आलेखन हुआ है

सम्यक्त्व की महिमा, तप का स्वरूप, मरण के सत्रह प्रकारो का उल्लेख, इनमे से पण्डित-पण्डित मरण, पण्डित-मरण, बाल-पण्डितमरण, बाल-मरण और बाल-बालमरण—इन पाँचो के नाम और इनके स्वामियो का उल्लेख, सूत्रकार के चार प्रकार, सम्यक्त्व के आठ अतिचार, सम्यक्त्व की आराधना का फल, स्वामी आदि, आराधना का स्वरूप, मिथ्यात्व के विषय मे विचारणा, पण्डित-मरण का निरूपण, भक्तपरिज्ञा-मरण के प्रकार तथा सविचारभक्त-प्रत्याख्यान।

सविचारभक्तप्रत्याख्यान का निरूपण अधोलिखित चालीस अधिकारो मे किया गया है

१ तीर्थंकर, २ लिंग, ३. शिक्षा, ४. विनय, ५ समाधि, ६ अनियत विहार, ७. परिणाम, ८. उपाधित्याग, ९ द्रव्य-श्रिति और भावश्रिति, १०. भावना, ११. सल्लेखना, १२ दिशा, १३ क्षमण, १४ अनुविशिष्ट शिक्षा, १५ परगणचर्या, १६. मार्गणा, १७ सुस्थित, १८ उपसम्पदा, १९ परीक्षा, २० प्रतिलेखन, २१ आपृच्छा, २२ प्रतिच्छन्न, २३ आलोचना, २४ आलो-

---

१ यह ग्रन्थ सदासुख की हिन्दी टीका के साथ शक सवत् १८३१ में कोल्हापुर से प्रकाशित हुआ है। इसके पश्चात् मूल ग्रन्थ की सदासुख काशलीवाल-कृत हिन्दी वचनिकासहित दूसरी आवृत्ति 'अनन्तवीर्य दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' मे प० नाथूरामजी प्रेमी की विस्तृत भूमिका के साथ वि० स० १९८९ मे प्रकाशित हुई है। इसमे २१६६ गाथाएँ है। इनमें कई अवतरणो का भी समावेश होता है।

धना के गुण-दोष, २५ शय्या, २६ संस्तर, २७. निर्यापक, २८. प्रकाशन, २९. आहार की हानि, ३०. प्रत्याख्यान, ३१ क्षामण, ३२ क्षपण, ३३. अनुशिष्टि, ३४. सारण, ३५ कवच, ३६ समता, ३७. ध्यान, ३८. लेश्या, ३९. आराधना का फल और ४० विजहना।

चालीसवें अधिकार में निशीधिका का स्वरूप, उसके द्वार, निसिद्यस्थान, साधु के मरण के समय धीर-वीर का जागरण, मृतक मुनि के अंगूठे का बन्धन और छेदन, वन आदि में मृत्युप्राप्त मुनि के कलेवर का वहाँ पड़ा रहना उचित न होने से गृहस्थ का उसे शिविका में लाना, क्षपक के शरीर-स्थापन की विधि, क्षपक के शरीर के अवयवों का पक्षियों द्वारा अपहरण किये जाने पर फलादेश एवं क्षपक की गति का कथन है।

इस ग्रन्थ के रचयिता 'पाणितलभोजी' शिवार्य हैं।[1] इन्होंने अपने गुरुओं के रूप में जिननंदी, सर्वगुप्त और मित्रनन्दी इन तीनों का 'आर्य' शब्द के साथ उल्लेख किया है।

आराधना की कई गाथाएँ मूलाचार में तथा किसी-किसी श्वेताम्बर ग्रन्थ में भी उपलब्ध होती हैं। इसका 'विजहना' नाम का चालीसवाँ अधिकार विलक्षण है। उसमें आराधक मुनि के मृतक-संस्कार का वर्णन है।

टीकाएँ—इस पर एक टीका है, जिसे कई लोग वसुनन्दी की रचना मानते हैं। इसके अतिरिक्त इस पर चन्द्रनन्दी के शिष्य बलदेव के शिष्य अपराजित की 'विजयोदया' नाम की एक टीका है। आशाधर की टीका का नाम 'दर्पण' है। इसे 'मूलाराधनादर्पण' भी कहते हैं। अमितगति की टीका का नाम 'मरणकरण्डिका' है। इन टीकाओं के अतिरिक्त इस पर एक अज्ञातकर्तृक पंजिका भी है।[2]

१, जिनसेन ने आदिपुराण में जिन शिवकोटि का उल्लेख किया है वे प्रस्तुत ग्रन्थकार ही हैं यह शंकास्पद है।

२. जिनदास पार्श्वनाथ ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है। सदासुख का भी एक अनुवाद है। उनका हिन्दी-वचनिका नाम का यह अनुवाद वि. सं १९०८ में पूर्ण हुआ था।

आराहणासार (आराधनासार) ·

वि स. ९९० के आसपास मे देवसेन ने जैन शौरसेनी के ११५ पद्यो में इसकी[1] रचना की है। ये विमलसेन के शिष्य थे ऐसा गजाधरलाल जैन ने प्रस्तावना (पृ० २) मे लिखा है। देवसेन नाम के दूसरे भी अनेक ग्रन्थकार हुए है। उदाहरणार्थ—आलापपद्धति के कर्ता, चन्दनषष्ट्युद्यापन के कर्ता, सुलोचना-चरित्र के कर्ता और सस्कृत मे आराधनासार के रचयिता।

इसकी प्रथम गाथा मे आये हुए 'सुरसेणवदियं' के भिन्न-भिन्न पदच्छेद करके भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये है। ऐसा करते समय 'रस' और 'दिय' (द्विज) के भिन्न-भिन्न अर्थ किये है।

इसमे तपश्चर्या, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के समुदाय को आराधना का सार कहा है। यह सार व्यवहार एव निश्चय से दो प्रकार का है। व्यवहार से सम्यग्दर्शन आदि का स्वरूप, सम्यक्चारित्र के तेरह प्रकारो का तथा तपश्चर्या के बारह प्रकारो का सामान्य निर्देश, शुद्ध निश्चयनय के अनुसार आराधना की स्पष्टता, व्यवहार से चतुर्विध आराधना का निश्चयनयपूर्वक की आराधना के साथ कार्य-कारणभाव सम्बन्ध, विशुद्ध आत्मा की आराधना करने का उपदेश, आराधक और विराधक का स्वरूप, सन्यास की योग्यता, परिग्रह के त्याग से लाभ, निश्चयनय की अपेक्षा से निर्ग्रन्थता, कषायो और परीषहो पर विजय, (दावानल-रूपी) अचेतनकृत उपसर्ग शिवभूति ने, तिर्यंचकृत उपसर्ग सुकुमाल और कोसल इन दो मुनियो ने, मनुष्यकृत उपसर्ग गुरुदत्त राजा ने, पाण्डवो ने और गजकुमार ने तथा देवकृत उपसर्ग श्रीदत्त और सुवर्णभद्र ने सहन किये थे इसका उल्लेख, इन्द्रिय एव मन का निग्रह करने की आवश्यकता, असयमी की अवदशा, निर्विकल्प समाधि का स्वरूप, सम्यग्दर्शन आदि की आत्मा से अभिन्नता और वैसी आत्मा अवलम्बन आदि (विभाव परिणामो) से रहित होने से उसकी कथञ्चित् शून्यता, उत्तम ध्यान का प्रभाव, विशुद्ध भावनाओ का फल, चतुर्विध आराधना का फल, आराधना का स्वरूप प्रदर्शित करनेवाले मुनिवरो को वन्दन तथा प्रणेता की लघुता—ये विषय आते है।

---

१ यह रत्नकीर्ति की टीका के साथ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला मे वि० स० १९७३ प्रकाशित हुआ है। मूल ग्रन्थ गजाधरलाल जैन-कृत हिन्दी अनुवाद के साथ वीर सवत् २४८४ मे 'श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था' ने छपवाया है।

टीका—इस पर माथुर संघ के क्षेमकीर्ति के शिष्य रत्नकीर्ति ने २२०० श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है। इसमें शुभचन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णव, परमात्मप्रकाश एवं समयसार में से उद्धरण दिये गये हैं। माइल्ल धवल ने जिस आराधनासार पर टीका लिखी है वह प्रस्तुत कृति है या अन्य यह ज्ञात नहीं।

आराधना

यह माधवसेन के शिष्य अमितगति की रचना है। यह शिवार्यकृत 'आराहणा' का संस्कृत पद्यात्मक अनुवाद है।

सामायिकपाठ किंवा भावनाद्वात्रिंशिका :

यह अज्ञातकर्तृक रचना[1] है। इसमें ३३ श्लोक हैं।

आराहणापडाया (आराधनापताका)

इसकी रचना वीरभद्र ने वि० सं० १०७८ में जैन महाराष्ट्री में ९९० पद्यों में की है। इसमें भत्तपरिण्णा, पिण्डनिज्जुत्ति इत्यादि की गाथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

आराहणाकुलय (आराधनाकुलक)

यह नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि ने जैन महाराष्ट्री में ८५ पद्यों में रचा है।

संवेगरंगशाला :

इसके कर्ता सुमतिवाचक और प्रसन्नचन्द्रसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि हैं। इसका उल्लेख कर्ता ने पार्श्वनाथचरित्र में तथा वि० सं० ११५८ में रचित कथारत्नकोश में किया है। इसे आराधनारत्न भी कहते हैं। इसकी एक भी हस्तलिखित प्रति अबतक उपलब्ध नहीं हुई है।

आराहणासत्थ (आराधनाशास्त्र)

संभवतः यह देवभद्र की कृति है।

---

१ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित है।

पंचलिंगी

जैन महाराष्ट्री मे जिनेश्वरसूरिरचित इस कृति[1] मे १०१ पद्य है। इसमे सम्यक्त्व के शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन पाँच लिंगो का निरूपण है।

टीकाएँ—इस पर जिनचन्द्रसूरि के शिष्य जिनपतिसूरि ने ६६०० श्लोक-परिमाण एक विवरण लिखा है। इस विवरण पर जिनपतिसूरि के शिष्य जिनपाल ने टिप्पण लिखा है। इसके अतिरिक्त सर्वराज ने १३४८ श्लोक-परिमाण एक लघुवृत्ति लिखी है।

दंसणसुद्धि (दर्शनशुद्धि)

इसे[2] सम्यक्त्वप्रकरण भी कहते है। इसकी रचना जयसिंह के शिष्य चन्द्रप्रभ ने जैन महाराष्ट्री के २२६ पद्यो मे की है। इसमे सम्यक्त्व का अधिकार है।

टीकाएँ—इस पर विमलगणी ने वि० स० ११८४ में १२,१०० श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है। ये मूल ग्रन्थ के कर्ता के शिष्य धर्मघोषसूरि के शिष्य थे।

देवभद्र ने भी इस पर चन्द्रप्रभ के शिष्य शान्तिभद्रसूरि की सहायता से एक टीका लिखी है। यह टीका ३००८ श्लोक-परिमाण है। ये देवभद्र विमलगणी के शिष्य थे।

सम्यक्त्वालङ्कार :

यह विवेकसमुद्रगणी की रचना है। इसका उल्लेख जैसलमेर के सूची-पत्र मे किया गया है।

यतिदिनकृत्य :

यह हरिभद्रसूरि की कृति मानी जाती है। इसमे श्रमणो की दैनन्दिन प्रवृत्तियो के विषय में निरूपण है।

---

१ यह कृति जिनपति के विवरण के साथ 'जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फड' सूरत से सन् १९१९ मे प्रकाशित हुई है।

२. देवभद्र की टीका के साथ यह ग्रन्थ हीरालाल हसराज ने सन् १९१३ में छपाया है।

जइजीयकप्प (यतिजीतकल्प)

इसकी रचना जैन महाराष्ट्री मे धर्मघोषसूरि के शिष्य और २८ यमकस्तुति के प्रणेता सोमप्रभसूरि ने की है। इसमे ३०६ गाथाएँ हैं। इसकी प्रारम्भ की २४ गाथाएँ जिनभद्रगणीकृत जीतकल्प मे से ली गई है। इसमे श्रमणो के आचार का निरूपण है।

टीकाएँ—सोमतिलकसूरि ने इस पर एक वृत्ति लिखी थी, किन्तु वह अप्राप्य है। दूसरी वृत्ति देवसुन्दरसूरि के शिष्य साधुरत्न ने वि० स० १३५६ मे लिखी है। यह ५७०० श्लोक-परिमाण है। इसमे उन्होने उपर्युक्त सोम-तिलकसूरि की वृत्ति का उल्लेख किया है।

जइसामायारी (यतिसामाचारी):

कालकसूरि के सन्तानीय और वि० स० १४१२ में पार्श्वनाथचरित्र के रचयिता श्री भावदेवसूरि ने यतिसामाचारी[1] सकलित की है। इसमे १५४ गाथाएँ है।[2] यह सक्षिप्त रचना है ऐसा पहली गाथा मे कहा है और वह सच भी है, क्योकि देवसूरि ने इसी नाम की जो कृति रची है वह विस्तृत है। इन्ही भावदेवसूरि ने अलकारसार भी लिखा है।

उत्तराध्ययन एव ओघनिर्युक्ति मे सामाचारी दी गई है, परन्तु उसमें विहार आदि की भी बातें आती है, जबकि प्रस्तुत कृति जैन साधुओ की दिनचर्या पर—प्राभातिक जागरण से लेकर सस्तारक तक की विधि पर्यन्त की उनकी प्रवृत्तियो पर—प्रकाश डालती है।

टीका—इस पर मतिसागरसूरि ने सस्कृत मे सक्षिप्त व्याख्या—अवचूरि लिखी है। यह ३५०० श्लोक-परिमाण है। इसके प्रारम्भ मे चार श्लोक हैं, अवशिष्ट सम्पूर्ण टीका गद्य मे है। इस कृति मे कुछ अवतरण भी आते हैं।

---

१. यह नाम पहली गाथा मे दिया गया है, जबकि अन्तिम गाथा मे 'जइदिण-चरिया' ऐसा नाम आता है। पचासग' के बारहवे पचासग का नाम भी जइसामायारी है। यह 'यतिदिनचर्या' के नाम से मतिसागरसूरिकृत व्याख्या के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था ने सन् १९३६ मे प्रकाशित की है।

२ इसका ग्रन्थाग्र १९२ श्लोक-परिमाण है।

पिंडविसुद्धि (पिण्डविशुद्धि) :

यह जैन महाराष्ट्री मे १०३ पद्यो की कृति[1] है। इसे 'पिंडविसोहि' भी कहते है। इसके रचयिता जिनवल्लभसूरि ने इसमे आहार की गवेषणा के ४२ दोषो का निर्देश करके उन पर विचार किया है।

टीकाएँ—इस पर 'सुबोधा' नाम की २८०० श्लोक-परिमाण एक टीका श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य यशोदेव ने वि० स० ११७६ मे लिखी है। अजितप्रभसूरि ने भी एक टीका लिखी है। श्रीचन्द्रसूरि ने वि० स ११७८ मे एक वृत्ति लिखी है। उदयसिंह ने 'दीपिका' नामकी ७०३ श्लोक परिणाम एक अन्य टीका वि सं. १२९५ मे लिखी है। ये श्रीप्रभ के शिष्य माणिक्यप्रभ के शिष्य थे। यह टीका उपर्युक्त सुबोधा के आधार पर रची गई है। इसके अतिरिक्त अन्य एक अज्ञात-कर्तृक दीपिका नाम की टीका भी है। इस मूल कृति पर रत्नशेखरसूरि के शिष्य सवेगदेवगणी ने वि० स० १५१३ मे एक बालावबोध लिखा है।

सड्ढजीयकप्प (श्राद्धजीतकल्प) .

यह देवेन्द्रसूरि के शिष्य धर्मघोषसूरि ने वि० स० १३५७ मे लिखा है। इसमे १४१ तथा किसी-किसी के मत से २२५ पद्य हैं। इसमें श्रावको की प्रवृत्तियो का विचार किया गया है।

टीकाएं—इस पर सोमतिलकसूरि ने २५४७ श्लोक-परिमाण एक वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त इस पर अज्ञातकर्तृक एक अवचूरि भी है।

१ सड्ढदिणकिच्च (श्राद्धदिनकृत्य) :

जैन महाराष्ट्री मे रचित ३४४ पद्यो की यह कृति जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि की रचना है। इसमे श्रावको के दैनन्दिन कृत्यो के विषय मे विचार किया गया है।

टीका—इस पर १२८२० श्लोक-परिमाण एक स्वोपज्ञ वृत्ति है। इसके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि भी है।

२. सड्ढदिणकिच्च (श्राद्धदिनकृत्य) :

'वीर नमे (मि) ऊण तिलोयभाणु' से शुरू होनेवाली और जैन महाराष्ट्री के ३४१ पद्यो मे लिखी गई यह कृति[2] उपर्युक्त 'सड्ढदिणकिच्च' है या अन्य,

---

१. यह ग्रन्थ श्रीचन्द्रसूरि की वृत्ति के साथ 'विजयदान ग्रन्थमाला' सूरत से सन् १९३९ मे प्रकाशित हुआ है।

२ रामचन्द्रगणी के शिष्य आनन्दवल्लभकृत हिन्दी बालावबोध के साथ यह ग्रन्थ सन् १८७६ मे 'वनारस जैन प्रभाकर' मुद्रणालय मे छपा है।

यह विचारणीय है। इसकी गाथा २ से ७ मे श्रावक के अट्ठाईस कर्तव्य गिनाये गये हैं। जैसे कि—१ नवकार' गिनकर श्रावक का जागृत होना, २ मैं श्रावक हूँ, यह बात याद रखना, ३ अणुव्रत आदि कितने व्रत लिये है इसका विचार करना, ४ मोक्ष के साधनो का विचार करना। इसके पश्चात् उपर्युक्त २८ कर्तव्यो का निरूपण किया गया है।

बालावबोध—इस पर रामचन्द्रगणी के शिष्य आनन्दवल्लभ ने वि० स० १८८२ में एक बालवबोध लिखा है।

सड्ढविहि (श्राद्धविधि) :

जैन महाराष्ट्री में विरचित सत्रह पद्यो की इस कृति[1] के रचयिता सोमसुन्दर-सूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि है। इसमें दिवस, रात्रि, पर्व, चातुर्मास, सवत्सर और जन्म-इन छ बातो के विषय में श्रावको के कृत्यो की रूपरेखा दी गई है।

टीकाएँ—इस पर 'विधिकौमुदी' नाम की स्वोपज्ञ वृत्ति वि० स० १५०६ मे लिखी गई है। यह विविध कथाओ से विभूपित है। इसके प्रारम्भ मे ९०० श्लोको की सस्कृत कथा भद्रता आदि गुण समझाने के लिए दी गई है। आगे थावच्चा (स्थापत्या) पुत्र की और रत्नसार की कथाएँ आती हैं।

इस वृत्ति में श्रावक के इक्कीस गुण तथा मूर्ख के सौ लक्षण आदि विविध बातें आती है। भोजन की विधि व्यवहारशास्त्र के अनुसार पचीस सस्कृत श्लोकों मे दी गई है और इसके अनन्तर आगम आदि में से अवतरण दिये गये है। इस विधिकौमुदी मे निम्नलिखित व्यक्तियो आदि के दृष्टान्त (कथानक) आते है :

गाँव का कुलपुत्र, सुरसुन्दरकुमार की पाँच पत्नियाँ, शिवकुमार, बरगद की चील (राजकुमारी), अम्बड परिव्राजक के सात सौ शिष्य, दशार्णभद्र, चित्रकार, कुन्तला रानी, धर्मदत्त नृप, साँडनी, प्रदेशी राजा, जीर्ण श्रेष्ठी, भावड

---

१. यह कृति स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ जैन आत्मानन्द सभा ने वि० स० १९७४ में प्रकाशित की है। मूल एवं विधिकौमुदी टीका के गुजराती अनुवाद के साथ यह देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९५२ मे छापी है। यह गुजराती अनुवाद विक्रमविजयजी तथा भास्करविजयजी ने किया है। इसकी प्रस्तावना (पृ० ३) से ज्ञात होता है कि अन्य तीन गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुए है।

श्रेष्ठी, आभड श्रेष्ठी, सेठ की पुत्री, दो मित्र, हेलाक श्रेष्ठी, विश्व मेरा (विजयपाल), महणसिंह, धनेश्वर, देव और यश श्रेष्ठी, सोम नृप, रक श्रेष्ठी, बुढिया, मथर कोयरी, धन्य श्रेष्ठी, धनेश्वर श्रेष्ठी, धर्मदास, द्रमक मुनि, दण्डवीर्य नृप, लक्ष्मणा साध्वी और उदायन नृपति।

विषयनिग्रहकुलक

यह अज्ञातकर्तृक कृति है। इसमे इन्द्रियो को सयम मे रखने का उपदेश दिया गया है।

टीका—इसपर वि० स० १३३७ मे भालचन्द्र ने १०, ००८ श्लोक-परिमाण एक वृत्ति लिखी है।

प्रत्याख्यानसिद्धि

यह अज्ञातकर्तृक कृति है।

टीकाएँ—इसपर ७०० श्लोक-परिमाण एक विवरण सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जयचन्द्र ने लिखा है। जिनप्रभसूरि ने भी एक विवरण लिखा है। इसके अलावा इसपर किसी ने १५०० श्लोक-परिमाण टीका भी लिखी है।

आचारप्रदीप :

४०६५ श्लोक-परिमाण यह कृति[1] मुनिसुन्दरसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि ने वि० स० १५१६ मे रची है। इनका जन्म वि० स० १४५७ या १४५२ मे हुआ था। इन्होने दीक्षा वि० स० १४६३ मे ग्रहण की और पण्डित पद १४८३ मे, वाचकपद १४९३ मे तथा सूरिपद १५०२ मे प्राप्त किया था। इनका स्वर्गवास वि० स० १५१७ मे हुआ था। साधुरत्नसूरि इनके प्रतिबोधक गुरु तथा भुवनसुन्दरसूरि विद्यागुरु थे।

रत्नशेखरसूरि ने वि० स० १४९६ मे अर्थदीपिका अर्थात् श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति और वि० स० १५०६ मे सड्ढाविहि (श्राद्धविधि) और उसकी वृत्ति लिखी

---

१. यह ग्रन्थ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९२७ मे प्रकाशित किया है। इसमे आनन्दसागरसूरि का सस्कृत उपोद्घात एव अवतरणो का अनुक्रम दिया गया है। इसका प्रथम प्रकाश, प्राकृत विभाग की सस्कृत-छाया एव गुजराती अनुवाद खेडा की जैनोदय सभा ने वि० स० १९५८ मे छपवाया है।

है। श्राद्धविधिवृत्ति का उल्लेख श्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति मे और आचारप्रदीप का उल्लेख श्राद्धविधिवृत्ति मे आता है। इसका कारण आचारप्रदीप के उपोद्घात (पत्र २ आ तथा ३ अ) मे ऐसा लिखा है कि विषय पहले से निश्चित किये गये होगे और ग्रन्थरचना बाद मे हुई होगी, परन्तु मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ लिखे जाने के पश्चात् कालान्तर में उसमें अभिवृद्धि की गई होगी और उसी के परिणामस्वरूप यह स्थिति पैदा हुई होगी।

प्रस्तुत कृति पाँच प्रकाशो में विभक्त है। उनमे क्रमश ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—आचार के इन पांच भेदो का, प्रत्येक के उपभेदो के साथ, निरूपण किया है।[1] साथ ही इसमे विविध कथानक[2] तथा सस्कृत एवं प्राकृत उद्धरण दिये गये है। अन्त मे पन्द्रह श्लोको की प्रशस्ति है। इसके प्रथम प्रकाश का गुजराती अनुवाद रामचन्द्र दीनानाथ शास्त्री ने किया और वह छपा भी हैं।

चरित्रसार :

अजितसेन के शिष्य ने इसकी रचना की है।

चारित्रसार किंवा भावनासारसग्रह :

१७०० श्लोक-परिमाण यह कृति[3] चामुण्डराज अपर नाम रणरगसिंह ने लिखी है। ये जिनसेन के शिष्य थे।

---

१ यह विषय निशीथ के भाष्य एव चूर्णि तथा दशवैकालिक की निर्युक्ति मे आता है।

२ पृथ्वीपाल नृप के कथानक में समस्याएँ तथा गणित के उदाहरण दिये गये हैं। लेखक ने इनके विषय मे 'राजकन्याओनी परीक्षा' और 'राजकन्याओनी गणितनी परीक्षा' इन दो लेखो मे विचार किया है। पहला लेख 'जैनधर्मप्रकाश' (पु० ७५, अक २-३-४) में छपा है। गणित के विषय मे अग्रेजी मे भी लेखक ने एक लेख लिखा है जो Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute (Vol. xviii) मे छपा है।

३ यह कृति मणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला मे वीर-सवत् २४४३ मे प्रकाशित हुई है।

गुरुपारतंतथोत्त (गुरुपारतंत्र्यस्तोत्र)

अपभ्रंश के २१ पद्यो मे रचित इस कृति[1] के रचयिता जिनदत्तसूरि है। इसे सुगुरुपारतंत्र्यस्तोत्र, स्मरणा और मयरहियथोत्त भी कहते हैं। इसमें कतिपय मुनिवरो का गुणोत्कीर्तन है। उदाहरणार्थ—सुधर्मस्वामी, देवसूरि, नेमिचन्द्र-सूरि, उद्योतनसूरि इत्यादि।

टीकाएँ—जयसागरगणी ने वि० स० १३५८ मे इस पर एक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त धर्मतिलक ने, समयसुन्दरगणी ने तथा अन्य किसी ने भी एक-एक टीका लिखी है। समयसुन्दरगणी की टीका 'सुखावबोधा' प्रकाशित भी हो चुकी है।

धर्मलाभसिद्धि •

यह हरिभद्रसूरि ने लिखी है, ऐसा गणहरसद्धयग (गणधरसार्धशतक) की सुमतिकृत टीका में उल्लेख है। यह कृति अभी तक अनुपलब्ध है। ●

१ यह स्तोत्र सस्कृत-छाया के साथ 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' मे एक परिशिष्ट के रूप मे सन् १९२७ मे छपा है। इसके अतिरिक्त समयसुन्दरगणी की सुखावबोधा नाम की टीका के साथ यह सप्तस्मरणस्तव में 'जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार' ने सन् १९४२ मे छपवाया है।

षष्ठ प्रकरण

विधि-विधान, कल्प, मंत्र, तंत्र, पर्व और तीर्थ

पूजाप्रकरण

इसे पूजाविधि-प्रकरण[1] भी कहते हैं। इसके कर्ता वाचक उमास्वाति हैं ऐसा कई मानते हैं। १९ श्लोक की यह कृति मुख्यतया अनुष्टुप् छन्द में है। इसमें गृहचैत्य (गृह-मन्दिर) कैसी भूमि में बनाना चाहिये, देव की पूजा करने वाले को किस दिशा या किस विदिशा से पूजा करनी चाहिए, पुष्प-पूजा के लिये कौन से और कैसे पुष्पों का उपयोग करना चाहिये, वस्त्र कैसे होने चाहिए इत्यादि बातों का विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त नौ अंग की पूजा, अष्टप्रकारी पूजा तथा इक्कीस प्रकार की पूजा के ऊपर भी प्रकाश डाला गया है।

दशभक्ति :

'भक्ति' के नाम से प्रसिद्ध कृतियाँ दो प्रकार की मिलती हैं १ जैन शौरसेनी में रचित और २. संस्कृत में रचित। प्रथम प्रकार[2] की कृतियों के

---

१ बंगाल की 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' द्वारा वि० सं० १९५९ में प्रकाशित सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के द्वितीय परिशिष्ट के रूप में यह कृति छपी है। उसमें जो पाठान्तर दिये गये हैं उनमें पन्द्रहवें श्लोक के स्थान पर सम्पूर्ण पाठान्तर है। इसका श्री कुँवरजी आनन्दजीकृत गुजराती अनुवाद 'श्री जम्बूद्वीपसमास भाषान्तर पूजा-प्रकरण भाषान्तरसहित' नाम से जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर ने वि० सं० १९९५ में प्रकाशित किया है।

२. इस प्रकार की भत्ति (भक्ति) प्रभाचन्द्र की क्रियाकलाप नामक संस्कृत टीका तथा पं० जिनदास के मराठी अनुवाद के साथ सोलापुर से सन् १९२१ में प्रकाशित हुई है। उपर्युक्त दोनों प्रकार की भक्ति 'दश-भक्त्यादिसंग्रह' में संस्कृत अन्वय एवं हिन्दी अन्वय तथा भावार्थ के साथ 'अखिल विश्व जैन मिशन' ने सलाल (साबरकाठा) से वीर-संवत् २४८१ में प्रकाशित की है।

प्रणेता कुन्दकुन्दाचार्य हैं, तो दूसरी के पूज्यपाद—ऐसा प्रभाचन्द्र ने सिद्धभक्ति (गाथा १२) की क्रियाकलाप नाम की टीका (पृ० ६१) मे कहा है, परन्तु दोनो प्रकार की कृतियाँ कितनी-कितनी है इसका उल्लेख उन्होने नही किया।

१ सिद्धभत्ति (सिद्धभक्ति)—इसमें बारह पद्य है ऐसा प्रभाचन्द्र की टीका देखने पर ज्ञात होता है। इस भक्ति मे कहाँ-कहाँ से और किस-किस रीति से जीव सिद्ध हुए है यह कह कर उन्हे वन्दन किया गया है। इसमे सिद्धो के सुख एव अवगाहन के विषय मे उल्लेख है। अन्त में आलोचना आती है।

२. सुदभत्ति (श्रुतभक्ति)—इसमे बारह अंगों के नाम देकर दृष्टिवाद के भेद एव प्रभेदो के विषय मे निर्देश किया गया है।

३ चारित्तभत्ति (चारित्रभक्ति)—इसमे दस पद्य है। इसमें चारित्र के सामायिक आदि पाँच प्रकार तथा साधुओं के मूल एव उत्तर गुणों का निर्देश किया गया है।

४ अणगारभत्ति (अनगारभक्ति)—२३ पद्यो की इस कृति को 'योगिभक्ति' भी कहते है। इसमे सच्चे श्रमण का स्वरूप, उनके सद्गुणों को दो-तीन से लेकर चौदह तक के समूह द्वारा, स्पष्ट किया गया है। उनकी तपश्चर्या एव भिन्न-भिन्न प्रकार की लब्धियो का यहाँ उल्लेख किया गया है। इस कृति मे गुणधारी अनगारो का सकीर्तन है।

५ आयरियभत्ति (आचार्यभक्ति)—इसमें दस पद्य हैं। इसमे आदर्श आचार्य का स्वरूप बतलाया है। उन्हे क्षमा मे पृथ्वी के समान, प्रसन्न भाव मे स्वच्छ जल जैसे, कर्मरूप बन्धन को जलाने मे अग्नि तुल्य, वायु की भाँति नि सग, आकाश की तरह निर्लेप और सागरसम अक्षोभ्य कहा है।

६ पचगुरुभत्ति (पचगुरुभक्ति)—सात पद्यो की इस कृति को 'पचपरमेट्ठि-भत्ति' भी कहते है। इसमे अरिहन्त आदि पाँच परमेष्ठियों का स्वरूप बतला कर उन्हे नमस्कार किया गया है। इसमे पहले के छ पद्य स्रग्विणी छन्द मे और अन्तिम आर्या मे हैं।

७ तित्थयरभत्ति (तीर्थंकरभक्ति)—इसमे[1] आठ पद्य हैं। इसमे ऋषभदेव

---

१ दशभक्त्यादिसग्रह पृ० १२-३ मे यह भक्ति आती है, किन्तु वहाँ इसका 'भत्ति' के रूप मे निर्देश नही है।

से लेकर महावीरस्वामी तक के चौवीस तीर्थंकरों का संकीर्तन है। यह श्वेताम्बरो के 'लोगस्स सुत्त' के साथ मिलती-जुलती है।

८ निव्वाणभत्ति (निर्वाणभक्ति)—इसमे २७ पद्य हैं। इसमे ऋषभ आदि चौवीस तीर्थंकर, बलभद्र और कई मुनियो के नाम देकर उनकी निर्वाण-भूमि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह भौगोलिक दृष्टि से तथा पौराणिक मान्यता की अपेक्षा से महत्त्व की कृति है[1]।

टीका—उपर्युक्त आठ भक्तियो मे से प्रथम पांच पर प्रभाचन्द्र की क्रिया-कलाप नाम की टीका है। इन पांचो के अनुरूप संस्कृत भक्तियों पर तथा निर्वाण-भक्ति एव नन्दीश्वरभक्ति पर भी इनकी टीका है। इतर भक्तियो के कर्ता कुन्द-कुन्दाचार्य हैं अथवा अन्य कोई, इसका निर्णय करना अवशिष्ट है। यही बात दूसरी संस्कृत भक्तियों पर भी लागू होती है।

दशभक्त्यादिसंग्रह मे निम्नलिखित बारह भक्तियां प्राकृत कण्डिका एवं क्षेपक श्लोक सहित या रहित तथा अन्वय, हिन्दी अन्वयार्थ और भावार्थ के साथ देखी जाती हैं—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वर-भक्ति और चैत्यभक्ति। इनके पद्यों की संख्या क्रमशः १० (९+१), ३० १०, ८, ११, ११, ५, १५, १८, ३०, ६० और ३५ हैं।

१. सिद्धभक्ति—इसमे सिद्ध के गुण, सुख, अवगाहना आदि बातें आती हैं। साथ ही, जैन दृष्टि से मुक्ति और आत्मा का स्वरूप भी बतलाया है।

२ श्रुतभक्ति—इसमें पांच ज्ञान की स्तुति की गई है। केवलज्ञान को छोड-कर शेष ज्ञानो के भेद-प्रभेद एव दृष्टिवाद के पूर्व आदि विभागों का निरू-पण है।

३ चारित्रभक्ति—इसमे ज्ञानाचार आदि पांच आचारों की स्पष्टता की गई है।

४ योगिभक्ति—इसमे मुनियो के वनवास एव विविध ऋतुओं में परीषहो के सहन की बातो का वर्णन है।

---

१ इन आठो भक्तियों का साराश अंग्रेजी मे प्रवचनसार की प्रस्तावना (पृ० २६-२८) मे डा० उपाध्ये ने दिया है।

५. आचार्यभक्ति—इसमे आचार्य के गुणो का वर्णन है।

६. पंचगुरुभक्ति—इसमे पाँच परमेष्ठियो की रूपरेखा का आलेखन है।

७ तीर्थंकरभक्ति—इसमें ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरो के नाम आते हैं।

८ निर्वाणभक्ति—इसमे महावीरस्वामी के पाँच कल्याणको का वर्णन है।

९ शान्तिभक्ति—इसमे शान्तिप्राप्ति, प्रभुस्तुति का फल, शान्तिनाथ को वन्दन, आठि प्रातिहार्यों के नाम इत्यादि बातें वर्णित हैं।

१० समाधिभक्ति—इसमे सर्वज्ञ के दर्शन, सन्यासपूर्वक मृत्यु एव परमात्मा की भक्ति की इच्छा के विषय में उल्लेख है।

११ नन्दीश्वरभक्ति—इसमे त्रैलोक्य के चैत्यालयो एव नन्दीश्वर द्वीप के विषय मे जानकारी दी गई है।

१२ चैत्यभक्ति—इसमे विविध जिन-चैत्यालयो और प्रतिमाओ का कीर्तन एव जिनेश्वर को महानद की दी गई सागोपाग उपमा इत्यादि बाते आती है।

आवश्यकसप्तति :

इसे पाक्षिक-सप्तति भी कहते है। यह मुनिचन्द्रसूरि की रचना है।

सुखप्रबोधिनी .

यह वादी देवसूरि के शिष्य महेश्वरसूरि ने लिखी है। इस कार्य मे उन्हे वज्रसेनगणी ने सहायता की थी।

सम्मत्तुपायणविहि (सम्यक्त्वोत्पादनविधि)

यह कृति मुनिचन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री के २९५ पद्यो मे लिखी है। इसकी एक भी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख जिनरत्नकोश में नही है।

पच्चक्खाणसरूव (प्रत्याख्यानस्वरूप) .

३२९ गाथाओ[1] की इस कृति[2] की रचना यशोदेवसूरि ने जैन महाराष्ट्री में वि० स० ११८२ मे की है। ये वीरगणी के शिष्य चन्द्रसूरि के शिष्य थे। इसमे

१. जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० २६३) मे जो ३६० गाथाओ का उल्लेख है वह भ्रान्त प्रतीत होता है।

२. चार सौ श्लोक-परिमाण यह कृति सारस्वतविभ्रम, दानषट्त्रिंशिका विसेसणवई (विशेषणवती) तथा बीस विंशिकाओ के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था ने सन् १९२७ मे प्रकाशित की है।

प्रारम्भ मे प्रत्याख्यान के पर्याय दिये गये है। इसमे श्रद्धा-प्रत्याख्यान का विस्तृत निरूपण है। इसमे १. प्रत्याख्यान लेने की विधि, २ तद्विषयक विशुद्धि, ३. सूत्र की विचारणा, ४ प्रत्याख्यान के पारने की विधि, ५ स्वय पालन और ६ प्रत्याख्यान का फल—ये छ बातें अनुक्रम से उपस्थित की गई है। इस प्रकार इसमे छ द्वारो का वर्णन आता है। तीसरे द्वार मे नमस्कार सहित पौरुषी, पुरिमार्घ, एकाशन, एकस्थान, आचाम्ल, अभक्तार्थ, चरम, देशावकाशिक, अभिग्रह और विकृति—इन दस का अर्थ समझाया है। बीच-बीच मे नमस्कारसहित प्रत्याख्यान के दूसरे सूत्र भी दिये गये है। इसके अतिरिक्त दान एव प्रत्याख्यान के फल के विषय मे दृष्टान्त भी आते है।

३२८ वी गाथा मे आये हुए निर्देश के अनुसार प्रस्तुत कृति की रचना आवश्यक, पचाशक और पणवत्थु (पचवत्थुग) के विवरण के आधार पर की गई है।

टीका—इस पर ५५० पद्यो की एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति है।

सघपट्टक :

जिनवल्लभगणी ने विविध छन्दो के ४० पद्यो मे इसकी[1] रचना की है। इसमें उन्होने नीति एव सदाचार के विषय में निरूपण किया है। यह चित्तौड के महावीर जिनालय के एक स्तम्भ पर खुदवाया गया है। इसका ३८ वाँ पद्य षडरचक्रबन्ध से विभूषित है।

टीकाएँ—जिनपतिसूरि ने इस पर ३६०० श्लोक-परिमाण एक बृहट्टीका लिखी है। इस टीका के आधार पर हसराजगणी ने एक टीका लिखी है। लक्ष्मीसेन ने वि० स० १३३३ मे ५०० श्लोक-परिमाण एक लघुटीका लिखी है। ये हम्मीर के पुत्र थे। इसके अतिरिक्त साधुकीर्ति ने भी इस पर एक टीका लिखी है।

इस पर तीन वृत्तियाँ भी उपलब्ध है, जिनमे से एक के कर्ता जिनवल्लभगणी के शिष्य और दूसरी के विवेकरत्नसूरि है। तीसरी अज्ञातकर्तृक है। देवराज ने वि० स० १७१५ मे इस पर एक पजिका भी लिखी है।

---

१ यह कृति 'अपभ्रश काव्यत्रयी' के परिशिष्ट के रूप मे सन् १९२७ मे छपी है। इससे पहले जिनपतिसूरि की बृहट्टीका एव किसी के गुजराती अनुवाद के साथ बालाभाई छगनलाल ने सन् १९०७ मे यह छपवाई है।

अणुट्ठाणविहि (अनुष्ठानविधि) अथवा सुहवोहसामायारी (सुखबोध-सामाचारी) :

धनेश्वरसूरि के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री मे मुख्यतया गद्य मे इसकी[1] रचना की है। सूरि जी ने मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र आदि ग्रन्थ भी लिखे हैं।

अवतरणो से युक्त प्रस्तुत कृति १३८६ श्लोक-परिमाण है। इसके प्रारम्भ मे चार पद्य है। आद्य पद्य में महावीरस्वामी को नमस्कार करके अनुष्ठानविधि कहने की प्रतिज्ञा की है। इसके बाद के तीन पद्यो मे इस कृति के बीस द्वारो के नाम दिये गये है। उनमें निम्नांकित विषयो का निरूपण आता है

सम्यक्त्वारोपण एव व्रतारोपण की विधि, पाण्मासिक सामायिक, दर्शनादि प्रतिमाएँ, उपधान की विधि[2], उपधान प्रकरण, मालारोपण की विधि, इन्द्रियजय आदि विविध तप[3], आराधना, प्रव्रज्या, उपस्थापना एव लोच की विधि, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण, आचार्य, उपाध्याय एव महत्तरा—इन तीन पदो की विधि, गण की अनुज्ञा, योग, अचित्त परिष्ठापना और पौषध की विधि, सम्यक्त्व आदि की महिमा तथा प्रतिष्ठा[4], ध्वजारोपण और कलशारोपण की विधि।

प्रस्तुत कृति का उल्लेख जइजीयकप्प (यतिजीतकल्प) की वृत्ति मे साधु-रत्नसूरि ने किया है।

सामाचारी :

तिलकाचार्य की यह कृति[5] मुख्यत सस्कृत गद्य मे रचित है। ये श्री चन्द्र-प्रभसूरि के वशज और शिवप्रभ के शिष्य थे। १४२१ श्लोक-परिमाण इस

---

१. यह कृति सुबोधा-सामाचारी के नाम से देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने सन् १९२२ मे छपवाई है।

२ किसी ने ५३ गाथाओ का जैन महाराष्ट्री मे यह प्रकरण लिखा है। इसका प्रारम्भ 'पचनमोक्कारे किल' से होता है।

३ सैतीस प्रकार के तप का स्वरूप सस्कृत मे दिया गया है। इसमे मुकुट-सप्तमी आदि का भी निरूपण है।

४. विधिप्रतिष्ठाकल्प के आधार पर इसकी योजना की गई है ऐसा अन्त में कहा है।

५ यह कृति प्रकाशित है। इसकी एक ताडपत्रीय हस्तलिखित प्रति वि० स० १४०९ की मिलती है।

कृति के प्रारम्भ मे एक और अन्त मे प्रशस्ति के रूप मे छ श्लोक है। पहले श्लोक मे सम्यग्दर्शननन्दी इत्यादि की विधिरूप-सामाचारी का कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है। इसके पश्चात् इसमे निम्नलिखित विषयो को स्थान दिया गया है .

देशविरति-सम्यक्त्वारोपनन्दी की विधि, केवल देशविरतिनन्दी की विधि, श्रावको के व्रतो के करोडो भगो के साथ श्रावक के व्रत और अभिग्रहो के प्रत्याख्यान की विधि, उपासक की प्रतिमा की नन्दी की विधि, उपासक की प्रतिमाओ के अनुष्ठापन की विधि, उपधान की नन्दी की विधि, उपधान की विधि, मालारोपण की नन्दी की विधि, सामायिक और पौषध लेने की तथा इन दोनो के पारने की विधि, पौषधिक दिनकृत्य की विधि, बत्तीस प्रकार के तप का कुलक, तप के यन्त्र, कल्याणक, श्रावक के प्रायश्चित्तो का यन्त्र, प्रव्रज्या की विधि, लोच की विधि, उपस्थापना की विधि, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण से गर्भित साधु-दिनचर्या, योग के उत्क्षेप और निक्षेपपूर्वक योगनन्दी की विधि, योग के अनुष्ठान की विधि, योग के तप की विधि, योगक्षमाश्रमण की विधि, योग के कल्प्याकल्प्य की विधि, गणी और योगी के उपहनन की विधि, अनध्याय की विधि, कालग्रहण की विधि, वसति और काल के प्रवेदन की विधि, स्वाध्याय के प्रस्थापन की विधि, कालमण्डलप्रतिलेखन की विधि, वाचनाचार्य के स्थापन की तथा उसके विद्यायन्त्रलेखन की विधि, आचार्य और उपाध्याय की प्रतिष्ठा की विधि और महत्तरा के स्थापन की विधि।

प्रसगवश इस ग्रन्थ मे वर्धमान विद्या, सस्कृत मे छ श्लोको का चैत्य-वन्दन, मिथ्यात्व के हेतुओ का निरूपण करनेवाली आठ गाथाएँ, उपधान-विधिविषयक पैतालीस गाथाएँ, तप के बारे मे पच्चीस गाथाओ का कुलक, सस्कृत के छत्तीस श्लोको में रोहिणी की कथा, तैतीस आगमो के नाम आदि बातें भी आती हैं।

प्रश्नोत्तरशत किंवा सामाचारीशतक

इसके[1] कर्ता सोमसुन्दरगणी है। इसमे सौ अधिकार आते है और वे पाँच प्रकाशो मे विभक्त है। इन प्रकाशो के अधिकारो की सख्या ३७, ११,

---

१ यह ग्रन्थ सामाचारीशतक के नाम से 'जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार' ने सन् १९३९ मे प्रकाशित किया है।

१३, २७ और १२ है। इसके प्रारम्भ मे दस श्लोक और अन्त में प्रशस्ति के रूप में आठ श्लोक है। मुख्यरूप से यह ग्रन्थ गद्य मे है। इस ग्रन्थ के द्वारा खरतरगच्छविषयक जानकारी हमे उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ की मुद्रित आवृत्ति मे अधिकार के अनुसार विषयानुक्रम दिया गया है। इस प्रकार सौ अधिकारो के बारे में जो जानकारी प्रस्तुत की गई है उनमे से कुछ इस प्रकार है

'करेमि भते' के बाद ईर्यापथिकी, पर्व के दिन ही पौषध का आचरण, महावीरस्वामी के छ कल्याणक, अभयदेवसूरि के गच्छ के रूप मे खरतर का उल्लेख, साधुओ के साथ साध्वियो के विहार का निषेध, द्विदलविचार, तरुण स्त्री को मूल-प्रतिमा के पूजन का निषेध, श्रावको को ग्यारह प्रतिमा वहन करने का निषेध, श्रावण अथवा भाद्रपद अधिक हो तो पर्युषण पर्व कब करना, सूरि को ही जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा का अधिकार, तिथि की वृद्धि मे आद्य तिथि का स्वीकार, कार्तिक दो हो तो प्रथम कार्तिक में चातुर्मासादिक प्रतिक्रमण, जिन प्रतिमा का पूजन, योगोपधान की विधि, चतुर्थी के दिन पर्युषण, जिनवल्लभ, जिनदत्त एव जिनपति इन सूरियो की सामाचारी, पदस्थो की व्यवस्था, लोच, अस्वाध्याय, गुरु के स्तूप की प्रतिष्ठा की, श्रावक के प्रतिक्रमण की, पौषध लेने की, दीक्षा देने की और उपधान की विधि, साध्वी को कल्पसूत्र पढने का अधिकार, विंशतिस्थानक तप की और शान्ति की विधि।

पडिक्कमणसामायारी (प्रतिक्रमणसामाचारी)

यह जिनवल्लभगणी की जैन महाराष्ट्री मे रचित ४० पद्यो की कृति है। इसमे प्रतिक्रमण के बारे में विचारणा की गई है। यह सामाचारीशतक (पत्र १३७ अ-१३८ आ) में उद्धृत की गई है।

सामायारी (सामाचारी)

जैन महाराष्ट्री मे विरचित ३० पद्यो की इस कृति के रचयिता जिनदत्तसूरि है। यह उपर्युक्त सामाचारीशतक (पत्र १३८ आ-१३९ आ) मे उद्धृत की गई है। इसमे मूल-प्रतिमा की पूजा का स्त्री के लिए निषेध इत्यादि बातें आती है।

१ पोसहविहिपयरण (पौषधविधिप्रकरण)

यह भी उपर्युक्त जिनवल्लभगणी की कृति है। इसका साराश पन्द्रह पद्यो मे जिनप्रभसूरि ने विहिमग्गप्पवा (विधिमार्गप्रपा) के पृ० २१-२२ मे दिया है

और उसके चौदहवें पत्र में जिनवल्लभसूरिकृत 'पोसहविहिपयरण' देखने का निर्देश किया है। इसमें पौषध की विधि का विचार किया गया है।

टीका—इस पर जिनमाणिक्यसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि ने वि० सं० १६१७ में ३५५५ श्लोक-परिमाण एक टीका लिखी है।

२ पोसहविहिपयरण (पौषधविधिप्रकरण) .

जैन महाराष्ट्री में देवभद्ररचित इस कृति में ११८ पद्य हैं। इसी नाम की एक कृति चक्रेश्वरसूरि ने ९२ पद्यों में लिखी है। इन दोनों का विषय पौषध की विधि की विचारणा है।

पोसहियपायच्छित्तसामायारी (पौषधिकप्रायश्चित्तसामाचारी) .

अज्ञातकर्तृक इस कृति में जैन महाराष्ट्री में १० पद्य हैं।

टीका—इस पर तिलकाचार्य ने एक वृत्ति लिखी है।

सामायारी (सामाचारी)

यह जिनदत्तसूरि के प्रशिष्य जिनपतिसूरि ने जैन महाराष्ट्री के ७९ पद्य में लिखी है। यह सामाचारीशतक (पत्र १३९ आ–१४१ आ) में उद्धृत की गई है।

विहिमग्गप्पवा (विधिमार्गप्रपा)

जिनप्रभसूरि ने प्राय [3] जैन महाराष्ट्री में कोसल (अयोध्या) में वि० सं० १३६३ में इसकी[2] रचना की थी। यह ३५७५ श्लोक-परिमाण है। 'विधिमार्ग' खरतरगच्छ का नामान्तर है। इस प्रकार इस कृति में खरतरगच्छ के अनुयायियों के विधि-विधान का निर्देश है। यह रचना प्राय गद्य में है। प्रारम्भ के पद्य में कहा है कि यह श्रावकों एवं साधुओं की सामाचारी है। अन्त में सोलह पद्यों की प्रशस्ति है। इसके पहले के छ पद्यों में प्रस्तुत कृति जिन ४१ द्वारों में विभक्त है उनके नाम आते हैं और तेरहवें पद्य के द्वारा कर्ता ने सरस्वती एव पद्मावती से श्रुत की ऋद्धि समर्पित करने की प्रार्थना की है। उपर्युक्त ४१ द्वारों में अधोलिखित विषयों को स्थान दिया गया है .

---

१ मुद्राविधि नामक ३७वें द्वार का निरूपण (पृ० ११४–६) संस्कृत में है।

२ यह 'जिनदत्तसूरि भण्डार ग्रन्थमाला' में सन् ११४१ में प्रकाशित हुई है। इसका प्रथमादर्श कर्ता के शिष्य उदयाकरगणी ने लिखा था।

१ सम्यक्त्वारोपण की विधि, २. परिग्रह के परिमाण की विधि, ३. सामायिक के आरोपण की विधि, ४. सामायिक लेने और पारने की विधि, ५ उपधान-निक्षेपण की विधि, ६ उपधान-सामाचारी, ७ उपधान की विधि, ८ मालारोपण की विधि, ९. पूर्वाचार्यकृत उवहाणपइट्ठापचाशय[1] (उपधान-प्रतिष्ठापचाशक), १० पौपध की विधि, ११ दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि, १२. पाक्षिक प्रतिक्रमण की विधि, १३ रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि, १४. तप[2] की विधि, १५ नन्दी की रचना की विधि, १६ प्रव्रज्या की विधि, १७ लोच करने की विधि, १८ उपयोग की विधि, १५ आद्य अटन की विधि, २०. उपस्थापना की विधि, २१ अनध्याय की विधि, २२ स्वाध्याय-प्रस्थापन की विधि, २३ योग-निक्षेप की विधि, २४ योग की विधि, २५. कल्प-तिप्प सामाचारी, २६ याचना की विधि, २७ वाचनाचार्य की प्रस्थापना की विधि, २८ उपाध्याय की प्रस्थापना की विधि, २९ आचार्य[3] की प्रस्थापना की विधि, ३०. प्रवर्तिनी और महत्तरा की प्रस्थापना की विधि, ३१. गण की अनुज्ञा की विधि, ३२. अनशन की विधि[4], ३३ महापारिष्ठापनिका[5] की विधि, ३४. प्रायश्चित्त की विधि, ३५ जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा की विधि, ३६. स्थापनाचार्य की प्रतिष्ठा-विधि, ३७ मुद्रा-विधि, ३८ चौसठ योगिनियो के नामोल्लेख के साथ उनका उपशम-प्रकार, ३९ तीर्थयात्रा की विधि, ४० तिथि की विधि और ४१ अगविद्या-सिद्धि की विधि ।

इन द्वारो मे निरूपित विपयो के तीन विभाग किये जा सकते है। १ से १२ द्वारो मे आनेवाले विपय मुख्यरूप से श्रावक के जीवन के साथ सम्बन्ध रखते है, १३ से २९ तक के विपयो का मुख्य सम्बन्ध साधु-जीवन के साथ है, जबकि ३० से ४१ तक के विपयो का सम्बन्ध श्रावक एव साधु दोनो के जीवन से है ।

---

१ इसमे ५१ पद्य जैन महाराष्ट्री मे है ।

२ इसमे अनेक प्रकार के तपो के नाम आते है। मुकुट-सप्तमी आदि तप अनादरणीय है, ऐसा भी कहा है ।

३ इस विषय मे अनुशिष्टि के रूप मे पृ० ६८ से ७१ पर जो ३ से ५५ गाथाएँ उद्धृत की गई है वे माननीय है ।

४. इसमे कालधर्मप्राप्त साधु के शरीर के अन्तिम सस्कार का निरूपण है ।

४. इसकी रचना विनयचन्द्रसूरि के उपदेश से की गई है ।

कई द्वारों के उपविषय 'विषयानुकम' मे दिखलाये गये है । उदाहरणार्थ—पाँचवे द्वार के अन्तर्गत पचमगल-उपधान, चोबीसवे के अन्तर्गत दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग आदि चार अग, निशीथादि छेदसूत्र, छठे से ग्यारहवाँ अग, औपपातिक आदि उपाग, प्रकीर्णक, महानिशीथ की विधि एव योगविधान प्रकरण, चौतीसवे के अन्तर्गत ज्ञानातिचार, दर्शनातिचार और मूलगुण के सम्बन्ध मे प्रायश्चित्त, पिण्डालोचनाविधान प्रकरण, उत्तरगुण, वीर्याचार और देशविरति के प्रायश्चित्त एव आलोचनाग्रहणविधि प्रकरण तथा उपमा द्वार के प्रतिष्ठाविधि-सग्रह-गाथा, अधिवासनाधिकार, नन्द्यावर्त-लेखन, जलानयन, कलशारोपण और ध्वजारोपण की विधि, प्रतिष्ठोपकरण-सग्रह, कूर्मप्रतिष्ठाविधि, प्रतिष्ठासग्रहकाव्य, प्रतिष्ठाविधिगाथा और कहारयणकोस (कथारत्नकोश) मे से ध्वजारोपणविधि ।

प्रस्तुत कृति मे कई रचनाएँ समग्ररूप से अथवा अशत सगृहीत की गई हैं । उदाहरणार्थ—उपधान की विधि नामक सातवें द्वार के निरूपण मे मानदेव-सूरिकृत ५४ गाथाओ का 'उवहाणविहि'[1] नाम का प्रकरण, नवे द्वार मे ५१ गाथाओ का 'उवहाणपइट्ठापचासय',[2] नन्दिरचनाविधि नामक पन्द्रहवें द्वार मे ३६ गाथाओ का 'अरिहाणादिथोत्त,'[3] योगविधि नामक चौबीसवें द्वार के निरूपण मे उत्तराध्ययन का १३ गाथाओ का चौथा अध्ययन,[4] प्रतिष्ठाविधि नामक पैंतीसवें द्वार के निरूपण मे 'कहारयणकोस' मे से ५० गाथाओ का 'धयारोवणविहि'[5] (ध्वजारोपणविधि) नाम का प्रकरण तथा चन्द्रसूरिकृत सात प्रतिष्ठासग्रहकाव्य[6] । ६८ गाथाओ का जो 'जोगविहाणपयरण' पृ० ५८ से ६२ पर आता है वह स्वय ग्रन्थकार की रचना होगी ऐसा अनुमान होता है ।

प्रतिक्रमक्रमविधि :

सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जयचन्द्रसूरि ने वि० स० १५०६ मे इसकी[7] रचना की है । इसका यह नाम उपान्त्य पद्य मे देखा जाता है । इसके प्रारम्भ मे एक

---

१ देखिए—पृ० १२-४
२ देखिए—पृ० १६-९
३ देखिए—पृ० ३१-३.
४ देखिए—पृ० ४९-५०
५ देखिए—पृ० १११-४
६ देखिए—पृ० ११०-१
७ यह कृति 'प्रतिक्रमणगर्भहेतु' नाम से श्री पानाचन्द वहालजी ने सन् १८९२ मे छपाई है । इसका 'प्रतिक्रमणहेतु' नाम से गुजराती सार जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९०५ मे प्रकाशित किया था ।

पद्य और अन्त मे तीन पद्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्तिम भाग मे प्रतिक्रमण के आठ पर्यायो के विपय में एक-एक दृष्टात पद्य मे है। पत्र २४ आ और २५ अ मे आये हुए उल्लेख के अनुसार ये दृष्टान्त आवश्यक की लघुवृत्ति में से उद्धृत किये गये हैं।

मुख्य रूप से गद्यात्मक इस कृति में प्रतिक्रमण के सूत्रो के क्रम का हेतु तथा प्रतिक्रमण मे अमुक क्रिया के पश्चात् अमुक क्रिया क्यो की जाती है इसपर प्रकाश डाला गया है। वीच-वीच मे उद्धरण भी दिये गये हैं। यहाँ प्रतिक्रमण से आवश्यक अभिप्रेत है। यह आवश्यक सामायिक आदि छ अध्ययनात्मक है। इन सामायिक आदि से ज्ञानाचार आदि पाँच आचारो मे से किसकी शुद्धि होती है यह वतलाया है। देववन्दन के वारह अधिकार, कायोत्सर्ग के १९ दोष, वन्दनक के ३२ दोप, दैवसिक आदि पाँच प्रतिक्रमणो की विधि, प्रतिक्रमण के प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, प्रतिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि—ये आठ पर्याय और इनमे से प्रारम्भ के सात की स्पष्टता करने के लिए अनुक्रम से मार्ग, प्रासाद, दूध की बहँगी, विषभोजन, दो कन्याएँ, चित्रकार की पुत्री और पतिघातक स्त्री ये सात दृष्टान्त तथा आठवें पर्याय के बोध के लिए वस्त्र एव ओपधि के दो दृष्टान्त दिये गये है। अन्त मे गन्धर्व नागदत्त एव वैद्य के दृष्टान्त दिये गये हैं।

पर्युषणाविचार :

यह हर्षसेनगणी के शिष्य हर्षभूपणगणी की कृति है। इसे पर्युषणास्थिति एव वर्तितभाद्रपदपर्युषणाविचार भी कहते है। यह वि० स० १४८६ की रचना है और इसमे २५८ पद्य है। इसमे पर्युषणा के विपय मे विचार किया गया है।

श्राद्धविधिविनिश्चय :

यह भी उपर्युक्त हर्षभूपणगणी की वि० स० १४८० मे रचित कृति है।

दशलाक्षणिकव्रतोद्यापन

इसके[1] रचयिता अभयनन्दी के शिष्य सुमतिसागर है। इसका प्रारम्भ 'विमलगुणसमृद्ध' से किया गया है। इसमे क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच,

---

१ यह 'शान्तिसागर दिगम्बर ग्रन्थमाला' (सन् १९५४) के 'दिगम्बर जैन व्रतोद्यापनसग्रह' की दूसरी आवृत्ति के अन्त मे दिया गया है। इसमे आशाधरकृत महाभिषेक, महीचन्द्र शिष्य जयसागरकृत रविव्रतोद्यापन तथा श्रीभूषणकृत षोडशकारणव्रतोद्यापन भी छपे है।

संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—इन दस प्रकार के धर्मांगो के विषय मे एक-एक पूजा और उसके अन्त मे जयमाला तथा अन्त मे समुच्चय जयमाला इस प्रकार विविध विषय आते है। जयमाला के अतिरिक्त समग्र ग्रन्थ प्राय सस्कृत मे है।

दशलक्षणव्रतोद्यापन :

यह ज्ञानभूषण ने लिखा है। इसे दशलक्षणोद्यापन भी कहते है। इसमे क्षमा आदि दस धर्मांगो के विषय में जानकारी दी गई है।

१ पइट्ठाकप्प (प्रतिष्ठाकल्प) :

भद्रबाहुस्वामी ने इसकी रचना की थी ऐसा उल्लेख सकलचन्द्रगणीकृत प्रतिष्ठाकल्प के अन्त में आता है।

२. प्रतिष्ठाकल्प .

यह श्यामाचार्य की रचना है ऐसा सकलचन्द्रगणी ने अपने ग्रन्थ 'प्रतिष्ठाकल्प' के अन्त में कहा है।

३. प्रतिष्ठाकल्प :

यह हरिभद्रसूरि की कृति कही जाती है। सकलचन्द्रगणी ने अपने 'प्रतिष्ठाकल्प' के अन्त मे जिस हरिभद्रसूरिकृत प्रतिष्ठाकल्प का उल्लेख किया है वह यही होगा। परन्तु यह कृति अभी तक उपलब्ध नही हुई है।

४ प्रतिष्ठाकल्प

यह कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिरचित माना जाता है। सकलचन्द्रगणीकृत प्रतिष्ठाकल्प के अन्त मे इसी का उल्लेख है, ऐसा प्रतीत होता है।

५ प्रतिष्ठाकल्प

यह गुणरत्नाकरसूरि की रचना है। इसका उल्लेख सकलचन्द्रगणीकृत प्रतिष्ठाकल्प के अन्त में है।

६ प्रतिष्ठाकल्प

यह माघनन्दी की रचना कही जाती है।

७. प्रतिष्ठाकल्प .

यह हस्तिमल्ल की रचना है।

८. प्रतिष्ठाकल्प

यह हीरविजयसूरि के शिष्य सकलचन्द्रगणी की कृति[1] है। इन्होने गणधर-स्तवन, बारह-भावना, मुनिशिक्षास्वाध्याय, मृगावती-आख्यान (वि० स०

---

१. देखिए—जिनरत्नकोश, विभाग १ पृ० २६०.

१६५४), वासुपूज्यजिन-पुण्यप्रकाशरास (वि० स० १६७१), वीरजिन हमचडी, वीरहुण्डीस्तवन, सत्तरभेदी-पूजा, साधुकल्पलता (वि० स० १६८२) और हीरविजयसूरिदेशनासुरवेलि (वि० स० १६९२) ग्रन्थो की रचना की है।

इस प्रतिष्ठाकल्प के प्रारम्भ मे जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा और पूजाविधि कहने की प्रतिज्ञा की है। इसके अनन्तर अधोलिखित विषय इसमें आते है

प्रतिष्ठा करनेवाले श्रावक का लक्षण, प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य का लक्षण, स्नात्र के प्रकार, मण्डप का स्वरूप, भूमि का शोधन, वेदिका, दातुन इत्यादि के मत्र, पहले दिन की विधि—जलयात्रा, कुम्भस्थापन की विधि; दूसरे दिन की विधि—नन्द्यावर्त का पूजन, तीसरे दिन की विधि—क्षेत्रपाल, दिक्पाल, भैरव, सोलह विद्यादेवी और नौ ग्रहो का पूजन, चौथे दिन की विधि—सिद्धचक्र का पूजन; पाँचवें दिन की विधि—वीस स्थानक का पूजन, छठे दिन की विधि—च्यवनकल्याणक की विधि, इन्द्र और इन्द्राणी का स्थापन, गुरु का पूजन, च्यवनमत्र, प्राणप्रतिष्ठा, सातवें दिन की विधि—जन्मकल्याणक की विधि, शुचीकरण, सकलीकरण, दिक्कुमारियाँ, इन्द्र एव इन्द्राणियो का उत्सव, आठवें दिन की विधि—अठारह अभिषेक और अठारह स्नात्र, नवें दिन की विधि—लेखनशाला की विधि, विवाह एव दीक्षा का महोत्सव, दसवे दिन की विधि—केवलज्ञान-कल्याणक, अजनविधि, निर्वाणकल्याणक, जिनबिम्ब की स्थापना और दृष्टि, सकलीकरण, शुचिविधि, बलि-विषयक मत्र, सक्षिप्त प्रतिष्ठाविधि, जिनबिम्ब के परिकर, कलश के आरोपण और ध्वजारोपण की विधि, ध्वजादि-विषयक मत्र, ध्वजादि का परिमाण और चौतीस का यंत्र[1]।

१. यह यत्र इस प्रकार है

५	१६	३	१०
४	९	६	१५
१४	७	१२	१
११	२	१३	८

इस ग्रन्थ के अन्त में गुणरत्नाकरसूरि, जगच्चन्द्रसूरि, श्यामाचार्य, हरिभद्रसूरि एव हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित भिन्न-भिन्न प्रतिष्ठाकल्पो का आधार लेने का और विजयदानसूरि के समक्ष उनसे मिलान कर लेने का उल्लेख है।[1]

प्रतिष्ठासारसग्रह :

वसुनन्दी ने लगभग ७०० श्लोको मे इसकी रचना की है। यह छ विभागो मे विभक्त हैं। इस कृति का उल्लेख आशाधर ने जिनयज्ञकल्प में किया है।

टीका—इस पर एक स्वोपज्ञवृत्ति है।

जिनयज्ञकल्प :

इसकी[2] रचना आशाधर ने वि० स० १२८५ मे की है। इसे प्रतिष्ठाकल्प या प्रतिष्ठासारोद्धार भी कहते है। इसमें वसुनन्दी की इसी विषय की प्रतिष्ठा-सारसग्रह नाम की कृति का उल्लेख है।

रत्नत्रयविधान :

यह भी आशाधर की कृति है। इसे 'रत्नत्रयविधि' भी कहते है। इसका उल्लेख आशाधर ने धर्मामृत की प्रशस्ति में किया है।

सूरिमत्र :

इसके[3] सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा (पृ० ६७) मे कहा है कि यह सूरिमत्र महावीरस्वामी ने गौतमस्वामी को २१०० अक्षर-परिमाण कहा था और उन्होने (गौतमस्वामी ने) उसे ३२ श्लोको मे गूँथा था। यह धीरे-धीरे घटता जाता है और दु प्रसह मुनि के समय में ढाई श्लोक-परिमाण रहेगा।

इस मत्र मे पाँच पीठ हैं : १ विद्यापीठ, २ महाविद्या—सौभाग्यपीठ, ३ उपविद्या—लक्ष्मीपीठ, ४. मत्रयोग—राजपीठ और ५ सुमेरुपीठ।

---

१ मूल कृति का किसी ने गुजराती मे अनुवाद किया है। सोमचन्द हरगोविन्द-दास और छबीलदास केसरीचन्द सघवी इस मूल कृति के सयोजक एवं प्रकाशक है। इन्होंने यह गुजराती अनुवाद वि० स० २०१२ में प्रकाशित किया है। उसमे जिनमुद्रा, परमेष्ठिमुद्रा इत्यादि उन्नीस मुद्राओ के चित्र दिये गये है। पहली पट्टिका के ऊपर च्यवन एव जन्मकल्याणको का एक-एक चित्र है और दूसरी के ऊपर केवलज्ञान-कल्याणक तथा अजन-क्रिया का एक-एक चित्र है।

२ यह कृति श्री मनोहर शास्त्री ने वि० सं० १९७४ में प्रकाशित की है।

३ यह प्रकाशित है (देखिए—आगे की टिप्पणी)।

प्रदेशविवरण—इसे सूरिविद्याकल्प भी कहते हैं। इसकी रचना जिनप्रभसूरि ने की है। ऐसा लगता है कि यही सूरिमन्त्रबृहत्कल्पविवरण के नाम से प्रकाशित किया गया है।

सूरिमन्त्रकल्प

इसकी रचना जिनप्रभसूरि ने की है ऐसा स्वय उन्होने विधिमार्गप्रपा (पृ० ६७) मे लिखा है।

सूरिमन्त्रबृहत्कल्पविवरण

यह जिनप्रभसूरि की रचना[१] है। इसमे सूरिमन्त्र के अक्षरो का फलादेश कभी गद्य मे तो कभी पद्य मे बतलाया है। प्रारम्भ मे 'अर्हन्' को नमस्कार करके सूरिमन्त्र के कल्प के तथा आप्त के उपदेश के आधार पर सम्प्रदाय का अश बतलाने की प्रतिज्ञा की गई है। उसके पश्चात् विद्यापीठ, विद्या, उपविद्या, मन्त्रपीठ और मन्त्रराज—इन पाँच प्रस्थानो का उल्लेख करके पाँच प्रस्थानो के नान्दीपदो की सख्या बतलाई है। जिनप्रभसूरि ने उन्हे सोलह नान्दीपद अभिप्रेत है ऐसा कहकर उनका उल्लेख किया है। इसमें विविध रोगो को दूर करने की विधि बतलाई गई है।

वर्धमानविद्याकल्पोद्धार :

इसका[२] उद्धार वाचक चन्द्रसेन ने किया है। इसके प्रारम्भ में उपाध्याय, वाचनाचार्य, महत्तरा और प्रवर्तिनी के नित्यकृत्य बतलाये गए हैं। इसके

---

१ यह कृति डाह्याभाई महोकमलाल ने अहमदाबाद से सन् १९३४ में प्रकाशित की है। इसका सशोधन मुनि (अब सूरि) श्री प्रीतिविजयजी ने किया है। उसमे कोई-कोई पक्ति गुजराती में देखी जाती है। सम्भवत वह सशोधक ने जोड दी होगी। कही-कही जैन महाराष्ट्री में लिखा हुआ देखा जाता है। शल्योद्धार तथा निधिनिर्णय के सम्बन्ध में कई कोष्ठक दिये गये है। अन्त में सूरिमन्त्र है।

२. यह कृति जिनप्रभसूरिकृत बृहत् ह्रीकारकल्पविवरण के साथ 'सूरिमन्त्र-यन्त्रसाहित्यादिग्रन्थावलि' पुष्प ८-९ मे श्री डाह्याभाई महोकमलाल ने अहमदाबाद से प्रकाशित की है। इसमें प्रकाशनवर्ष नही दिया है। इसमें जिनप्रभसूरिकृत '*वद्धमाणविज्जाथवण*' भी छपा है।

अनन्तर भूमिशुद्धि, सकलीकरण, वज्रस्वामीरचित और तृतीय पीठ में सूचित वर्धमान विद्याकल्प की देवतावसरविधि, वर्धमानविद्यासम्प्रदाय, द्वितीया और तृतीया वर्धमानविद्या, वर्धमानयंत्र, मंत्र की शुद्धि, प्राक्सेवा, बृहत् वर्धमानविद्या और गौतमवाक्य–इस प्रकार विविध बातें दी गई हैं। इनके अतिरिक्त इस कृति में कतिपय मुद्राओं का भी उल्लेख है[1]।

बृहत् ह्रींकारकल्प

'ह्रींकारेण विना यन्त्र' से इस मूल कृति[2] का आरम्भ होता हो, ऐसा लगता है। यदि ऐसा न हो तो जिनप्रभसूरिद्वारा रचित विवरण के गद्यात्मक भाग के बाद का यह आद्य पद्य है। प्रारम्भ में इस प्रकार का मंत्र दिया है—"ॐ ह्रीं ऐं त्रैलोक्यमोहिनी चामुण्डा महादेवी सुरवन्दनी ह्रीं ऐं स्वाहा।" इसके पश्चात् पूजाविधि, ध्यानविधि, मायाबीजमंत्र के आराधन की विधि, होम की विधि, मायाबीज के तीन स्तवन, मायाबीजकल्प, हवन की विधि, परमेष्ठिचक्र के विषय में रक्त, पीत इत्यादि मायाबीज-साधनविधि, चोर आदि से रक्षण, वश्ययंत्र की विधि, आकर्षण की विधि, ह्रींकारविधान, ह्रींलेखाकल्प और मायाकल्प—इस प्रकार विविध बातें आती हैं।

टीका—इस मूल कृति के ऊपर जिनप्रभसूरि ने एक विवरण लिखा है। उसमें कुछ भाग संस्कृत में है तो कुछ गुजराती में है। उपर्युक्त विषयों में से मूल के कौन से और विवरण के कौन से, यह स्पष्ट रूप से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि मुद्रित पुस्तक में बड़े टाइप में जो पद्य छपे हैं वे ही मूल के हैं या नहीं यह विचारणीय है।

---

१. 'वर्धमानविद्यापट' के विषय में एक लेख डा० उमाकान्त शाह ने लिखा है और वह Journal of the Indian Society of Oriental Arts, Vol ix में सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ है।

२ यह कृति या इसका जिनप्रभसूरिकृत विवरण या ये दोनों 'बृहत् ह्रींकार-कल्पविवरणम् तथा (वाचक चन्द्रसेनोद्धृत) 'वर्धमानविद्याकल्प' के नाम से जो पुस्तक 'श्रीसूरिमंत्रयंत्रसाहित्यादि ग्रन्थावलि', पुष्प ८-९ छपी है, उसमें देखे जाते हैं। इसका प्रकाशनवर्ष नहीं दिया गया है।

१ वर्धमानविद्याकल्प

अनेक अधिकारो मे विभक्त यह कृति[1] यशोदेवसूरि के शिष्य विबुधचन्द्र के शिष्य और गणित-तिलक के वृत्तिकार सिंहतिलकसूरि ने लिखी है। इसके प्रारम्भ के तीन अधिकारो मे अनुक्रम से ८९, ७७ और ३६ पद्य है।

२ वर्धमानविद्याकल्प

इस नाम की एक कृति यशोदेव ने तथा अन्य किसी ने भी लिखी है।

मत्रराजरहस्य

८०० श्लोक-परिमाण यह कृति उपर्युक्त सिंहतिलकसूरि ने 'गुण-त्रय-त्रयोदश' अर्थात् वि स १३३३ मे लिखी है।

टीका—इस पर स्वय कर्ता ने लीलावती नाम की वृत्ति लिखी है।

विद्यानुशासन

यह जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण की कृति है जो चौबीस प्रकरणो मे विभक्त है। इसमे ५,००० मत्र है।[2]

विद्यानुवाद

यह विविध यत्र, मत्र एव तत्र की सग्रहात्मक कृति[3] है। यह सग्रह सुकुमारसेन नामक किसी मुनि ने किया है। इसमे 'विज्जाणुवाय' पूर्व मे से अवतरण दिये गये है। इस संग्रह मे कहा है कि ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरो की एक-एक शासनदेवी के सम्बन्ध मे एक-एक कल्प की रचना की गई थी। सुकुमारसेन ने अम्बिकाकल्प, चक्रेश्वरीकल्प, ज्वालामालिनीकल्प और भैरव-पद्मावतीकल्प—ये चार कल्प देखे थे।[4]

---

१ यह कृति सिंहतिलकसूरि की ही वृत्ति के साथ सम्पादित होकर गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज मे सन् १९३७ मे प्रकाशित हुई है।

२ देखिए—'अनेकान्त' वर्ष १, पृ० ४२९

३ इसकी कई प्रतियाँ अजमेर और जयपुर के भण्डारो मे है, ऐसा प० चन्द्रशेखर शास्त्री ने 'भैरव-पद्मावतीकल्प' की प्रस्तावना (पृ० ७) मे निर्देश किया है।

४ यह परिचय उपर्युक्त प्रस्तावना (पृ० ८) के आधार पर दिया गया है।

भैरव-पद्मावतीकल्प

जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण ने इसकी[1] रचना की है। ये जिनसेन कनकसेनगणी के शिष्य और अजितसेनगणी के प्रशिष्य थे। इस आधार से मल्लिषेण की गुरु-परम्परा इस प्रकार बताई जा सकती है—
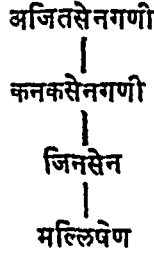
प्रस्तुत मल्लिषेण दिगम्बर है। इन्होने इस भैरव-पद्मावतीकल्प के अतिरिक्त ज्वालिनीकल्प, नागकुमारचरित्र अर्थात् श्रुतपचमीकथा, महापुराण[2] और सरस्वतीमत्रकल्प नामक ग्रन्थ भी लिखे हैं। प्रस्तुत कृति के ३३१ पद्य दस अधिकारो मे विभक्त है।[3] श्री नवाब द्वारा प्रकाशित पुस्तक मे ३२८ पद्य है। इसमे अन्य प्रकाशन मे 'वनारुणासितैः' से शुरू होनेवाला तीसरे अधिकार का तेरहवाँ पद्य, 'स्तम्भने तु' से शुरू होनेवाला चौथे अधिकार का श्रीरंजिका यत्र-विषयक बाईसवाँ पद्य तथा ''सिन्दूरारुण'' से शुरू होनेवाला इकतीसवाँ पद्य इस प्रकार कुल तीन पद्य नही है।

प्रथम अधिकार के चौथे पद्य मे दसो अधिकारो के नाम दिये गये है जो इस प्रकार है १. साधक का लक्षण, २ सकलीकरण की क्रिया, ३ देवी के पूजन

---

१ यह कृति बन्धुसेन के विवरण तथा गुजराती अनुवाद, ४४ यत्र, ३१ परिशिष्ट एव आठ तिरगे चित्रो के साथ साराभाई नवाब ने सन् १९३७ मे प्रकाशित की है। इसके अतिरिक्त प. चन्द्रशेखर शास्त्रीकृत हिन्दी भाषा-टीका, ४६ यत्र एव पद्मावती-विषयक कई रचनाओ के साथ यह श्री मूलचन्द किसनदास कापडिया ने वीर-सवत् २४७९ मे प्रकाशित की है।

२. इसे त्रिषष्टिमहापुराण तथा त्रिषष्टिशलाकापुराण भी कहते हैं। इसका रचनाकाल वि स ११९४ है।

३. दसवें अधिकार के ५६ वें पद्य में प्रस्तुत कृति ४०० श्लोक की होने का तथा सरस्वती ने कर्ता को वरदान दिया था इस बात का उल्लेख है।

की विधि, ४. बारह यत्र के भेद का कथन, ५. स्तम्भन, ६. स्त्री का आकर्षण, ७. वश्यकर्म का यत्र, ८. दर्पण आदि निमित्त, ९. वश्य (वशीकरण) की औषधि और १०. गारुडिक।

प्रथम अधिकार के पहले श्लोक मे पार्श्वनाथ को प्रणाम करके 'भैरव पद्मावतीकल्प' के कहने की प्रतिज्ञा आती है। दूसरे में पद्मावती का वर्णन आता है और तीसरे मे उसके तोतला, त्वरिता, नित्या, त्रिपुरा, कामसाधिनी और त्रिपुरभैरवी—ये छ नाम दिये गये हैं[1]। पाँचवे मे कर्ता एव पुस्तक का नाम तथा आर्या, गीति एव श्लोक (अनुष्टुप्) मे रचना की जायगी, ऐसा निर्देश है। पद्य ६ से १० मे मत्र-साधक अर्थात् मत्र सिद्ध करने वाले साधक के विविध लक्षण दिये गये हैं, जैसेकि–काम, क्रोध आदि के ऊपर विजय प्राप्त, जिनेश्वर और पद्मावती का भक्त, मौन धारण करनेवाला, उद्यमी, सयमी जीवन बितानेवाला, सत्यवादी, दयालु और मत्र के बीजभूत पदो का अवधारण करनेवाला। ग्यारहवे पद्य में उपर्युक्त गुणो से रहित जो जप करता है उसे पद्मावती नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित करके हैरान करती है, ऐसा कहा है।

दूसरे अधिकार मे मत्र-साधक द्वारा की जानेवाली आत्मरक्षा के बारे में, साध्य और साधक के अश गिनने की रीति के विषय मे तथा कौन-सा मत्र कब सफल होता है, इसके विषय मे जानकारी दी गई है। बारहवें पद्य मे पद्मावती का वर्णन आता है, जिसमे उसे तीन नेत्रोवाली और कुर्कुट—सर्परूप वाहनवाली कहा गया है[2]। इसके अतिरिक्त आय, सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और शत्रु की व्याख्या दी गई है।

तीसरे अधिकार मे शान्ति, विद्वेष, वशीकरण, बन्ध, स्त्री-आकर्षण और स्तम्भन—इन छ प्रकार के कर्मों का और इनकी दीपन, पल्लव, सम्पुट, रोधन, ग्रथन और विदर्भन नाम की विधि का निरूपण है। इसके पश्चात् उपर्युक्त छ प्रकार के कर्मों के काल, दिशा, मुद्रा, आसन, वर्ण, मनके आदि का विवेचन किया गया है। इसके बाद गृहयत्रोद्धार, लोकपाल एवं आठ देवियो की स्थापना,

---

१ ये नाम पद्मावती के भिन्न-भिन्न वर्ण व हाथ में रही हुई भिन्न-भिन्न वस्तुओ के आधार पर दिये गये हैं। इनकी स्पष्टता 'अनेकान्त' (वर्ष १, पृ० ४३०) में की गई है।

२. ऐसे वर्णनवाली एक देवी की वि० स० १२५४ मे प्रतिष्ठित मूर्ति ईडर के सम्भवनाथ के दिगम्बर मन्दिर मे है।

आह्वाहन, स्थापना, सन्निधि, पूजन और विसर्जन—इन पाँच उपचारो के विषय मे तथा मन्त्रोद्धार, पद्मावती और पार्श्व यक्ष के जप और होम तथा चिन्तामणि यत्र के विषय मे जानकारी प्रस्तुत की गई है।

चौथे अधिकार के प्रारम्भ में 'ह्लीं' रजिकायत्र कैसे बनाना यह समझाया है। इसके अनन्तर रजिकायत्र के ह्ली, हुँ, य, य, ह, फट्, म, ई, क्षवपट्, ल और श्री[1]—इन ग्यारह भेदो का वर्णन आता है। इन बारह यत्रो मे से अनुक्रम से एक-एक यत्र स्त्री को मोह-मुग्ध बनानेवाला, स्त्री को आकर्षित करनेवाला, शत्रु का प्रतिषेध करनेवाला, परस्पर विद्वेष करनेवाला, शत्रु के कुल का उच्चाटन करनेवाला, शत्रु को पृथ्वी पर कौए की तरह घुमानेवाला, शत्रु का निग्रह करनेवाला, स्त्री को वश में करनेवाला, स्त्री को सौभाग्य प्रदान करनेवाला, क्रोधादि का स्तम्भन करनेवाला और ग्रह आदि से रक्षण करनेवाला है। इसमे कौए के पर तथा मृत प्राणी की हड्डी की कलम के बारे मे भी उल्लेख है।

पाँचवे अधिकार मे अपने इष्ट, वाणी, दिव्य अग्नि, जल, तुला, सर्प, पक्षी, क्रोध, गति, सेना, जीभ एव शत्रु के स्तम्भन का निरूपण है। इसके अतिरिक्त इसमें 'वार्तालि' मत्र तथा कोरण्टक वृक्ष की लेखिनी का उल्लेख है।

छठे अधिकार मे इष्ट स्त्री के आकर्षण के विविध उपाय दिखलाये है।

सातवें अधिकार मे दाहज्वर की शान्ति का, मत्र की साधना का, तीनो लोको के प्राणियो को वश में करने का, मनुष्यो को क्षुब्ध करने का, चोर, शत्रु और हिंसक प्राणियो से निर्भय बनने का, लोगो को असमय में निद्राधीन करने का, विधवाओ को क्षुब्ध करने का, कामदेव के समान बनने का, स्त्री को आकर्षित करने का, उष्ण ज्वर का नाश करने का और वरयक्षिणी को वश मे करने के उपाय बतलाये है। इसमें होम की विधि भी बतलाई गई है और उससे भाई-भाई मे वैरभाव और शत्रु का मरण किस प्रकार हो इसकी रीति भी सूचित की गई है।

आठवे अधिकार मे 'दर्पण-निमित्त' मत्र तथा 'कर्णपिशाचिनी' मत्र को सिद्ध करने की विधि आती है। इसके अलावा अगुष्ठ-निमित्त और दीप-निमित्त तथा सुन्दरी नाम की देवी को सिद्ध करने की विधि भी बतलाई है। सार्वभौम राजा, पर्वत, नदी, ग्रह इत्यादि के नाम से शुभ-अशुभ फल-

---

१ इससे सम्बद्ध रजिका-यत्र का २२ वाँ पद्य साराभाई म नवाब द्वारा सम्पादित आवृत्ति में नही है।

कथन के लिए किस तरह गिनती करनी चाहिए यह भी इसमे कहा गया है। मृत्यु, जय, पराजय एव गर्भिणी को होनेवाले प्रसव के बारे मे भी कई बाते आती हैं।

नवें अधिकार मे मनुष्यो को वश में करने के लिए किन-किन औषधो का उपयोग करके तिलक कैसे तैयार करना, स्त्री को वश मे करने का चूर्ण, उसे मोहित करने का उपाय, राजा को वश मे करने के लिए काजल कैसे तैयार करना, कौन-सी औषधि खिलाने से खानेवाला पिशाच की भाँति बरताव करे, अदृश्य होने की विधि, वीर्य-स्तम्भन एव तुला-स्तम्भन के उपाय, स्त्री में द्राव उत्पन्न करने की विधि, वस्तु के क्रय-विक्रय के लिए क्या करना तथा रजस्वला एव गर्भधारण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए कौन-सी औषधियाँ लेनी चाहिए— इस प्रकार विविध बाते बतलाई गई हैं।

दसवें अधिकार मे निम्नलिखित आठ बातो के वर्णन की प्रतिज्ञा की गई है और उनका निर्वाह भी किया गया है ·

१ साँप द्वारा काटे गये व्यक्ति को कैसे पहचानना। (सग्रह)
२. शरीर के ऊपर मत्र के अक्षर किस तरह लिखना। (अगन्यास)
३. साँप द्वारा काटे गये व्यक्ति का कैसे रक्षण करना। (रक्षा-विधान)
४ दश का आवेग कैसे रोकना। (स्तम्भन-विधान)
५. शरीर मे चढते हुए जहर को कैसे रोकना। (स्तम्भन-विधान)
६ जहर कैसे उतारना। (विषापहार)
७. कपडा आदि आच्छादित करने का कौतुक। (सचोद्य)
८. खडिया मिट्टी से आलिखित साँप के दाँत से कटवाना। (खटिकासर्प-कौतुकविधान)

इस अधिकार में 'भेरण्डविद्या' तथा 'नागाकर्षण' मत्र का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इस अधिकार मे आठ प्रकार के नागो के बारे मे इस प्रकार जानकारी दी गई है

नाम	अनन्त	वासुकि	तक्षक	कर्कोटक	पद्म	महापद्म	शखपाल	कुलिक
कुल ·	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	शूद्र	वैश्य	क्षत्रिय	ब्राह्मण
वर्ण ·	स्फटिक	रक्त	पीत	श्याम	श्याम	पीत	रक्त	स्फटिक
विष	अग्नि	पृथ्वी	वायु	समुद्र	समुद्र	वायु	पृथ्वी	अग्नि

जय और विजय जाति के नाग देवकुल के आशीविषवाले तथा जमीन पर न रहने से उनके विषय मे इतना ही उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमे नाग की फेन, गति एव दृष्टि के स्तम्भन के बारे मे तथा नाग को घडे मे कैसे उतारना, इसके बारे मे भी जानकारी दी गई है।

टीका—इस पर बन्धुषेण का एक विवरण सस्कृत मे है। इसका प्रारम्भ एक श्लोक से होता है, अवशिष्ट समग्र ग्रन्थ गद्य मे है। इसमें कोई-कोई मन्त्र तथा मन्त्रोद्धार भी आता है।

अद्भुतपद्मावतीकल्प

यह श्वेताम्बर उपाध्याय यशोभद्र के चन्द्र नामक शिष्य की रचना[1] है। इसमें कितने अधिकार है, यह निश्चितरूपसे नही कहा जा सकता, किन्तु छपी हुई पुस्तक के अनुसार इसमे कम से कम छ: प्रकरण है। इनमें से प्रथम दो अनुपलब्ध है। सकलीकरण नामक तीसरे प्रकरण मे सत्रह पद्य हैं। देवी-अर्चन के क्रम एवं यन्त्र पर प्रकाश डालनेवाले चौथे प्रकरण मे सडसठ पद्य है। 'पात्रविधिलक्षण' नामक पाँचवें प्रकरण मे सत्रह पद्य है। इनमें से पन्द्रहवाँ पद्य त्रुटित है। इसके पश्चात् गद्य आता है, जिसका कुछ भाग गुजराती मे भी है। 'दोषलक्षण' नामक छठे प्रकरण मे अठारह पद्य हैं। इसके पन्द्रहवें पद्य के अनन्तर बन्ध मन्त्र, माला-मन्त्र इत्यादि विषयक गद्यात्मक भाग आता है। सोलहवें पद्य के पश्चात् भी एक गद्यात्मक मन्त्र है।

रक्तपद्मावती·

यह एक अज्ञातकर्तृक रचना[2] है। इसकी प्रकाशित पुस्तक मे यह नाम नही देखा जाता। इसमें रक्तपद्मावती के पूजन की विधि है। षट्कोणपूजा, षट्कोणान्तरालकर्णिकामध्यभूमिपूजा, पद्माष्टपत्रपूजा, पद्मावती देवी के द्वितीय चक्र का विधान और पद्मावती का आह्वान-स्तव—ऐसे विविध विषय इसमें आते है।

---

१ इस कृति के प्रकरण ३ से ६ श्री साराभाई मणिलाल नवाब ने जो भैरव-पद्मावतीकल्प सन् १९३७ मे प्रकाशित किया है उसके प्रथम परिशिष्ट के रूप में (पृ० १–१४) दिये गये हैं।

२ इस नाम से यह कृति उपर्युक्त भैरवपद्मावतीकल्प के तीसरे परिशिष्ट के रूप मे (पृ० १८ से २०) छपी है।

१ ज्वालिनीकल्प :

इसकी रचना भैरवपद्मावतीकल्प इत्यादि के प्रणेता मल्लिषेण ने की है।

२ ज्वालिनीकल्प

इस नाम की दूसरी तीन कृतियाँ है। इनमे से एक के कर्ता का नाम ज्ञात नही है। दूसरी दो के कर्ता यल्लाचार्य—एलाचार्य एव इन्द्रनन्दी हैं। ये दोनो सम्भवत. एक ही व्यक्ति होगे, ऐसा जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १५१) मे कहा है। इन्द्रनन्दी की कृति को ज्वालामालिनीकल्प, ज्वालिनीमत और ज्वालिनीमतवाद भी कहते है। ५०० श्लोक-परिमाण की इस कृति की रचना इन्होने शक-सवत् ८६१ मे मानखेड मे कृष्णराज के राज्यकाल मे की है[1]। इसके लिए इन्होने एलाचार्य की कृति का आधार लिया है। ये इन्द्रनन्दी वप्पनन्दी के शिष्य थे।

कामचाण्डालिनीकल्प

यह भी उपर्युक्त मल्लिषेण की पाँच अधिकारो मे विभक्त रचना है।

भारतीकल्प अथवा सरस्वतीकल्प .

यह भैरवपद्मावतीकल्प इत्यादि के रचयिता मल्लिषेण की कृति[2] है। इसके प्रथम श्लोक मे 'सरस्वतीकल्प' कहने की प्रतिज्ञा की गई है, जबकि तीसरे में 'भारतीकल्प' की रचना की जाती है, ऐसा कहा है। ७८वें श्लोक में 'भारतीकल्प' जिनसेन के पुत्र मल्लिषेण ने रचा है, ऐसा उल्लेख है।

दूसरे श्लोक मे वाणी का वर्णन करते हुए उसे तीन नेत्रवाली कहा है। चौथे श्लोक मे साधक के लक्षण दिये हैं। श्लोक ५-७ मे सकलीकरण का निरूपण आता है। इस कल्प मे ७८ श्लोक तथा कुछ अश गद्य मे है। इसमें पूजाविधि, शान्तिक-यत्र, वश्य-यत्र, रजिका-द्वादशयत्रोद्धार, सौभाग्यरक्षा, आज्ञाक्रम एव भूमिशुद्धि आदि विषयक मत्र आते है।

---

१ इसके विषय आदि के लिए देखिए—'अनेकान्त' वर्ष १, पृ० ४३० तथा ५५५।

२ यह कृति 'सरस्वतीमत्रकल्प' के नाम से श्री साराभाई नवाब द्वारा प्रकाशित भैरवपद्मावतीकल्प के ११ वे परिशिष्ट के रूप मे (पृ० ६१-८) छपी है।

सरस्वतीकल्प

इस नाम की एक-एक कृति अर्हद्दास और विजयकीर्ति ने लिखी है।

सिद्धयन्त्रचक्रोद्धार

यह वि० स० १४२८ मे रत्नशेखरसूरिरचित सिरिवालकहा से उद्धृत किया हुआ अश है। इसमे सिरिवालकहा की १९६ से २०५ अर्थात् १० गाथाएँ है। इसका मूल विज्जप्पवाय नामक दसवाँ पूर्व है। उपर्युक्त रत्नशेखरसूरि वज्रसेनसूरि या हेमतिलकसूरि के अथवा दोनो के शिष्य थे।

टीका—इसपर चन्द्रकीर्ति ने एक टीका लिखी है।

सिद्धचक्रयन्त्रोद्धार-पूजनविधि

इसका[1] प्रारम्भ २४ पद्यो की 'विधिचतुर्विंशतिका' से किया गया है। मुद्रित पुस्तिका मे प्रारम्भ के १३½ पद्य नही हैं, क्योकि यह पुस्तक जिस हस्तलिखित पोथी से तैयार की गई है, उसमे पहला पन्ना नही था।

इस पहली चौबीसी के पश्चात् 'सिद्धचक्रतपोविधानोद्यापन' नाम की चौबीस पद्यो की एक दूसरी चतुर्विंशतिका है। इसके बाद 'सिद्धचक्राराधनफल' नाम की एक तीसरी चतुर्विंशतिका है। ये तीनो चतुर्विंशतिकाएँ सस्कृत मे है।

इन तीनो चतुर्विंशतिकाओ के उपरान्त इसमे सिद्धचक्र की पूजनविधि भी दी गई है। इसके अनन्तर नौ श्लोको का सस्कृत मे सिद्धचक्रस्तोत्र है। इसी प्रकार इसमे आठ श्लोको का वज्रपंजरस्तोत्र, आठ श्लोको का लब्धिपदगतिमहर्षि-स्तोत्र, क्षीरादि स्नात्रविषयक सस्कृत श्लोक, जलपूजा आदि आठ प्रकार की पूजा के सस्कृत श्लोक, चौदह श्लोको की सस्कृत मे 'सिद्धचक्रयन्त्रविधि'[2] और पन्द्रह पद्यो का जैन महाराष्ट्री मे विरचित 'सिद्धचक्कप्पभावथोत्त' तथा यथास्थान दिक्पाल, नवग्रह, सोलह विद्यादेवी एव यक्ष-यक्षिणी के पूजन के बारे मे उल्लेख है।

---

१ यह कृति 'नेमि-अमृत-खान्ति-निरजन-ग्रन्थमाला' में अहमदाबाद से वि० स० २००८ मे 'सिद्धचक्रमहायन्त्र' के साथ प्रकाशित हुई है।

२ मुद्रित कृति मे इसे 'सिद्धचक्रस्वरूपस्तवन' कहा है।

१. दीपालिकाकल्प :

इस पद्यात्मक कृति[1] की रचना विनयचन्द्रसूरि ने २७८ पद्यो मे की है। ये रत्नसिंहसूरि के शिष्य थे। इन्होने वि० स० १३२५ मे कल्पनिरुक्त की रचना की है। प्रस्तुत कृति का प्रारम्भ महावीरस्वामी और श्रुतदेवता के स्मरण के साथ किया गया है। इसमें मौर्यवंश के चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार, उसके पुत्र अशोकश्री, अशोक के पुत्र कुणाल (अवन्तिनाथ) और कुणाल के पुत्र सम्प्रति— इस प्रकार सम्प्रति के पूर्वजो के विषय में उल्लेख है। आर्य सुहस्तिसूरि जीवत्स्वामिप्रतिमा के वन्दन के लिए उज्जयिनी मे आये थे। एक बार रथयात्रा में इन्हें देखकर सम्प्रति को जातिस्मरणज्ञान हुआ। उसने सूरि से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। उन्होने उसे इन्कार करके धर्माराधन करने को कहा। तब सम्प्रति ने दीपालिका पर्व की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके बारे मे पूछा। इस पर सूरि ने महावीरस्वामी के च्यवन से लेकर निर्वाण तक का वृत्तान्त कहा। इसके अन्त मे पुण्यपाल अपने देखे हुए आठ स्वप्नो का फल पूछता है और महावीरस्वामी ने उसका जो फल-कथन किया उसका निर्देश है। इसके अनन्तर गौतमस्वामी के भावी जीवन के विषय मे पूछने पर उसके उत्तर के रूप मे कई बातें कहकर कल्की राजा का चरित्र और उसके पुत्र दत्त की कथा का उल्लेख है। इसके बाद पाँचवें आरे के अन्तिम भाग का तथा छठे आरे आदि का वर्णन किया है। भावउद्योतरूप महावीरस्वामी का निर्वाण होने पर अठारह राजाओ ने द्रव्यउद्योत किया और वह दीपालिका पर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ, ऐसा यहाँ कहा गया है। नन्दिवर्धन का शोक दूर करने के लिए उनकी बहन सुदर्शना ने उन्हे द्वितीया के दिन भोजन कराया था, इसपर से भ्रातृद्वितीया (भाईदूज) का

---

१. यह छाणी से 'लब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला' की १४ वी मणि के रूप मे सन् १९४५ मे प्रकाशित हुआ है। इसमे कल्की की जन्मकुण्डली इस प्रकार दी गई है :
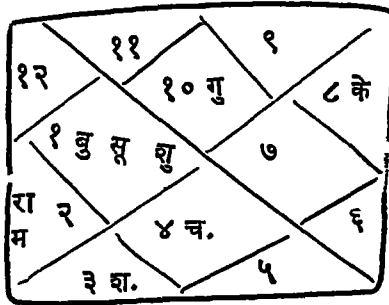
उद्भव हुआ है। यह सुनकर सम्प्रति ने सुहस्तिसूरि से पूछा कि दीपावली मे लोग परस्पर 'जोत्कार' क्यों करते हैं ? इस पर सूरि जी ने विष्णुकुमार के चरित्र का वर्णन करके, नमुचि का उपद्रव विष्णुकुमार के द्वारा शान्त किये जाने के उपलक्ष्य मे लोग भोजन, वस्त्र, आभूषण इत्यादि से यह पर्व मनाते हैं—ऐसा इस कृति मे कहा गया है।

२ दीपालिकाकल्प :

सोमसुन्दर के शिष्य जिनसुन्दर ने इसकी[1] रचना वि० स० १४८३ मे की है। इस पद्यात्मक कृति में ४४७ पद्य हैं। ४४२ वें पद्य मे कहा है कि अन्यकर्तृक दीपालिकाकल्प देखकर इसकी रचना की गई है। इसका विषय विनयचन्द्रसूरि-कृत दीपालिकाकल्प से मिलता-जुलता है, क्योंकि इस कृति मे भी सम्प्रति के पूछने पर आर्य सुहस्तिसूरि उत्तर के रूप में महावीरस्वामी तथा विष्णुकुमार का वृत्तान्त कहते हैं। इस कृति की विशेषता यह है कि इसमे अजैन मान्यता के अनुसार 'कलियुग' का वर्णन आता है तथा कल्की की जन्मकुण्डली रची जा सके, ऐसी बातें दी गई है।

टीकाएँ—इस पर तेजपाल ने वि० स० १५७१ मे एक अवचूरि लिखी है तथा दीपसागर के शिष्य सुखसागर ने वि० स० १७६३ में एक स्तबक लिखा है।

सेत्तुजकप्प (शत्रुजयकल्प) :

जैन महाराष्ट्री के ४० पद्यो में रचित इस कृति के प्रणेता धर्मघोषसूरि कहे जाते है।

टीका—मुनिसुन्दर के शिष्य शुभशील ने वि० स० १५१८ मे इस पर १२, ५०० श्लोक-परिमाण एक वृत्ति लिखी है, जिसे शत्रुंजयकल्पकथा, शत्रुंजय-कल्पकोश तथा शत्रुंजयबृहत्कल्प भी कहते है।

उज्जयन्तकल्प :

यह पादलिप्तसूरि द्वारा विज्जापाहुड से उद्धृत की गई कृति है। इसमे उज्जयन्त अर्थात् गिरिनार गिरि के विषय मे कुछ जानकारी दी गई होगी, ऐसा मालूम होता है।

---

१. यह हीरालाल हसराज ने सन् १९१० में प्रकाशित किया है।

गिरिनारकल्प :

धर्मघोषसूरि ने ३२ पद्यो मे इसकी[1] रचना की है। इसके आद्य पद्य मे उन्होने अपना दीक्षा-समय का नाम तथा अपने गुरुभाई एवं गुरु का नाम श्लेष द्वारा सूचित किया है। इस कल्प के द्वारा उन्होने 'गिरिनार' गिरि की महिमा का वर्णन किया है। ऐसा करते समय उन्होने नेमिनाथ के कल्याणक, कृष्ण एव इन्द्ररचित चैत्य और बिम्ब, अम्बा और शाम्ब की मूर्ति, रतन, याकुडी और सज्जन द्वारा किया गया उद्धार, गिरिनार की गुफाएँ और कुण्ड तथा जयचन्द्र और वस्तुपाल का उल्लेख किया है। अन्त मे पादलिप्तसूरिकृत उपर्युक्त कल्प के आधार पर इस कल्प की रचना की गई है, ऐसा कहा है।

पवज्जाविहाण (प्रव्रज्याविधान) :

इसे प्रव्रज्याकुलक[2] भी कहते है। जैन महाराष्ट्री में रचित इस कुलक की पद्य-सख्या भिन्न-भिन्न देखी जाती है। यह सख्या कम-से-कम २५ की और अधिक-से-अधिक ३४ की है। इसकी रचना परमानन्दसूरि ने की है। ये भद्रेश्वर-सूरि के शिष्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे।[3]

टीकाएँ—प्रद्युम्नसूरि ने वि० स० १३२८ मे इसपर एक ४५०० श्लोक-परिमाणवृत्ति लिखी है। ये देवानन्द के शिष्य कनकप्रभ के शिष्य थे। इन्होने 'समरादित्यसक्षेप' की भी रचना की है। यह वृत्ति अधोलिखित दस द्वारो में विभक्त है

१. नृत्वदुर्लभता, २. बोधिरत्न-दुर्लभता, ३. व्रत-दुर्लभता, ४ प्रव्रज्यास्वरूप, ५ प्रव्रज्याविषय, ६. धर्मफल-दर्शन, ७ व्रतनिर्वाहण, ८ निर्वाहकर्तृश्लाघा, ९ मोहक्षितिरुहोच्छेद और १०. धर्मसर्वस्वदेशना।

इस प्रकार इसमे मनुष्यत्व, बोधि एव व्रत की दुर्लभता, प्रव्रज्या का स्वरूप और उसका विषय, धर्म का फल, व्रत का निर्वाह और वैसा करनेवाले की

---

१ यह कल्प गुजराती अनुवाद के साथ 'भक्तामरस्तोत्रनी पादपूर्तिरूप काव्यसग्रह' (भा० १) के द्वितीय परिशिष्ट के रूप मे सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ है।

२ यह प्रद्युम्नसूरि की वृत्ति के साथ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था की ओर से सन् १९३८ मे प्रकाशित किया गया है।

३ देखिये—जिनरत्नकोश, वि० १, पृ० २७२।

प्रशसा, मोहरूप वृक्ष का उन्मूलन तथा धर्मसर्वस्व की देशना—इन विषयो का वर्णन आता है।

इसकी एक टीका के रचयिता जिनप्रभसूरि है। इसपर एक अज्ञातकर्तृक वृत्ति भी है। इसका प्रारम्भ 'श्रीवीरस्य पदाम्भोज' से हुआ है।

यन्त्रराज :

इसे यन्त्रराजागम तथा सकयन्त्रराजागम[1] भी कहते है। इसकी रचना मदनसूरि के शिष्य महेन्द्रसूरि ने १७८ पद्यो में शक सवत् १२९२ में की है। यह १. गणित, २ यन्त्रघटना, ३ यन्त्ररचना, ४ यन्त्रशोधन और ५ यन्त्रविचारणा इन पांच अध्यायो मे विभक्त है। इसके पहले अध्याय मे ज्या, क्रान्ति, सौम्य, याम्य आदि यन्त्रो का निरूपण है। दूसरे अध्याय में यन्त्र की रचना के विषय मे विचार किया गया है। तीसरे में यन्त्र के प्रकार और साधनो का उल्लेख आता है। चौथे में यन्त्र के शोधन का विषय निरूपित है। पांचवें में ग्रह एव नक्षत्रो के अश, शकु की छाया तथा भौमादि के उदय और अस्त का वर्णन है।[2]

टीका—मलयेन्दुसूरिकृत टीका में विविध कोष्ठक आते हैं।[3]

यन्त्रराजरचनाप्रकार :

यह सवाई जयसिंह की रचना है।

कल्पप्रदीप अथवा विविधतीर्थकल्प :

यह जिनप्रभसूरि की सुप्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कृति है।[4] इसमे ऐतिहासिक एव भौगोलिक सामग्री के अतिरिक्त जैन तीर्थों की उत्पत्ति इत्यादि के विषय में

---

१. यह कृति मलयेन्दुसूरि की टीका के साथ निर्णयसागर मुद्रणालय ने सन् १९३६ में प्रकाशित की है।

२-३ इसका विशेष विवरण जैन सस्कृत साहित्यनो इतिहास (खण्ड १) के उपोद्घात (पृ० ७६-७) में तथा 'यन्त्रराज का रेखादर्शन' नामक लेख मे दिया गया है। यह लेख जैनधर्म प्रकाश (पु० ७५, अक ५-६) में प्रकाशित हुआ है।

४ यह ग्रथ 'विविधतीर्थकल्प' के नाम से सिंघी जैन ग्रन्थमाला मे सन् १९३४ मे प्रकाशित हुआ है। इसे 'तीर्थकल्प' भी कहते है। इसके अन्त में दी गई विशेष नामो की सूची में कई 'यावनी' भाषा के तथा स्थानो के भी शब्द है।

पर्याप्त जानकारी[1] दी गई है। इनमें कई कल्प संस्कृत में हैं तो कई जैन महाराष्ट्री में हैं। कई पद्य में हैं तो कई गद्य में हैं। सभी कल्पों की रचना एक ही स्थान पर और एक ही समय में नहीं हुई। किसी-किसी कल्प में ही रचना-वर्ष का उल्लेख आता है। ग्यारहवाँ वैभारगिरिकल्प वि० सं० १३६४ में रचा गया था, ऐसा निर्देश स्वयं ग्रन्थकार ने किया है। समग्र ग्रन्थ के अन्त में प्राप्त समाप्तिकथन में वि० सं० १३८९ का उल्लेख है। अतः यह ग्रन्थ लगभग वि० सं० १३६४ से १३८९ की समयावधि में रचा गया होगा।

समाप्तिकथन के अनुसार यह ग्रन्थ ३५६० श्लोक-परिमाण है। इसके दूसरे पद्य में प्रश्नोत्तर द्वारा ग्रन्थकार ने अपना नाम सूचित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ६०-६१ कल्प हैं। इनमें से ग्यारह स्तवनरूप हैं, छः कथा-चरित्रात्मक हैं तथा अवशिष्ट में स्थानों का वर्णन आता है। अन्तिम प्रकार के कल्पों में से 'चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रह' नामक ४५ वें कल्प में तो केवल तीर्थों के नाम ही गिनाए गए हैं। गिरिनारगिरि के चार कल्प हैं, जबकि स्तम्भनक-तीर्थ और कन्यानय-महावीरतीर्थ के दो-दो कल्प हैं।[2]

ढीपुरीतीर्थकल्प में वकचूल की कथा आती है। उसके आदिम एवं अन्तिम श्लोक तथा अन्त की दूसरी दो-तीन पंक्तियों के अतिरिक्त सम्पूर्ण कल्प चतुर्विंशति-प्रबन्ध के सोलहवें वकचूलप्रबन्ध के नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस ग्रन्थ में उल्लिखित तीर्थ गुजरात, सौराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मालवा, पंजाब, अवध, बिहार, महाराष्ट्र, विदर्भ, कर्णाटक और तैलंगण में हैं। इनके नाम अकारादि क्रम से निम्नांकित हैं

१ अणहिलपुरस्थित अरिष्टनेमि (प्रा) २६	४ अम्बिकादेवी (प्रा.) ६१
२. अपापापुरी (प्रा) २१	५ अयोध्यानगरी (प्रा) १३
३ ,, ,, (सं) १४	६. अर्बुदाद्रि (सं) ८
	७ अवन्तीदेशस्थ अभिनन्दन (सं) ३२

---

१. इसमें अनुश्रुति को भी स्थान दिया गया है।

२. इसे 'दीपोत्सवकल्प' भी कहते हैं।

---

१ यह धर्मघोषसूरि की कृति है।

२. यह चेल्लणपार्श्वनाथ-विषयक है।

३ यह सोमसूरि की रचना है।

१ चेइयपरिवाडी (चैत्यपरिपाटी)

इसकी रचना जिनप्रभसूरि ने अपभ्रंश में की है।

२ चैत्यपरिपाटी

यह सोमजय के शिष्य सुमतिसुन्दरसूरि की रचना है।

तीर्थमालाप्रकरण

अचलगच्छ के महेन्द्रप्रभसूरि अथवा महेन्द्रसूरि ने यह प्रकरण अपने स्वर्गवास (वि० स० १४४४) से पहले लिखा है। इसमे उन्होने विविध तीर्थों के विषय मे जानकारी प्रस्तुत की है, जैसेकि, आनन्दपुर, तारगा (तारणगिरि), बभनपाड, भडोच, मथुरा (सुपार्श्वनाथ का स्तूप), भिन्नमाल, नाणाग्राम, शत्रुजय, स्तम्भनपुर और सत्यपुर (साचोर)।

१. तित्थमालाथवण (तीर्थमालास्तवन)

इसकी[1] रचना धर्मघोषसूरि के शिष्य महेन्द्रसूरि ने जैन महाराष्ट्री मे १११ पद्यो में की है। उसमे इसका 'प्रतिमास्तुति' नाम से उल्लेख किया है।[2] इसमें जैन तीर्थों के नाम आदि आते है। जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १६०) मे इसके कर्ता का नाम मुनिचन्द्रसूरि[3], टीकाकार का नाम महेन्द्रसिंहसूरि और पद्य-सख्या ११२ दी है, परन्तु यह भ्रान्त प्रतीत होता है।

२ तीर्थमालास्तवन

इस नाम की एक कृति की रचना धर्मघोषसूरि ने भी की है।

●

---

१ यह कृति भीमसी माणेक ने 'विधिपक्षप्रतिक्रमण' नामक ग्रन्थ मे प्रकाशित की है।

२. देखिए—जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पृ० ३९६।

३ इसके स्थान पर चन्द्रसूरि और मुनिसुन्दसूरि के नाम भी जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १६१) में आते है।

अनुक्रमणिका

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ

शब्द	पृष्ठ

ख

शब्द	पृष्ठ
शब्द	पृष्ठ

फ

ब

शब्द पृष्ठ

शब्द पृष्ठ

शब्द पृष्ठ

..हायक ग्रंथों की सूची

अनेकान्त—वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली ६।

अनेकान्तजयपताका—हरिभद्रसूरि—ओरियन्टल इन्स्टिटयूट, बडौदा, सन् १९४०।

आत्ममीमांसा—दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस, सन् १९५३।

आत्मानन्द प्रकाश—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर।

आदिपुराण—पुष्पदन्त—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९३७।

आप्तमीमांसा—समन्तभद्र—वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली, सन् १९६७।

कर्मसिद्धान्तसम्बन्धी साहित्य—हीरालाल रसिकदास कापडिया—मोहनलाल जैन ज्ञानभंडार, गोपीपुरा, सूरत, सन् १९६५।

गणधरवाद—दलसुख मालवणिया—गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, सन् १९५२।

जिनरत्नकोश—हरि दामोदर वेलणकर—भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना, सन् १९४४।

जैन दर्शन—महेन्द्रकुमार जैन—गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, सन् १९५५।

जैनधर्म प्रकाश—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर।

जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास—हीरालाल र० कापडिया—मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बडौदा, सन् १९५६।

जैन सत्यप्रकाश—अहमदाबाद।

जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास—मोहनलाल दलीचंद देसाई—जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, सन् १९३३।

दीघनिकाय—राइस डेविड्स—पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लंदन, १८८९-१९११।

द्रव्यसग्रह—नेमिचन्द्र—आरा, सन् १९१७।
नमस्कार स्वाध्याय—जैन साहित्य विकास-मडल, विले पारले, बम्बई।

न्यायसूत्र—

प्रमेयकमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्र—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४१।

प्राकृत साहित्य का इतिहास—जगदीशचन्द्र जैन—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६१।

बुद्धचरित—धर्मानन्द कोसबी—नवजीवन कार्यालय, अहमदावाद, सन् १९३७।

भगवद्गीता—

योगदर्शन तथा योगविंशिका—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२२।

शास्त्रवार्तासमुच्चय—हरिभद्रसूरि—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२९।

श्रमण—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोघ सस्थान, वाराणसी-५।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

सन्मति-प्रकरण—सिद्धसेन दिवाकर—पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदावाद, सन् १९३२।

समदर्शी आचार्य हरिभद्र—सुखलालजी सघवी, बबई युनिवर्सिटी सन् १९६१।

सर्वदर्शनसग्रह—माधवाचार्य—भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इस्टिटयूट, पूना, सन् १९२४।

स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्र—वीर-सेवा-मन्दिर, सहारनपुर, सन् १९५१।

हरिभद्रसूरि—हीरालाल र० कापडिया—सूरत, सन् १९६३।

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute—Poona

Descriptive Catalogue of the Government Collection of Manuscripts—Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona

History of Indian Literature, Vol II—M. Winternitz—Calcutta, 1933

Jaina Psychology—Mohan Lal Mahta—Sohanlal Jaindharma Pracharak Samiti, Amritsar, 1957.

Journal of the Indian Society of Oriental Arts

Journal of the Italian Asiatic Society

Outlines of Indian Philosophy—P. T. Srinivasa Iyengar—Banaras, 1909.

Outlines of Jaina Philosophy—Mohan Lal Mehta—Jain Mission Society, Bangalore, 1954.

Outlines of Karma in Jainism—Mohan Lal Mehta—Bangalore, 1954

●